आमुख

जब समस्त भारत की राष्ट्रभाषा संस्कृत थी, उस समय उसका नाम 'भारती' था। वह भारत की 'भाषा' या उसकी अन्तरात्मा 'सरस्वती' थीन वह भाषा अपने वाङ्मय या 'सरस्वती' को वहन या धारण करने की इतनी प्रकाम क्षमता रखती थी कि उपासकों ने भाषा और भाव—शरीर और आत्मा—दोनों की एकता मानकर विग्रह में ही देवता की प्रतिष्ठा कर ली।

आज सारे हिन्द की राष्ट्रभाषा हिन्दी है। भारत की भारती और हिन्द की हिन्दी में तात्विक कोई भेद नहीं है। पर आज उसका वह विशुद्ध रूप नहीं है जो उसके स्थानों का था। यद्यपि पिछले दिनों में भी 'भारती' के नैसर्गिक तीन रूप—संस्कृत, प्राकृत, तथा अपभ्रंश— अपने-अपने क्षेत्र में प्रचलित थे, जैसा कि हेमचन्द्र ने—

'भाईरहि जिवँ 'भारइ' मग्गेहि तिहिवि पवट्टइ'

(सिद्धहेमप्राकृ० व्या० ८।४।३४७)

(भागीरथी के समान 'भारती' तीन मार्गों में चलती है।)

यह उक्ति उद्धृत करके इस बात की सूचना की है, तथापि आज जैसा संकर उसमें कभी नहीं था। देश में विविध-भाषा-भाषी विदेशियों के निवेश से उनके साथ वाग्व्यवहार की आवश्यकता ने लेन-देन का ऐसा रास्ता खोल दिया कि अभारतीय एशिया और यूरोप के बहुत से चलतू शब्द उसमें घुस पड़े। बात यहीं तक रहती तो ग़नीमत थी; पर आज तो राजनैतिक खग्रास ने हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी का एक नया झगड़ा खड़ा कर दिया है। राष्ट्रभाषा हिन्दी या हिन्दुस्तानी के संबंध में "गद्यभारती" के संपादकों का वही मत है जिसका प्रतिपादन आचार्य शुक्लजी ने इस पुस्तक में सग्र-

हीत अपने भाषण में किया है । वस्तुतः हिन्द की राष्ट्रभाषा हिन्दी ही है, हिन्दुस्तानी, उर्दू आदि उसके भिन्न-भिन्न शैली में ढले और भिन्न-भिन्न परिस्थिति में पले रूपान्तरमात्र हैं ।

इस संग्रह में यथान्याय राष्ट्रभाषा के सभी रूपों को स्थान दिया गया है । यह सग्रह उन विद्यार्थियों के लिये प्रस्तुत किया गया है जिनको हिन्दी के प्रौढ साहित्य का अध्ययन न करके भी उसकी वर्तमान प्रचलित शैलियों का परिशीलन और अनुकरण करना अभीष्ट है । इस अभीष्ट-सिद्धि के लिए प्रायः देश के भविष्णु नवयुवक अधिकाधिक उत्सुक और प्रयत्नशील हो रहे हैं—यह सौभाग्य की बात है, क्योंकि 'भारत' से अपरिचित भारतीय केवल अभारतीय ही नहीं और कुछ भी है । इसमें गद्य के प्रायः सभी भेदों का सन्निवेश किया गया है । इससे विद्यार्थियों को एकत्र ही सब प्रकार के नमूने मिल जायँगे और विविधता के कारण पढ़ने में विरसता का अनुभव भी न होगा ।

संकलन के समय लक्ष्य था प्रयोजन-सिद्धि; इसलिए दृष्टि कृति के गुणों की ओर ही प्रवृत्त थी, कर्ता की ख्याति की ओर नहीं । अतः इसमें बहुत से अविख्यात लेखकों की कृतियाँ भी आ गई हैं और कई लब्धप्रतिष्ठ लेखक छूट गये है । आशा है, इससे किसी प्रकार की दुर्भावना न उत्पन्न होगी ।

प्रत्येक लेख के अन्त मे जो कुछ समीक्षा का प्रयास है वह अध्यापन की सर्वतोमुखी गुरुता का निदर्शनमात्र है, सधर्मा अध्यापक के लिए मार्गप्रदर्शन की धृष्टता नहीं ।

उद्देश्य न रहने पर भी प्रायः भारत के सभी प्रान्तो के लेखकों की कृतियाँ इस सग्रह में स्वतः सन्निविष्ट हो गई हैं, अतः इसका 'गद्यभारती' नामधेय स्वयमागत है, बलात्कृत नहीं ।

विषय-सूची

गद्यभारती

कलरव

× १ ×

परमात्मा बड़े बड़े साम्राज्यों से विमुख हो जाता है, परन्तु छोटे-छोटे पुष्पों से कभी खिन्न नहीं होता।

× २ ×

अन्याय पराजय नहीं सहन कर सकता; धर्म कर सकता है।

× ३ ×

प्रत्येक बालक यह संदेश लेकर संसार मे आता है कि ईश्वर अभी मनुष्यों से हताश नहीं हुआ।

× ४ ×

जो उपकार जताने का इच्छुक है, वह द्वार खटखटाता है। जिसके हृदय में प्रेम है, उसके लिए द्वार खुले हैं।

× ५ ×

फूल चुनने के लिए ठहरो मत। आगे बढ़े चले चलो, तुम्हारे मार्ग में निरंतर फूल खिलते रहेंगे।

× ६ ×

जड़ें पृथ्वी के नीचे फैली हुई वृक्ष की शाखाएँ हैं। शाखाए आकाश में फैली हुई वृक्ष की जड़ें हैं।

× ७ ×

रात्रि ने सूर्य से कहा—"चंद्रमा द्वारा तुम अपने प्रेम-पत्र मेरे पास भेजते हो। मैं घास पर आँसुओं में अपना उत्तर छोड़ जाती हूँ।"

× ८ ×

महापुरुष जन्म-सिद्ध शिशु है।

जब वह मरता है, तो अपना शिशुत्व संसार को प्रदान कर जाता है।

× ९ ×

हथौड़ी की चोट से नहीं जल-नर्तन के संगीत से, पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े इतना सुन्दर रूप धारण करते हैं।

× १० ×

यदि तुम भूलों को रोकने के लिए द्वार बन्द कर दोगे, तो सत्य भी वाहर रह जायगा।

रोमांचकारी कुश्ती

वेदान्त का प्रथम सूत्र है—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' और संसार के अनेक जीवो का जीवन-सूत्र है—'अथातो युद्धजिज्ञासा'। युद्धजिज्ञासा मानव-धर्म का मूल-मन्त्र न हो; पर साम्राज्यवादी प्रवृत्ति युद्ध-जिज्ञासा-रूपी शराब पर ही ज़ोर मारती है। व्यक्तिगत रूप से भी युद्ध-जिज्ञासा संसार मे चली आई है। जंगल के जीवों में भी कुछ ऐसे बिगड़ैल, लड़ाकू और अनुभव-हीन होते हैं कि, तनक-सी बात पर वे कट मरते है। जीवन उनके लिए खिलवाड़ होता है—मरने या मारने के लिए। साम्राज्यवाद तो इस दुपाये—मनुष्य—की ही करतूत है—दूषित पूँजीवाद की सन्तान।

शहर और आबादियों की युद्धजिज्ञासा, पापलिप्सा और अनुपम त्याग की घटनाएँ हम आँखों देख लेते हैं। और कुछ नहीं होता, तो थियेटर और सिनेमाओ मे सुखान्त और दुःखान्त नाटक देख लेते है, पर जंगल के रंगमंच पर खेले जानेवाले नाटकों को कम ही लोग देख पाते है, और देखकर कितने हैं, जो अपनी कल्पनाशक्ति को जंगल के दृश्यो से पैनी कर सकें—ऐसी पैनी कि वह दिलों को चीर कर पार हो जाय।

जंगल के रोमांचकारी नाटक आबादी से दूर, प्रकृति के प्रांगण मे खेले जाते है, जहाँ पर जंगली जंतुओं का ही बोलबाला होता है। वे रोमांचकारी ऐसी घटनाएँ होती है, जिन्हें देखकर जमा हुआ भी खून एक बार दौड़ने लगता है, हृदय की धड़कन बढ़ जाती है, और तन्मयता तो ऐसी हो जाती है, मानो दर्शक समाधिस्थ हो गया हो।

एक दिन जेम्स इंगलिस नामक एक गोरा अपनी नील की कोठी का निरीक्षण कर रहा था। इतने में उसको खबर लगी कि कोठी से कुछ दूर शेर ने एक गाय मारी है। शीघ्रता से उस ओर जाकर देखा, तो हाल की मारी हुई गाय की लाश मिली—गरम खून से लथपथ। करीब ही शेर के पद-चिह्न भी मिले। बस, फिर क्या था, बैठने का स्थान बनने लगा। एक गड्ढा खोदा गया। चारों ओर से उसे काँटों और लक्कड़ों से सुरक्षित बना कर इंगलिस साहब एक गुमाश्ते के साथ उस गढ़े में घुस गये।

दस बजे रात का समय होगा। अर्धचन्द्र बादलों के क्षीण टुकड़ों से टक्कर लेता हुआ, छिप-छिप कर अपने मार्ग पर जा रहा था। दूर—काफी दूर—पर रात्रि की नीरवता में गंगा की धार अनवरत रूप से जम्हाई-सी लेती सुनाई पड़ती थी। ठंडी हवा का झोंका जैसे ही लम्बी घास से अठखेलियाँ करता निकलता, वैसे ही जान पड़ता, मानो रात्रि देवी के हृदय से एक ठंडी कँपकँपाती-सी आह निकल रही है। यह आह 'साँय-साँय' और 'हुअर-हुअर' करती मैदान की ओर घबराई-सी निकल जाती। पेड़ों की डालियाँ और लताओं की फुनगियाँ भी, खुशामदी मुसाहिबों की भाँति उसी हुअर ध्वनि के साथ हाँ-में-हाँ मिलातीं। सहसा नदी किनारे से चकवा की पुकार 'केऊँ' निस्तब्धता को भंग करती; पर फिर शीघ्र ही नीरवता का राज्य फैल जाता। कुछ देर के लिए जंगल की आत्मा साँस-सी साध लेती। थोड़ी देर बाद उस दृश्य की फिर आवृत्ति होती।

गड्ढे मे बैठे दोनों आदमी सजगता की प्रतिमा बने प्रकृति की छटा देख और महसूस कर रहे थे। वायु के मन्द झकोरों, पेड़ों की शाखाओं की किलोलें, चकवा की केऊ, चन्द्रमा की शराबी की-सी चाल और जंगल की आत्मा की गोचर छटा को देखते और अनुभव करते हुए जब कभी सेही, लोमड़ी अथवा गीदड़ के पैर की आहट

होती, तब शेर की आशंका से उनका हृदय धौंकनी की भाँति चल उठता।

कुछ प्रतीक्षा के उपरान्त गुमाश्ते ने साहब बहादुर का हाथ दबाया और कान में इतने धीरे से कुछ कहा कि साहब बहादुर केवल इतना ही सुन पाये कि दाईं ओर को देखो। उधर जो गोरे ने आँख उठाई, तो रोमांचकारी बिजली-सी शरीर में दौड़ गई। धुँधले क्षितिज पर, रात्रि की लम्बी और भूरी छाया में, एक भीमकाय आकार अस्पष्ट-सा दिखाई पड़ा, जिसको गुमाश्ते ने आसाधारण सूअर बताया। वह ठीक गड्ढे की ओर आ रहा था—धीमी, अलमस्त और निश्शंक चाल से। कभी-कभी आत्मतोष प्रकट करने के लिए थम कर वह 'हुक्ख' करता और अपनी थूथनी से ज़मीन खोदकर जड़ें खाता आता था। उसकी लचीली थूथनी हलके फाले की भाँति ज़मीन को फाड़ती थी।

गोरे ने बन्दूक उठाकर जैसे ही छाती का निशाना साधा, वैसे ही सूअर ने अपना सिर ऊपर उठाया, और उसका आकार स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा। अपार शक्ति और शान का वह प्रतिबिम्ब अकड़ कर खड़ा हो गया। उसी समय अकस्मात् जंगल से गुर्राहट और गर्जना सुनाई पड़ी। बनराज अपने शिकार-पथ पर था। गुमाश्ते ने गोरे की बाँह ज़ोर से दबाई और उसके कान से अपना मुँह लगा कर अतिक्षीण ध्वनि में कहा—"शेर।"

गड्ढे में दोनों आदमियों की स्नायुएँ खिच गईं, उत्सुकता से दिल की धड़कन बढ़ी। शूकरराज चौकन्ना, पर लापरवाई से, खड़ा था। उसके ढंग से प्रतीत होता था कि उसका रोम-रोम कह रहा है—"शेर हो अथवा मल्कुल मौर, 'यहाँ कुम्हड़ बतियाँ कोउ नाहीं'। शेर और शेर का नगड़दादा मेरी कोंपों (tusks) पर......" सिर झुकाकर और क्रोधपूर्ण झटके से उसने भयावना शब्द किया—"हू-हुक्ख।" जंगल से आवाज़ आई—"ऊंगा।" सूअर ने उत्तर दिया वही—"हू-हुक्ख।" देहात

में जैसे एक लठैत किसी को गाली दे और उसका प्रतिद्वन्द्वी गाली में ही उसे उत्तर दे और फिर शीघ्र ही खटाखट लाठी चलने लगे, ठीक वैसे ही शेर के चैलेंज को सूअर ने स्वीकार कर लिया। शेर ने सूअर को भागते न समझ कर और भी कम्पोत्पादक गर्जना की, मानों शेर ने भी चैलेंज की स्वीकृति दे दी हो। तुरन्त ही उस अखाड़े में एक बलशाली पट्ठा शेर कूद पड़ा। वह क्रोध से भन्नाया हुआ था। होठ पीछे खींचे, मूँछे खड़ी किये, दाँतों का प्रदर्शन करते और पूँछ को अपनी बगलो से मारते हुए, गर्दन के बड़े बालों को सतर किये, विजय और युद्ध-जिज्ञासा से शेर दाँवघात करने को आ खड़ा हुआ। यौवन की उन्मत्तता में—नदी की बाढ़ के समान—वह किसी को गिननेवाला न था। सैकड़ों सूअरों को उसने खा डाला था। दो-चार ने हमला भी किया था; पर एक ही थाप मे उसने उनका कचूमर निकाल दिया। यों थोड़ी-बहुत खरोंच और एक-आध घाव सूअर की कॉप के लगे थे; पर वे सब सूअरो की ओर से आत्मरक्षा में लगे थे। उसके गर्जन-तर्जन और गुर्राहट से हिरन और गाय-भैंस घबराकर ढीले हो जाते थे। फिर उसका भब्बराता यौवन ! यौवन की आँधी अनेकों को उखाड़ फेंकती है। यौवन ऐसा नशा है कि उसके सुरूर में कुछ-का-कुछ दिखाई पड़ता है। जवानी मे जवानो के पैर ज़मीन पर ऐसे पड़ते हैं, मानो उनमें 'इलैस्टिक' लगी हो। दुःख, भय और आशंका-रूपी अन्धकार यौवन प्रभात से पलायमान हो जाता है। शेर भी जवानी की धार में बह रहा था। दम तो उसमें बेहद था; पर अनुभव की पूरी घाटी मे होकर वह न गुज़रा था, इसलिए जब वह सूअर से भिड़ने आया, तब वह समझता था कि सूअर उससे डरेगा और अवसर पाकर वह उसे मार गिरायेगा। सूअर ने बचाव के लिये किसी झाड़ी का सहारा लिया होगा।

और सूअर ? सूअर ने शेर की तनक भी परवा न की। उसने 'हू-हुक्ख' की ताल नहीं ठोंकी, वरन् शेर की ओर उसने एक छोटी दौड़-

सी भी लगाई और गर्दन के बाल फुलाकर अपनी पूँछ ज़रा ऊपर को की। सूअर की पूँछ का उठना आक्रमण का सिगनल है। सूअर विकट भट होता है, और एक बार हमले की ठान कर पीछे पीठ नहीं दिखाता। सूअर ने भी समझा कि उस स्थान पर वह पहले से क़ाबिज़ था। शेर का वहाँ आना मदाख़लत बेजा है। इसलिए अपने अधिकार की रक्षा के लिए शेर को सबक सिखाना चाहिए।

मैदान में दोनों लड़ाके जम गये। शेर घात लगाकर कभी छपकता और कभी सूअर के चारों ओर रेंगता-सा चलता कि किसी प्रकार पीछे से उस पर हमला करे। सूअर भी शेर की घात का ख़याल करके पैंतरे बदलता और अपना सिर उसकी ओर ही रखता। दाएँ-बाएँ गोलाकार चक्कर में, शेर और सूअर सम्हले और तने, कुछ देर तक हमले का अवसर देखते रहे। पैंतरों का चक्कर कुछ और संकीर्ण हुआ। गुर्राहट और हू-हुक्ख के ताल दोनों ही पहलवान ठोंक रहे थे। दावघात और ताल-ठुकाई कुछ ही सेकेण्डों के लिए हुई। शेर एक बार लम्बा होकर ज़मीन से मिल-सा गया। पुट्ठों और स्नायुओं को खींच कर उसने अपने कसे-कमाये और फुर्तीले शरीर को एकत्र-सा किया, और जंगल को दहलाने वाले गर्जन के साथ शक्ति का वह पुंज विद्युत् गति से सूअर पर टूट पड़ा। एक मिनट के लिए दोनों की लड़ाई में रोमांचकारी उत्तेजना थी। एक ही तेज़ और कौशलपूर्ण थाप से जो सूअर के जबड़े पर पड़ी थी, बलिष्ठ सूअर लड़खड़ाने लगा। उस थाप के साथ शेर का बोझा तीव्र गति से सूअर के ऊपर गिरा था; पर सम्हल कर सूअर ने 'हू-हुक्ख' की, और क्रोध-पूर्ण जलती हुई आँखों से पैतरा बदल कर उसने अपनी अटूट गर्दन और मज़बूत सिर से तीन चार बार, दाएँ और बाएँ, शेर पर किये।

सूअर के पेंच चार ही होते है, और वे चारों पेंच उसको खूब

रवाँ होते हैं—सीधी टक्कर मारना, दाएँ और वाएँ काँपें घु सेड़ना, और कच-कच करके दाँतों से चवा डालना। अन्तिम पेंच वह प्रायः अपने अन्तिम समय में ही करता है। घायल होकर जब वह आदमी को चबाता है, तो आदमी का वचना कठिन ही है। पैर पकड़ कर चवाता है और ऊपर घुटने और जाँघ तक हड्डियों को कच-कच करता हुआ तोड़ डालता है—झुरकुट कर डालता है। साधारणतया टक्कर मारता हुआ वह भाग जाता है। शिकारी निशाना चूकने पर टक्कर लगाते ही कलमुँडी खाकर गिरता है, और हाथ-पैर झाड़ तथा थोड़ी-वहुत चोट झेल कर बच जाता है। पेंच नम्वर दो और तीन—दाएँ और वाएँ टक्कर मारने के मानी है, पैनी काँपों को शत्रु के शरीर में इंचों गहरी और लम्बी घुसाना। कभी कभी लगातार एक के वाद दूसरे, पहले, दूसरे और तीसरे नम्बर के पेंचों को चला कर वह क़हर ही ढाता है। अब सूअर ने सम्हलकर दूसरे और तीसरे नम्बर के पेंच चलाये, और शेर की बगल में तीन-चार छेद कर दिये। शेर के शरीर से खून के झरने-से झरने लगे।

इस प्रकार पहली कुश्ती बराबर पर छूटी; पर मार अधिक खाई सूअर ने। शेर के प्रहार से सूअर के सिर और गालों पर खाल और मांस के चिथड़े लटक रहे थे, ऊपर सिर की खाल उधड़ कर बुरके की भाँति सूअर की आँखों पर आ पड़ी थी। फलस्वरूप वह अर्ध अन्ध-सा हो गया था; लेकिन सूअर की युद्धप्रवृत्ति और क्रोध की माय घटी न थी, वरन् और भी प्रज्वलित हो गई थी।

शेर साहब पर भी बुरी तरह बीत रही थी। छाती और बगल के छेदों से फ़व्वारे फूट निकले थे। पूँछ की गति उसकी अनिश्चित मनोवृत्ति की द्योतक थी। उससे झलक रहा था, मानो शेर कह रहा हो कि मैं किस बला में आ फँसा?

सूअर क्रोध से भन्ना रहा था। बिगड़ कर और ललकार—'हू-हुक्ख' कर वह शेर पर टूट पड़ा। भगकर उसने पेंच नम्बर एक को चला कर दूसरे, तीसरे और चौथे नम्बर के पेंचों को क्रमानुसार और क्षणों में ही चलाना चाहा; पर फुर्ती की प्रतिमा शेर ने सूअर के प्रथम दाँव को बचाया, और जैसे दोहरी-सी होकर बिल्ली चूहे पर टूट पड़ती है, वैसे ही शेर उछल कर सूअर की गर्दन पर आ गिरा। शीघ्र ही सूअर के अगले पुट्ठों में शेर के कीले घुस गये, और उसके पंजों ने उन्मत्त और कम्पित सूअर को फाड़ना प्रारम्भ किया। भँभोड़ने और फाड़ने से भारी-भरकम सूअर की दुर्दशा होने लगी, ऐसा प्रतीत हुआ कि अपनी उद्दण्डता का फल सूअर को मिल गया। शेर तगड़ा ही नहीं पड़ रहा था, वरन् अपने प्रतिद्वन्द्वी को ठंढा करता हुआ दिखाई देता था। सूअर लड़खड़ा कर आगे को गिरा। मार की चोट से, अथवा दाँव-घात से, सो कहना कठिन है। यह हुई दूसरी कुश्ती, जो बराबर रही; पर शेर ने सूअर की दुर्गति कर डाली।

मगर सूअर के गिरने का फल हुआ शेर का सूअर के सिर पर होकर आगे गिर पड़ना। शेर के आगे गिरते ही सूअर उसकी छाती पर चढ़ बैठा। अपने अगले पैर शेर की छाती पर रख कर तीन चार विकट हमले सूअर ने किये। अपनी पैनी और बड़ी काँपों से उसने शेर की छाती को फाड़ डाला। जैसे कड़ी ज़मीन मे फाला चर्र करता हुआ जाता है, वैसे ही सूअर की तीखी काँपो ने शेर की छाती को जोत-सा डाला। 'आव, घुर्र' करके शेर पंजे और मुँह चलाता था; पर शेर की तोमड़ी बन्द थी, और सूअर का भी नाकों दम था। चोट करके, शेर को छोड़ कर, सूअर लड़खड़ाता और थका हुआ-सा कुछ दूर जा बैठा; पर क्रोध और युद्ध-जिज्ञासा से अब भी वह अपने जबड़े कच-कच करके चला रहा था। क्रोधित शेर हाँफता हुआ एक ओर वहीं पड़ा-पड़ा फूँ-फाँ करके अपना रोष प्रकट

कर रहा था। यह थी तीसरी कुश्ती, जिसमे सूअर तगड़ा पड़ा, पर जोड़ रहा बराबर।

प्राण-वेदना को कम करने के लिए दो आवाजें हुईं—"धाँय-धाँय !" जंगल गूँज गया। चकवा ने कौतूहल से पूछा—"केऊँ" दूसरे तट से चकवी ने उत्तर दिया—"केऊँ ?" जंगल प्रतिध्वनित हुआ—'अ र र र घ र र र ?' और दोनों लड़ाके शान्त हो गये।

—

कुश्ती

यह एक नये ढंग का निबंध है। इसे अंग्रेजीवाले तो स्केच कहेंगे पर हिन्दी मे शिकारी लेख, रेखानिबंध अथवा केवल 'निबंध' ही कह सकते है। इस निबंध मे उस संघर्ष का चित्र है, वह लड़ाकू और अजेय प्रवृत्ति अंकित है जो मानव मात्र का हृदय गुदगुदा देती है—बच्चे बूढ़े, स्त्री-पुरुष सभी उसका स्वाद लेते हैं। प्रकृति और घटना के शब्दचित्र और मनोविज्ञान से इस मृगया-साहित्य मे कुछ और ही बात आ जाती है—न किया शिकार भी आनन्दानुभूति का कारण बन जाता है।

श्रीराम शर्मा इस साहित्य के जन्मदाता और लोकप्रिय लेखक है। स्वर्गीय आलोचक पद्मसिंह शर्मा ने लिखा था—आप प्रसिद्ध और सिद्ध—अचूक निशाना लगानेवाले शिकारी हैं। आपके लेखों का भी निशाना सीधा पाठकों के हृदयो पर जाकर बैठता है। पढ़नेवाला लोट-पोट हो जाता है। अपने ढंग के आप एक ही लेखक हैं।······। ·····। आपकी वर्णन-शैली बड़ी सजीव, भावविश्लेषण मनोविज्ञानसम्मत और भाषा विषय के अनुरूप बड़ी सुघड़ होती है।

वस्तु और शैली दोनो की दाद उन्हे मिल चुकी है, अब कृति में प्रभाव की गंभीरता देखना है? क्या यह तात्कालिक प्रशंसा उसे कालाश्रित कीर्ति दे सकेगी? सच्चा उत्तर तो काल ही देगा पर आलोचक-बुद्धि उसे स्थायी संपत्ति मानती है क्योंकि उसमे उस प्रकृति का चित्र है जो चिरनवीन रहती है।

इस प्रकार निबंध के सभी गुण इस लेख में हैं, पर कुछ दोष खटकते है। पहला दोष है उपदेश और प्रचार की वृत्ति। लेख के आरंभ में ही यह बेतुका उपदेश दर्शन देता है। कलाकार का काम है दृढ़संकल्प होकर चित्र खींचना न कि विकल्प या विचार करना। यह दूसरा काम आलोचक का है। दूसरी खटकने

वाली बात है अथ और इति की कला का अभाव। प्रतिभा स्वयं कला है इसी से इस लेख में आप आदि और अन्त बन गया है। पर पहले के चार प्रघट्टक निकालने पड़ेंगे। यों तो चन्द्रमा के कलंक के समान वे भी रह सकते हैं। पाँचवें और अंतिम प्रघट्टक में जो प्रकृति का वर्णन है वह संपुट मंत्र है। साहित्य के अनुष्ठान मे उतने की ही जरूरत है।

अंतिम बात है तुलना की। ठीक इसी ढंग का दूसरा स्केच है 'अटल नियम'। उसमें सिंह और भैंसे की भिड़न्त है। बड़ा रोमांचक चित्र है, पर आदि और अन्त की दृष्टि से प्रस्तुत लेख ही बीस ठहरता है। दो और लेख हैं जिनमें धड़कन बंद करनेवाला युद्ध होता है। एक का नाम है 'भिड़न्त' और दूसरे का 'यमदूत से साक्षात्।' तुलना में चाहे जो कहा सुना जाय पर हैं सबके सब सजीव और मनोरम। यों तो इस एक चावल को देखकर ही पूरे साहित्य का अनुमान किया जा सकता है पर अधिक लेख पढ़ने से अध्ययन और आल्हाद दोनों का सुख बढ़ेगा। 'शिकार' और 'प्राणों का सौदा' लेखक के दो संग्रह हैं।

काला शैतान

शाम का वक्त था। ढाका जिले में नारायणगंज के पास ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे के एक गाँव में कुछ देहाती नवयुवतियाँ नहाने पानी भरने के लिए जा रही थीं। वे आपस में हँसतीं-बोलतीं, चुहलें करतीं ब्रह्मपुत्र के घाट पर पहुँची। पानी में घुस कर कुछ देर तक तो वे जल-क्रीड़ा करती रहीं और फिर अपने-अपने घड़े भरकर सिर पर रखकर चलने को तैयार हुई। उनमें से एक सुन्दरी-सी युवती कुछ अधिक चपल थी। दूसरों के मना करने पर भी वह कमर तक गहरे पानी में चली गई। वहाँ उसने अपना घड़ा भरकर एक अदा से सिर पर रक्खा और धीरे २ पानी मँझाती हुई किनारे की तरफ बढ़ी। वह दो चार कदम ही बढ़ी होगी कि बड़े जोर से चीख उठी और पानी में गिरकर गायब हो गई। पहले तो साथवालियों को जान पड़ा कि शायद उसका पैर फिसल गया है; किन्तु एक दृष्टि डालते ही उन्हें मालूम हो गया कि कोई बलपूर्वक उस असहाय लड़की को पानी के भीतर खींचे लिये जा रहा है। सारी-की-सारी युवतियाँ अपने अपने घड़े फेंक कर किनारे को भागीं और जोर-जोर चीखने-चिल्लाने लगीं—"दौड़ियो, काला शैतान ले गया!"

नदी के किनारे ही डाक बँगला था, जिसमें सर्वे विभाग के साहब मि० आगस्टस समरविल ठहरे हुए थे। लड़कियों का चीखना-पुकारना सुनकर वे अपनी राइफिल लेकर दौड़े; उधर गाँव के कुछ मर्द और औरतें भी दौड़ पड़ी। उस लड़की के माँ-बाप भी आ गए और ढाढ़े

मारकर रोने लगे। नदी तट की सायंकालीन निस्तब्धता में एक कोहराम-सा मच गया। हर एक काले शैतान को कोस रहा था।

गाँववालों ने मि० समरविल को दो चार शब्दों में बतलाया कि 'काला शैतान' एक विशालकाय मगर है, जो अब तक पचीसों आदमियों को खा चुका है, और जिसके नाम से आसपास कई कोस तक का इलाका दहल उठता है। इस आशा से कि शायद अभागी लड़की की लाश ही मिल जाय, गाँव वाले और मिस्टर समरविल एक घण्टे तक नदी का किनारा खोजते रहे; लेकिन बेकार हुआ।

दूसरे दिन सवेरे आठ-सात देहाती मिस्टर समरविल के पास पहुँचे और उन्होंने काले शैतान के काले कारनामों की दास्तान कह सुनाई। मिस्टर समरविल पुराने शिकारी थे, हिन्दुस्तान के अनेक हिस्सों में अनेक बार मगर का शिकार कर चुके थे, और मगर की चालाकियों और आदतों से बखूबी वाकिफ थे। लेकिन देहातियों की बातें सुनकर उन्हें मालूम हो गया कि ब्रह्मपुत्र का यह 'काला शैतान' धूर्तता में उन सबका गुरु घंटाल है। उसका दस्तूर यह था कि घाट पर आकर नहाते हुए आदमियों मे से किसी एक को हड़प कर जाता था। मगर वह ऐसा चालाक था कि फिर जल्द उसी घाट पर दूसरा हमला न करता था। अगर आज उसने नारायणगंज में शिकार किया, तो हफ्ते भर बाद सुनाई देगा कि उसने दस-पंद्रह मील दूर किसी गाँव में दूसरे आदमी की जान ली। दस पाँच दिन बाद जब नारायणगंज में मामला ठंढा पड़ जायगा और लोगों की सतर्कता ढीली पड़ जायगी, तो वह सहसा फिर प्रकट होकर किसी दूसरे व्यक्ति को चट कर लेगा।

काले शैतान की यह कारवाई महीनो से चल रही थी। लोग इतने भयभीत हो रहे थे कि इक्का-दुक्का आदमी नदी मे धँसने की हिम्मत ही न करता था। वे दस-पाँच मिलकर ही पानी में उतरते, सो भी तब, जब यह निश्चय कर लेते कि आस पास काला शैतान नही देखा गया है।

इस खूनी मगर को मारने के लिए बहुत कोशिशें की गईं लेकिन सब बेसूद। काँटे लगाये गये, लेकिन बेकार साबित हुए; जाल डाले गये, किन्तु काला शैतान उनमें फँसकर भी उन्हें तोड़कर निकल गया। स्थानीय शिकारियों ने उसे मारने की कोशिश की, पर नाकामयाब हुए। पहले तो सरकार ने यह कानून बना रक्खा था कि कोई भी गोरा—चाहे वह खूनी, लुटेरा, बदमाश ही क्यों न हो—बिना लाइसेंस के बंदूक, रिवाल्वर, राइफिल जो चाहे रख सकता था और अच्छे से अच्छे भारतीय को तलवार तक रखने के लिए लाइसेंस लेना पड़ता था। अब यद्यपि गोरों को भी बंदूक का लाइसेंस लेना पड़ता है, लेकिन देहाती तक जानते हैं कि किसी भी गोरे को कहने-भर से ही लाइसेंस मिल जाता है, जब कि देहाती भारतीय को लाइसेंस मिलना अगर असम्भव नहीं, तो बहुत मुश्किल जरूर है। इसीलिए दो-चार स्थानीय शिकारियों के पास जो बंदूकें थीं भी, वे पुराने जमाने की तोड़ेदार या टोपीदार बंदूकें थीं, जिनकी गोलियों का काले शैतान की पीठ पर कोई असर ही नहीं होता था। देहाती जानते थे कि मिस्टर समरविल की बंदूक राइफिल होगी, इसलिए उन्होंने समरविल साहब से इस मर्दुमखोर को मारने की प्रार्थना की।

मि० समरविल ने भी हामी भर ली। उनके पास बहुत अच्छी राइफिल थी। उन्होंने सोचा कि निकेल की एक गोली काले शैतान का काम तमाम कर देगी, मगर बेचारे यह नहीं जानते थे कि इस मगर विशेष ने जो काले शैतान का खिताब पाया था, वह योंही नहीं था। हफ्ते भर तक समरविल साहब अपने काम में बहुत व्यस्त रहे। इस बीच में मगर की भी कोई बात नहीं सुनाई दी। हफ्ते भर बाद मगर की खबर मिली।

जाड़े का मौसम था। कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। इतवार को सुबह नदी के विशाल वक्ष की ओर से बड़ी तेज़ और ठंढी हवा बह

रही थी। ऐसा खराब मौसम ही तो काले शैतान के लिए फिर पुरानी शिकारगाह में प्रकट होने के लिए उपयुक्त था। मिस्टर समरविल डाक बंगले में सो रहे थे। बाहर बहुत से आदमियों की आवाज सुनकर नींद खुल गई, उठकर बाहर देखा, कई देहाती खड़े थे। उन्होंने कहा—"काला शैतान आज फिर दीख पड़ा है। आप चलकर उसे मार दीजिए।"

मिस्टर समरविल को यह सुनकर आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि मगर को ठंढा पानी अच्छा नहीं लगता, इसीलिए जाड़े के दिनों में वे धूप खाने के लिए पानी से निकल-निकल नदी के किनारे की रेती और चरों पर लेटा करते है, और उसी मौसम मे मगर का शिकार होता है। गरमी मे वहुत थोड़े मगर मारे जाते हैं। अतः मिस्टर समरविल राइफिल उठाकर और दस पाँच कारतूस जेब में डाल कर चल दिये।

देहाती एक पतली पगडंडी की राह मिस्टर समरविल को नदी की ओर ले चले। थोड़ी दूर चलकर अगुवा देहाती ने दल के और लोगों को वही रुकने का आदेश दिया और मिस्टर समरविल को वहुत सावधानी से आगे वढ़ने को कहा। नदी के किनारे एक जगह पहुँचकर मिस्टर समरविल ने देखा, सामने कुछ दूरी पर सचमुच काला शैतान रेती पर पड़ा था।

'काला शैतान' दर असल काला शैतान था। वह पूरे अठारह फीट लम्बा था। इतने लम्वे मगर और भी मिलते हैं; लेकिन काले शैतान की विशेषता यह थी कि वह चौड़ा-मोटा भी वहुत था। रेती पर पड़ा हुआ वह ऐसा दीखता था, मानो कोई नाव औंधी पड़ी हो।

समरविल साहव ने सारी स्थिति को अच्छी तरह समझा और यह सोचने लगे कि छिपे-छिपे मगर के नजदीक कैसे पहुँचा जाय। जिस वक्त मगर पेट के वल लेटा रहता है, उस वक्त उसको मारना नामुमकिन-सा होता है। सब से ताकतवर राइफिल की गोली भी उसकी अभेद्य

पीठ पर लगकर उचट जाती है। ऐसी हालत में सिर्फ तभी वह मारा जा सकता है, जब गोली उसकी गर्दन पर पड़े, इसीलिये सभी शिकारी गर्दन का निशाना लेने की ही कोशिश करते हैं।

जब मि० समरविल उसके नजदीक पहुँचने के लिए आगे बढ़े, तो उन्हें मालूम हुआ कि काले शैतान ने लेटने के लिए जगह चुनने में कैसी चालाकी से काम लिया है। उसके तीन तरफ लगभग १०० गज तक एकदम खुली रेती थी—आड़ की या छिपने की कोई जगह ही न थी। प्रत्यक्ष हो गया कि छिपकर मगर के नजदीक पहुँच सकना नामुमकिन है, और सौ गज की दूरी से गर्दन का निशाना मारने में सफलता की कोई आशा नहीं। गोली की जद के भीतर पहुँचने की एक ही तरकीब थी, वह यह कि नदी की राह मगर की पुश्त की तरफ़ से पहुँचा जाय, समरविल साहब ने वही किया।

दूसरी राह से घूमकर वे नदी के चढ़ाव की कोई आध मील दूर गए। वहाँ नाव पर दो आदमियों के साथ सवार हुए। नाव पेड़-पत्तों से ऐसी ढँक दी गई, जिससे मालूम हो कि कोई पेड़ बहा आ रहा है। नाव धीरे-धीरे धार के साथ मगर की ओर बहने लगी।

लेकिन काला शैतान इतनी आसानी से पकड़ में आनेवाला नहीं था। वह चुपचाप लेटा हुआ बहते हुए पेड़-पत्तोंवाली नाव को देखता रहा। जैसे ही नाव बंदूक की जद में पहुँचनेवाली थी, वैसे ही वह छप से पानी में कूद कर गायब हो गया।

अब सब बेकार था। समरविल साहब ने किनारे की तरफ नाव खेने का हुक्म दिया। नाव मुश्किल से पाँच-सात गज आगे बढ़ी थी कि वह बुरी तरह हिलने डोलने लगी। उसका अगला हिस्सा अचानक बहुत ऊँचा उठ गया। पहले तो साहब और उनके साथियों की समझ में न आया कि मामला क्या है। हवा भी बहुत जोर की नहीं है, लहरे भी बहुत बड़ी नहीं हैं, लेकिन क्षण-भर बाद ही असली कारण जान कर

२

नौकारोहियों को मानो लकवा मार गया। काला शतान नाव के नीचे से नाव को उलट देने की कोशिश कर रहा था।

डर के मारे तीनों के तीनों पत्थर हो गये। साँस भी वंद होती-सी मालूम होती थी। नाव के नीचे से मगर की चकत्तेदार पीठ दीखने लगी। नाव का एक हिस्सा वरावर ऊपर उठता जा रहा था। वे चंद सेकेण्ड घंटों से जान पड़े। एकाएक समरविल साहव ने अमानुपीय हिम्मत करके राइफिल उठाई और जैसे ही मगर का खौफनाक खुला हुआ थूथन पानी के वाहर निकला, वैसे ही अन्धाधुन्ध गोली दाग दी। मालूम हुआ कि गोली ने कुछ असर जरूर किया, क्योंकि दूसरे ही क्षण काला शैतान पानी मे गड़ाप हो गया। ऊपर उठी हुई नाव एक धमाके के साथ पानी में इस जोर से गिरी कि औंधी हो गई और तीनों सवार पानी मे डुवकियाँ खाने लगे।

इत्तफाक से उस जगह पानी गहरा नहीं था। तीनों के तीनों जान लेकर किनारे की ओर भागे। विचारों को हर कदम पर यही मालूम होता था कि अव पीछे से शैतान ने पकड़ा, अव पकड़ा। खैर, वे सही सलामत किनारे पर पहुँच गये। समरविल साहव को काले शैतान से इस तरह छकने पर वड़ी लज्जा आई। उन्होंनें प्रतिज्ञा की कि चाहे जो हो, इस शैतान को मारे विना न छोड़ूँगा।

अव साहव और मगर में एक तरह से लुका चोरी का खेल आरम्भ हो गया। साहव दिन-रात काले शैतान की खोज में घूमते। शैतान भी कभी कभी दीख जाता था, लेकिन ऐसे ढंग से कि समरविल को कभी गोली चलाने का मौका ही न मिलता था। सुवह जैसे ही मगर पानी से निकल कर धूप लेने के लिए रेती पर आये वैसे ही गोली चलायें, इस आशा से साहव गड्ढे खोद कर रात-रात भर कीचड़-काँदा में पड़े पड़े ठिठुरते, परन्तु कभी सफलता न मिलती। उस पर तुर्रा यह कि शैतान नियमित रूप से आदमियों का शिकार करता रहा, जिसके

मानी यह हुए कि उसे समरविल साहब की रत्ती-भर चिन्ता न थी। इस प्रकार एक महीने से ऊपर हो गया, पर मगर हाथ न चढ़ा।

मगर का पीछा करते-करते समरविल साहब नारायणगंज से तीस मील दक्षिण एक गाँव में आ पहुँचे थे। काले शैतान ने आखिरी आदमी इसी गाँव में खाया था। साहब रात-भर नदी के किनारे एक घने पेड़ पर छिप कर बैठे रहे कि शायद मगर बाहर निकले। मगर वहीं आसपास मौजूद था, क्योंकि रात में दो बार साहब ने उसकी आवाज सुनी थी; लेकिन वह दिखाई नहीं दिया।

सबेरे साहब पेड़ से उतरे। रात-भर सर्दी और ओस में सिकुड़े बैठे-बैठे उनके अंग-अंग अकड़ गये थे। सारा बदन दर्द कर रहा था। अब उन्होंने हार मान ली। सोचा, कब तक इस तरह वक्त खराब करूँ। इस शैतान से पार पाना मुश्किल है।

मि० समरविल पेड़ के नीचे खड़े होकर हाथ-पैर सीधे कर रहे थे और काले शैतान को कोस रहे थे। इतने में पीछे से एक आवाज़ सुनाई दी। सिर फेर कर देखा, तो एक मुसलमान बुढ़िया खड़ी थी। बुढ़ापे के मारे उसकी कमर झुक रही थी। वह समरविल साहब को देखकर मुसकराने लगी।

उसने पोपले मुँह से हँसते हुए कहा—"साहब यह मगर मामूली मगर नहीं है। यह शैतान है, शैतान!"

हाँ, भाई!—साहब ने तिनककर कहा—"वह जरूर शैटान है, वरना हम उसको मार डिया होटा।"

बुढ़िया ने क्षण-भर साहब की तरफ घूरकर देखा, और फिर मुस-कराकर बोली—"अच्छा बेटा, मेरे साथ आओ। तुमने अपनी चालाकी और ताक़त दिखा ली; अब ज़रा मेरे बुढ़ापे की करामात भी देखो।"

यह कहकर बुढ़िया एक पगडंडी पर आगे आगे चलने लगी। बुढ़िया की शक्ल और बातचीत मे कुछ ऐसा आकर्षण और आत्मविश्वास-

सा था कि मि० समरविल चुपचाप उसके पीछे हो लिये। चलते चलते दोनों एक झोंपड़ी के सामने पहुँचे, जो ठीक जंगल के छोर से मिली हुई थी। झोंपड़ी के दरवाजे पर मि० समरविल को बिठला कर बुढ़िया भीतर घुस गई। भीतर कुछ देर तक खटपट-सी सुनाई दी। उसके बाद ही बुढ़िया पीतल के लोटे में दूध भरकर बाहर निकली। उसे साहब को पीने के लिये देकर उसने ज़ोर-ज़ोर से कई आवाजें दीं। आवाज़ सुनकर एक दुबला-पतला लड़का आ मौजूद हुआ और आश्चर्य से मुँह बाये साहब की तरफ घूर घूर कर देखने लगा।

बुढ़िया ने कहा—"पागल कहीं का! मुँह बाये क्या देखता है? ले, साहब से तीन रुपये ले ले और गाँव चला जा। सोनार बाई के पास दो पाठे (बकरी के बच्चे) बिक्री को है; जाकर उन्हें फौरन ले आ।"

बिना कुछ पूछे-बताये साहब ने चुपके से तीन रुपये निकाल लड़के के हवाले किये और वह भागता हुआ पगडंडी पर गायब हो गया। साहब ने बुढ़िया से पूछा—"बकरी के बच्चों का क्या होगा? तुम क्या करना चाहती हो?"

"साहब, तुम चुपचाप बैठे बैठे देखते जाओ, अभी मालूम हो जायगा कि मैं क्या करती हूँ।" इसके सिवा बुढ़िया ने और कुछ बतलाने से इनकार कर दिया। मजबूर होकर साहब चुपचाप बैठे रहे। आध घंटे बाद लड़का बकरी के बच्चे लेकर आ गया। बच्चे करीब तीन महीने के होंगे। बुढ़िया ने एक बच्चे को पेड़ से बाँध दिया और लड़के से छुरी मँगाकर दूसरे को ऐसी सफाई से हलाल कर दिया, जिससे मालूम होता था कि बुढ़िया इस काम में पुरानी अभ्यस्त है। उसने बकरी के बच्चे को इस तरह हलाल किया था कि उसका सिर धड़ में ज्यों-का-त्यों लगा रहे। उसने उसका पेट चाक करके भीतर की

आँतें-वाँतें निकाल कर फेंक दीं और लाश को धो-पोंछकर साफ किया। वह फिर झोंपड़ी में गई और वहाँ से डलिया भर फूँका हुआ चूना ले आई। उसने मरी हुई बकरी के पेट में ठूँस ठूँसकर चूना भरा और फिर टाँके लगा कर सी दिया। अब वह एक खूब मोटा ताज़ा बच्चा दीखने लगा।

अब बूढ़ी उठ खड़ी हुई। उसने मरे हुए बच्चे को अपनी गोद में लेकर नदी की तरफ रवाना हुई। नदी किनारे पहुँच कर बुढ़िया ने साहब को पेड़ों के एक झुरमुट में छिपकर बैठने को कहा और जिन्दा बच्चे को ज़मीन पर उतार दिया। मुर्दा बच्चे को अपनी चादर में छिपाकर बुढ़िया नदी के किनारे चलने लगी। जिन्दा बच्चा छूटकर बुरी तरह मिमियाता हुआ बुढ़िया के पीछे पीछे चलने लगा।

कुछ देर तक बुढ़िया नदी के किनारे इधर से उधर, उधर से इधर बहती हुई लकड़ियाँ और घोंघे इकट्ठे करती हुई फिरती रही और जिन्दा बच्चा उसके दामन के पीछे-पीछे मिमियाता घूमता रहा। आखिरकार मानो अपने काम से थक कर बुढ़िया ने जीवित बच्चे को पानी से जरा सी दूर एक पेड़ से बाँध दिया और खुद थोड़ी दूर पर अलग बैठकर सुस्ताने ऊँघने लगी।

इस प्रकार कोई एक घंटा बीत गया। बकरी का बच्चा भागने में अपने को असमर्थ पाकर बार-बार रस्सी को खींचता और प्रतिवाद-स्वरूप जोर-जोर से चिल्लाता था। बुढ़िया बैठी-बैठी ऊँघती जान पड़ती थी और कुछ दूरी पर पेड़ों के झुरमुट में समरविल साहब आँख गड़ाए, कान खड़े किये, चौकन्ने से नदी की ओर देख रहे थे।

नदी के पानी में कुछ बुलबुले उठते दीख पड़े। फिर किनारे पर छोटी छोटी लहरें उठने लगीं। लहरे धीरे धीरे बड़ी होने लगीं, यहाँ तक कि पानी के भीतर से शैतान का विशाल काला शरीर निकला और

बिना शब्द किए धीरे धीरे बकरी के बच्चे की ओर बढ़ने लगा। बकरी का बच्चा भी अब भयभीत हो रहा था। उसी क्षण बुढ़िया मानो जाग उठी और गला फाड़ फाड़ कर चिल्लाती हुई, हाथ की लकड़ी फटकारती, किनारे की तरफ दौड़ी। पलक मारते ही काला शैतान पानी में गायब हो गया और फिर चारों तरफ सन्नाटा छा गया। क्षण भर के लिए बुढ़िया बकरी के बच्चे के ऊपर झुकी और बड़ी फुर्ती और सफाई से उसने जीवित बच्चे के मुर्दा बच्चे से बदल दिया। फिर अपनी पुरानी जगह लौटकर वह ऊँघने लगी।

मिमियाना फिर शुरू हुआ। जान पड़ता था कि जीवित बच्चे को अपनी चादर में लपेट कर बुढ़िया ऊँघते हुए भी रह रह कर उसके बकोटे काटती थी, जिससे वह बेचारा मिमियाता था। कुछ देर बाद मगर फिर किनारे पर प्रकट हुआ। इस बार वह कुछ देर तक गौर से बुढ़िया को देखता रहा। जब उसे विश्वास हो गया कि बुढ़िया सो रही है, तो यह धीरे से पानी से निकला और एक ही झपट्टे में मुर्दा बच्चे को दबोच कर एक-दो बार मुँह चबलाकर निगल गया और दूसरे ही क्षण पानी में जा कूदा।

बड़ी फुर्ती से बुढ़िया उठ खड़ी हुई। उसने समरविल साहब को पुकारा। दोनों के दोनों नदी किनारे जा खड़े हुए और पानी को देखने लगे। कुछ देर तक एकदम सन्नाटा रहा। उसके बाद पेड़ के तने जैसा एक विशाल आकार पानी की सतह पर निकला और तेज़ी से इधर से उधर तैरने लगा। उसके तैरने से बेचैनी-सी जान पड़ती थी। जैसे जैसे क्षण बीतने लगे, उसकी बेचैनी और बेकली बढ़ने लगी। अब वह मुँह-बाये नदी में ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर बुरी तरह भागता फिरता था और रह रहकर जोर से दाँत बजाता था। इस बीच में किनारे पर गाँववालों की भीड़ जमा हो गई। कुछ देर मे उसे पानी मे रहना असम्भव-सा जान पड़ने लगा और वह किनारे की ओर

दौड़ा। किनारे पर आते ही एकत्रित भीड़ ने पत्थरों की वर्षा शुरू कर दी।

मजबूर होकर मगर फिर पानी को लौटा और क्रोध और बेचैनी से अपनी विशाल पूँछ फटकारता हुआ तेजी से चक्कर काटने लगा। दो-चार मिनट बाद वह फिर किनारे पर चढ़ा। इस बार उसने भीड़ के हल्ले-गुल्ले और पत्थरों की परवा न की। वह तट पर आकर हाँफता हुआ लेट रहा। उसके खुले हुए जबड़े से फेना और खून बह रहा था और वह बेचैनी से छटपटा रहा था।

साहब को उसकी छटपटाहट पर दया आई। उन्होंने उस लड़के को जो बकरी के बच्चे लाया था, अपनी राइफिल लाने के लिए दौड़ाया।

बुढ़िया ने कहा—"साहब, उसे छटपटाने दीजिये। उसने भी तो सैकड़ों आदमियों को इससे ज्यादा छटपटाया है।"

बुढ़िया का कहना ठीक था, फिर भी उसकी छटपटाहट देखी नहीं जाती थी। समरविल साहब ने मगर के नजदीक जाकर उसकी गरदन मे गोली मारकर उसकी छटपटाहट का अन्त कर दिया।

इस प्रकार काले शैतान का खात्मा हुआ। जिस मगर को भारतीय और गोरे शिकारी सैकड़ों कोशिशे करके भी न मार सके, उसे बुढ़िया की तदबीर ने एक ही दाँव में खत्म कर दिया। मगर ने जैसे ही बकरी के मुर्दा बच्चे को निगला वैसे ही दबाव पाकर बच्चे के पेट में लगे हुए कमजोर टाँके टूट गये और उसके पेट मे भरा हुआ सारे का सारा बिना बुझा चूना मगर के पेट में पहुँच गया। पानी पड़ते ही बिना बुझा चूना गर्म होकर उबलने लगता है। मगर के पेट में आग लग गई।

उसे बुझाने के लिए मगर जितना ही पानी पीता गया, पेट के भीतर का उबाल उतना ही जोर पकड़ता गया।

खाल उतारते वक्त जब मगर का पेट चीरा गया, तो उसके भीतर ८६ चूड़ियाँ, अनेकों अँगूठियाँ और बिछिये तथा एक थर्मस बोतल निकली। *

---

* 'वाइड वर्ल्ड' में मि० समरविल के लिखे हुए वृत्तान्त के आधार पर।

काला शैतान

कोई अद्भुत घटना इतिवृत्त निवेदक के हाथ में पड़कर पत्र का समाचार बन जाती है और प्रतिभाशाली लेखक के हाथ में कलामय कहानी। यह मगर के अनोखे शिकार का वर्णन कुछ मूललेखक की और कुछ से अधिक रूपान्तरकार की करामात से अच्छी खासी कहानी बन गया है। कहानी का नायक काला शैतान अपनी उदर ज्वाला शान्त करने के लिए यदि किसी भारी मछली, भैंस या बहुत से बहुत किसी काली कलूटी बुढ़िया को पकड़ लेता तो हम उसकी इस काली करतूत पर चश्मपोशी का परदा डाल उसके स्वतन्त्र जीवन नाटक को दुःखान्त ही मानते पर उस क्रूर दानव ने सुन्दरी युवती को, चञ्चल कुमारी को, भावी सुख संसार में श्रद्धा के साथ प्रवेश करने से रोक दिया इससे उसका अन्त सुखान्त ही समझा जायगा। आरम्भ के दो प्रघट्टकों में कही हुई यह नन्हीं सी कहानी वस्तुतः बहुत मार्मिक है। आगे शिकार का वर्णन बहुत सजीव अतएव मनोरञ्जक है। कथा-कौतुक अन्त तक शिथिल नहीं होने पाता। बुढ़िया का कौशल अनूठा होने पर भी असम्भव नहीं जान पड़ता। भाषा वर्णन के अनुसार सहज सीधी निपट सरल है पर लद्धड़ नहीं खूब चलती हुई। स्वर्गीय व्रजमोहन वर्मा के कलम से निकलना ही उसकी अच्छाई का सबूत है।

ग़बन

महाशय दयानाथ जितनी उमंगों से ब्याह करने गए थे, उतना ही हतोत्साह होकर लौटे। दीनदयाल ने खूब दिया, लेकिन वहाँ से जो कुछ मिला, वह सब नाच-तमाशे नेग-चार में खर्च हो गया। बार-बार अपनी भूल पर पछताते, क्यों दिखावे और तमाशे में इतने रुपये खर्च किए। इसकी ज़रूरत ही क्या थी, ज्यादा-से-ज्यादा लोग यही तो कहते—महाशय बड़े कृपण हैं। उतना सुन लेने में क्या हानि थी। मैंने गाँववालों को तमाशा दिखाने का ठीका तो नहीं लिया था। यह सब रमा का साहस है। उसी ने सारे खर्च बढ़ा-बढ़ाकर मेरा दिवाला निकाल दिया। और सब तकाजे तो दस-पाँच दिन टल भी सकते थे, पर सर्राफ़ किसी तरह न मानता था। शादी के सातवें दिन उसे एक हज़ार रुपये देने का वादा किया था। सातवें दिन सर्राफ़ आया, मगर यहाँ रुपए कहाँ थे। दयानाथ मे लल्लो-चप्पो की आदत न थी, मगर आज

उन्होंने उसे चकमा देने की कोशिश की। किस्त बाँधकर सब रुपये छः महीने में अदा कर देने का वादा किया और कहा कि फिर तीन महीने पर आए। मगर सर्राफ़ भी एक ही घुटा हुआ आदमी था, उसी वक्त टला, जब दयानाथ ने तीसरे दिन बाकी रक़म की चीजें लौटा देने का वादा किया और यह भी उसकी सज्जनता ही थी। वह तीसरा दिन भी आ गया और अब दयानाथ को अपनी लाज रखने का कोई उपाय न सूझता था। कोई चलता हुआ आदमी शायद इतना व्यग्र न होता, हीले-हवाले करके महाजन को महीनों टालता रहता, लेकिन दयानाथ इस मामले में अनाड़ी थे।

जागेश्वरी ने आकर कहा—भोजन कब से बना ठंडा हो रहा है। खाकर तब बैठो।

दयानाथ ने इस तरह गर्दन उठाई, मानों सिर पर सैकड़ों मन का बोझ लदा हुआ है। बोले—तुम लोग जाकर खा लो, मुझे भूख नहीं है।

जागेश्वरी—भूख क्यों नहीं है, रात में भी तो कुछ नही खाया था? इस तरह दाना-पानी छोड़ देने से महाजन के रुपये थोड़े ही अदा हो जाएँगे?

दयानाथ—मैं सोचता हूँ, उसे आज क्या जवाब दूँगा। मैं तो यह विवाह करके बुरा फँस गया। बहू कुछ गहने लौटा तो देगी?

जागेश्वरी—बहू का हाल तो सुन चुके, फिर भी उससे ऐसी आशा रखते हो। उसकी टेक है कि जब तक चन्द्रहार न बन जायगा, कोई गहना ही न पहनूँगी। सारे गहने सन्दूक में बन्द कर रक्खे हैं। बस वही एक बिल्लौरी हार गले में डाले हुए है। बहुएँ बहुत देखी; पर ऐसी बहू न देखी थी। फिर, कितना बुरा मालूम होता है कि कल की आई बहू, उससे गहने छीन लिए जायँ।

दयानाथ ने चिढ़कर कहा—तुम तो जले पर नमक छिड़कती हो, बुरा मालूम होता है, तो लाओ एक हज़ार निकाल कर दे दो, महाजन

को दे आऊँ, देती हो? बुरा मुझे खुद मालूम होता है; लेकिन उपाय क्या है? गला कैसे छूटेगा?

जागेश्वरी—बेटे का ब्याह किया है कि ठट्ठा है? शादी-ब्याह में सभी लेते हैं, तुमने कोई नई बात नहीं की। खाने-पहनने के लिए कौन कर्ज़ लेता है। धर्मात्मा बनने का कुछ फल मिलना चाहिए या नहीं? तुम्हारे ही दर्जे पर सत्यदेव हैं, पक्का मकान खड़ा कर दिया, जमींदारी ख़रीद ली, बेटी के ब्याह में कुछ नहीं तो पाँच हज़ार तो ख़र्च किए ही होंगे।

दयानाथ—अभी दोनों लड़के भी तो चल दिए!

जागेश्वरी—मरना-जीना तो संसार की गति है, लेते हैं वह भी मरते हैं, नहीं लेते वह भी मरते हैं। अगर तुम चाहो, तो छः महीने में सब रुपए चुका सकते हो।

दयानाथ ने त्योरी चढ़ाकर कहा—जो बात ज़िन्दगी-भर नहीं की, वह अब आख़िरी वक्त नहीं कर सकता। बहू से साफ-साफ कह दो, उससे परदा रखने की ज़रूरत ही क्या है और पर्दा रह ही के दिन सकता है। आज नही तो कल उसे सारा हाल मालूम ही हो जायगा। बस तीन-चार चीज़ें लौटा दे, तो काम बन जाय। तुम उससे एक बार कहो तो।

जागेश्वरी झुँझलाकर बोली—उससे तुम्हीं कहो, मुझसे तो न कहा जायगा।

सहसा रमानाथ टैनिस-रैकिट लिए बाहर से आया, सफेद टैनिस शर्ट था, सफ़ेद पतलून, केनवस का जूता, गोरे रंग और सुन्दर मुखाकृति पर इस पहनावे ने रईसों की शान पैदा कर दी थी। रूमाल में बेले के गजरे लिए हुए था। उससे सुगन्धि उड़ रही थी। माता-पिता की आँखें बचाकर वह ज़ीने पर जाना चाहता था, कि जागेश्वरी ने टोका, इन्हीं के तो सब काँटे बोए हुए हैं, इनसे क्यों नहीं सलाह लेते?

(रमा से) तुमने नाच-तमाशे में बारह-तेरह सौ रुपए उड़ा दिए, बतलाओ सर्राफ़ को क्या जवाब दिया जाय? बड़ी मुश्किलों से कुछ गहने लौटाने पर राज़ी हुआ; मगर बहू से गहने माँगे कौन? यह सब तुम्हारी ही करतूत है।

रमानाथ ने इस आक्षेप को अपने ऊपर से हटाते हुए कहा—मैंने क्या खर्च किया? जो कुछ किया बाबूजी ने किया। हाँ, जो कुछ मुझसे कहा गया, वह मैंने किया।

रमानाथ के कथन में बहुत कुछ सत्य था। यदि दयानाथ की इच्छा न होती, तो रमा क्या कर सकता था? जो कुछ हुआ, उनकी अनुमति से हुआ। रमानाथ पर इल्ज़ाम रखने से तो कोई समस्या हल न हो सकती थी। बोले—मैं तुम्हें इल्ज़ाम नहीं देता भाई। किया तो मैंने ही; मगर यह बला तो किसी तरह सिर से टालनी चाहिए। सर्राफ़ का तक़ाज़ा है। कल उसका आदमी आवेगा। उसे क्या जवाब दिया जायगा? मेरी समझ में तो यही एक उपाय है कि उतने रुपए के गहने उसे लौटा दिए जायँ। गहने लौटा देने में भी यह झंझट करेगा, लेकिन दस-बीस रुपए के लोभ में लौटाने पर राज़ी हो जायगा। तुम्हारी क्या सलाह है?

रमानाथ ने शरमाते हुए कहा—मै इस विषय में क्या सलाह दे सकता हूँ, मगर मै इतना कह सकता हूँ कि इस प्रस्ताव को वह खुशी से मंजूर न करेगी। अम्मा तो जानती हैं कि चढ़ावे में चन्द्रहार न जाने से उसे कितना बुरा लगा था। प्रण कर लिया है, जब तक चन्द्रहार न बन आयगा, कोई गहना न पहनूँगी।

जागेश्वरी ने अपने पक्ष का समर्थन होते देख, खुश होकर कहा—यही तो मैं इनसे कह रही हूँ।

रमा—रोना-धोना मच जायगा और इसके साथ घर का पर्दा भी खुल जायगा।

दयानाथ ने माथा सिकोड़ कर कहा—उससे परदा रखने की ज़रूरत ही क्या। अपनी यथार्थ स्थिति को वह जितनी ही जल्दी समझ ले उतना ही अच्छा।

रमानाथ ने जवानों के स्वभाव के अनुसार जालपा से खूब डींट उड़ाई थी। खूब बढ़-बढ़कर बातें की थीं। ज़मींदारी है, उससे कई हज़ार का नफा है। बैंक में रुपये है, उसका सूद आता है। जालपा से अब अगर गहने की बात कही गई, तो रमानाथ को वह पूरा लबाड़िया समझेगी। बोला—पर्दा तो एक दिन खुल ही जायगा, पर इतनी जल्द खोल देने का नतीजा यही होगा कि वह हमें नीच समझने लगेगी। शायद अपने घरवालों को भी लिख भेजे। चारों तरफ़ बदनामी होगी।

दयानाथ—हमने तो दीनदयाल से यह कभी न कहा था कि हम लखपती हैं ?

रमा०—तो आपने यही कब कहा था कि हम उधार गहने लाये हैं और दो-चार दिन में लौटा देंगे। आखिर यह सारा स्वाँग अपनी धाक बैठाने के लिए ही किया था या कुछ और ?

दया०—तो फिर किसी दूसरे बहाने से माँगना पड़ेगा। बिना माँगे काम नहीं चल सकता। कल या तो रुपए देने पड़ेंगे, या गहने लौटाने पड़ेंगे। और कोई राह नहीं।

रमानाथ ने कोई जवाब न दिया। जागेश्वरी बोली—और कौन-सा बहाना किया जायगा ? अगर कहा जाय, किसी को मँगनी देना है, तो शायद वह देगी नहीं। देगी भी तो दो-चार दिन में लौटायेंगे कैसे ?

दयानाथ को एक उपाय सूझा। बोले—अगर उन गहनों के बदले मुलम्मे के गहने दे दिए जाय ? मगर तुरन्त ही उन्हें ज्ञात हो गया कि यह लचर बात है, खुद ही उसका विरोध करते हुए कहा—हाँ बाद को जब मुलम्मा उड़ जायगा तो फिर लज्जित होना पड़ेगा। अक्ल कुछ काम नहीं करती। मुझे तो यही सूझता है, यह सारी स्थिति उसे समझा दी जाय।

ज़रा देर के लिए उसे दुःख तो ज़रूर होगा, लेकिन आगे के वास्ते रास्ता साफ हो जायगा।

संभव था, जैसा दयानाथ का विचार था, कि जालपा रो-धोकर शांत हो जायगी; पर रमा की इसमें किरकिरी होती थी। फिर वह मुँह न दिखा सकेगा। जब वह उससे कहेगी, तुम्हारी ज़मींदारी क्या हुई? बैंक के रुपए क्या हुए, तो उसे क्या जवाब देगा? विरक्त भाव से बोला—इसमें बेइज्ज़ती के सिवा और कुछ न होगा। आप क्या सर्राफ़ को दो-चार-छः महीने नहीं टाल सकते? आप देना चाहें, तो इतने दिनों में हज़ार-बारह सौ रुपए बड़ी आसानी से दे सकते हैं।

दयानाथ ने पूछा—कैसे?

रमा०—उसी तरह जैसे आपके और भाई करते हैं।

दया०—वह मुझसे नहीं हो सकता।

तीनों कुछ देर तक मौन बैठे रहे। दयानाथ ने अपना फैसला सुना दिया। जागेश्वरी और रमा को यह फैसला मंजूर न था। इसलिए अब इस गुत्थी को सुलझाने का भार उन्हीं दोनों पर था। जागेश्वरी ने भी एक तरह से निश्चय कर लिया था। दयानाथ को झख मारकर अपना नियम तोड़ना पड़ेगा। यह कहाँ की नीति है कि हमारे ऊपर संकट पड़ा हुआ हो और हम, अपने नियमों का राग अलापे जायँ। रमानाथ बुरी तरह फँसा था। वह खूब जानता था कि पिताजी ने जो काम कभी नहीं किया, वह आज न करेंगे। उन्हें जालपा से गहने माँगने में कोई संकोच न होगा। और यही वह न चाहता था। वह पछता रहा था कि मैंने क्यों जालपा से डींगे मारीं। अब अपने मुँह की लाली रखने का भार उसी पर था। जालपा की अनुपम छबि ने पहले ही दिन उस पर मोहिनी डाल दी थी। वह अपने सौभाग्य पर फूला न समाता था। क्या यह वर ऐसी अनन्य सुन्दरी के योग्य था? जालपा के पिता पाँच रुपये के नौकर थे; पर जालपा ने कभी अपने घर में झाड़ू न लगाई थी।

कभी अपनी धोती न छाँटी थी। अपना बिछावन न बिछाया था। यहाँ तक कि अपनी धोती की खोंप तक न सी थी। दयानाथ पचास रुपया पाते थे; पर यहाँ केवल चौका बासन करने के लिए महरी थी। बाकी सारा काम अपने ही हाथों करना पड़ता था। जालपा शहर और देहात का फर्क क्या जाने ! शहर में रहने का उसे कभी अवसर ही न पड़ा था। वह कई बार पति और सास से साश्चर्य पूछ चुकी थी, क्या यहाँ कोई नौकर नहीं है ? जालपा के घर दूध दही घी की कमी नहीं थी। यहाँ बच्चों को भी दूध मयस्सर न था। इन सारे अभावों की पूर्ति के लिए रमानाथ के पास मीठी-मीठी बड़ी-बड़ी बातों के सिवा और क्या था। घर का किराया पाँच रुपया था। रमानाथ ने पन्द्रह बतलाये थे, लड़कों की शिक्षा का खर्च मुश्किल से दस रुपये थे, रमानाथ ने चालीस बतलाए थे। उस समय उसे इसकी जरा भी शंका न थी, कि एक दिन सारा भण्डा फूट जायगा। मिथ्या दूरदर्शी नहीं होता, लेकिन वह दिन इतनी जल्दी आएगा यह कौन जानता था। अगर उसने ये डींगें न मारी होती, तो जागेश्वरी की तरह वह भी सारा भार दयानाथ पर छोड़ कर निश्चित हो जाता, लेकिन इस वक्त वह अपने ही बनाए हुए जाल में फँस गया था। कैसे निकले ?

उसने कितने ही उपाय सोचे, लेकिन कोई ऐसा न था, जो आगे चलकर उसे उलझनों में न डाल देता, दलदल में न फँसा देता। एकाएक उसे एक चाल सूझी। उसका दिल उछल पड़ा; पर इस बात को वह मुँह तक न ला सका। ओह ! कितनी नीचता है। कितना कपट, कितनी निर्दयता। अपनी प्रेयसी के साथ ऐसी धूर्तता ! उसके मन ने उसे धिक्कारा। अगर इस वक्त उसे कोई एक हजार रुपया दे देता, तो वह उसका उम्र भर के लिए गुलाम हो जाता।

दयानाथ ने पूछा—कोई बात सूझी ?

'मुझे तो कुछ नहीं सूझता।'

'कोई उपाय सोचना ही पड़ेगा।'

'आप ही सोचिए, मुझे तो कुछ नहीं सूझता।'

'क्यों नहीं उससे दो-तीन गहने माँग लेते ? तुम चाहो, तो ले सकते हो। हमारे लिए मुश्किल है।'

'मुझे शर्म आती है।'

'तुम विचित्र आदमी हो, न खुद माँगोगे न मुझे माँगने दोगे, तो आखिर यह नाव कैसे चलेगी ? मैं एक बार, हजार बार कह चुका कि मुझसे कोई आशा मत रक्खो। मैं अपने आखिरी दिन जेल में नहीं काट सकता। इसमें शर्म की क्या बात है, मेरी समझ में नहीं आता। किसके जीवन मे ऐसे कुअवसर नहीं आते? तुम्हीं अपनी माँ से पूछो।'

जागेश्वरी ने अनुमोदन किया—मुझसे तो नहीं देखा जाता था कि अपना आदमी चिंता में पड़ा रहे, मैं गहने पहने बैठी रहूँ। नहीं तो आज मेरे पास भी गहने न होते ? एक-एक करके सब निकल गए। विवाह में पाँच हजार से कम का चढ़ाव नहीं गया था, मगर पाँच ही साल में सब स्वाहा हो गया। तब से एक छल्ला बनवाना भी न नसीब हुआ।

दयानाथ जोर देकर बोले—शर्म करने का यह अवसर नहीं है। इन्हें माँगना पड़ेगा।

रमानाथ ने झेंपते हुए कहा—मैं माँग तो नहीं सकता, कहिए उठा लाऊँ।

यह कहते कहते लज्जा, क्षोभ और अपनी नीचता के ज्ञान से उसकी आँखें सजल हो गईं।

दयानाथ ने भौचक्के होकर कहा—उठा लाओगे उससे छिपा कर ?

रमानाथ ने तीव्र कण्ठ से कहा—और आप क्या समझ रहे है ?

दयानाथ ने माथे पर हाथ रख लिया, और एक क्षण के बाद आहत कण्ठ से बोले—नही, मै ऐसा नहीं करने दूँगा। मैंने जाल कभी नही

किया, और न कभी करूँगा। वह भी अपनी वहू के साथ ? छि: छि: जो काम सीधे से चल सकता है, उसके लिए यह फरेव ? कहीं उसकी निगाह पड़ गई, तो समझते हो, वह तुम्हें दिल में क्या समझेगी ? माँग लेना इससे कहीं अच्छा है।

रमा०—आपको इससे क्या मतलव। मुझसे चीजें ले लीजिएगा, मगर जब आप जानते थे, यह नौबत आएगी, तो इतने जेवर ले जाने की जरूरत ही क्या थी ? व्यर्थ की विपत्ति मोल ली ? इससे कई लाख गुना अच्छा था, कि आसानी से जितना ले जा सकते, उतना ही ले जाते। उस भोजन से क्या लाभ कि पेट में पीड़ा होने लगे। मैं तो समझ रहा था कि आपने कोई मार्ग निकाल लिया होगा। मुझे क्या मालूम था कि आप मेरे सिर यह मुसीवतों की टोकरी पटक देंगे। वरना मैं उन चीजों को कभी न ले जाने देता।

दयानाथ कुछ लज्जित होकर बोले—इतने पर भी केवल चन्द्रहार न होने से, वहाँ हाय-तोबा मच गई।

रमा०—उस हाय-तोबा से हमारी क्या हानि हो सकती थी। जब इतना करने पर भी हाय-तोबा मच गई तो मतलव भी तो पूरा न हुआ। उधर बदनामी हुई, इधर यह आफत सिर पर आई। मैं यह नहीं दिखाना चाहता कि हम इतने फटे-हाल हैं। चोरी हो जाने पर तो सब्र करना ही पड़ेगा।

दयानाथ चुप हो गए। उस आवेश मे रमा ने उन्हें खूब खरी-खरी सुनाई और वह चुपचाप सुनते रहे। आखिर जब न सुना गया, तो उठ कर पुस्तकालय चले गये। यह उनका नित्य का नियम था। जब तक दो-चार पत्र-पत्रिकाएँ न पढ़ लें उन्हें खाना न हजम होता था। उसी सुरक्षित गढ़ी मे पहुँच कर घर की चिन्ताओं और बाधाओं से उनकी जान वचती थी।

रमा भी वहाँ से उठा, पर जालपा के पास न जाकर अपने कमरे में गया। उसका कोई कमरा अलग तो था नहीं, एक ही मर्दाना कमरा था, इसी में दयानाथ अपने दोस्तों से गपसप करते, दोनों लड़के पढ़ते और रमा मित्रों के साथ शतरंज खेलता। रमा कमरे में पहुँचा, तो दोनों लड़के ताश खेल रहे थे। गोपी का तेरहवाँ साल था। विश्वम्भर का नवाँ। दोनों रमा से थरथर काँपते थे। रमा खुद खूब ताश और शतरंज खेलता; पर भाइयों को खेलते देख कर उसके हाथ में खुजली होने लगती थी। खुद चाहे दिन भर सैर-सपाटे किया करे; मगर क्या मजाल कि भाई कहीं घूमने निकल जायँ। दयानाथ खुद लड़कों को कभी न मारते थे। अवसर मिलता, तो उनके साथ खेलते थे। उन्हें कनकौवे उड़ाते देखकर उनकी बाल-प्रकृति सजग हो जाती थी। दो-चार पेच लड़ा देते। बच्चों के साथ कभी-कभी गुल्ली-डंडा भी खेलते थे। इसलिए लड़के जितना रमा से डरते उतना ही पिता से प्रेम करते थे।

रमा के देखते ही लड़कों ने ताश को टाट के नीचे छिपा दिया और पढ़ने लगे। सिर झुकाए चपत की प्रतीक्षा कर रहे थे, पर रमानाथ ने चपत नहीं लगाई। मोढ़े पर बैठ कर गोपीनाथ से बोला—तुमने भंग की दूकान देखी है न, नुक्कड़ पर ?

गोपीनाथ प्रसन्न होकर बोला—हाँ देखी क्यों नहीं ?

'जाकर चार पैसे का माजूम ले लो, दौड़े आना हाँ। हलवाई की दूकान से आध सेर मिठाई भी लेते आना। यह रुपया लो।'

कोई १५ मिनट मे रमा ये दोनों चीजें ले, जालपा के कमरे की ओर चला।

रात के दस बज गए थे। जालपा खुली हुई छत पर लेटी हुई थी। जेठ की सुनहरी चाँदनी में सामने फैले हुए नगर के कलस, गुम्बज और वृक्ष स्वप्न-चित्रों से लगते थे। जालपा की आँखें चन्द्रमा की ओर लगी हुई थीं। उसे ऐसा मालूम हो रहा था मै चन्द्रमा की ओर उड़ी जा

रही हूँ। उसे अपनी नाक में खुश्की, आँखों में जलन और सिर में चक्कर मालूम हो रहा था। कोई बात ध्यान में आते ही भूल जाती, और बहुत याद करने पर भी याद न आती थी। एक बार घर की याद आ गई, रोने लगी। एक ही क्षण में सहेलियों की याद आ गई, हँसने लगी। सहसा रमानाथ हाथ में एक पोटली लिए, मुसकिराता हुआ आया और चारपाई पर बैठ गया।

जालपा ने उठकर पूछा—पोटली में क्या है?

रमा०—बूझ जाओ तो जानूँ।

जालपा—हँसी का गोलगप्पा है, (यह कहकर हँसने लगी)

रमा०—ग़लत।

जालपा—नींद की गठरी होगी।

रमा०—ग़लत।

जालपा—तो प्रेम की पिटारी होगी।

रमानाथ—ठीक। आज मैं तुम्हें फूलों की देवी बनाऊँगा।

जालपा खिल उठी, रमा ने बड़े अनुराग से उसे फूलों के गहने पहनाने शुरू किए, फूलों के शीतल कोमल स्पर्श से, जालपा के कोमल शरीर में गुदगुदी-सी होने लगी। उन्हीं फूलों की भाँति उसका एक-एक रोम प्रफुल्लित हो गया।

रमा ने मुसकिराकर कहा—कुछ उपहार?

जालपा ने कुछ उत्तर न दिया। इस वेश में पति की ओर ताकते हुए भी उसे संकोच हुआ। उसकी बड़ी इच्छा हुई कि ज़रा आईने में अपनी छवि देखे। सामने कमरे में लैंप जल रहा था, वह उठ कर कमरे में गई और आईने के सामने खड़ी हो गई। नशे की तरंग में उसे ऐसा मालूम हुआ कि मैं सचमुच फूलों की देवी हूँ। उसने पानदान उठा लिया और बाहर आकर पान बनाने लगी।

रमा को इस समय अपने कपट व्यवहार पर बड़ी ग्लानि हो रही थी। जालपा ने कमरे से लौटकर प्रेमोल्लसित नेत्रों से उसकी ओर देखा, तो उसने मुँह फेर लिया। उस सरल विश्वास से भरी हुई आँखों के सामने वह ताक न सका। उसने सोचा—मैं कितना बड़ा कायर हूँ। क्या मैं बाबूजी को साफ-साफ जवाब न दे सकता था? मैंने हामी ही क्यों भरी? क्या जालपा से घर की दशा साफ-साफ कह देना मेरा कर्त्तव्य न था? उसकी आँखें भर आईं। जाकर मुँडेर के पास खड़ा हो गया। प्रणय के उस निर्मल प्रकाश में उसका मनोविकार किसी भयंकर जन्तु की भाँति घूरता हुआ जान पड़ता था। अपने ऊपर इतनी घृणा हुई कि एक बार जी में आया, सारा कपट व्यापार खोल दूँ, लेकिन सँभल गया। कितना भयंकर परिणाम होगा। जालपा की नजरों से गिर जाने की कल्पना ही उसके लिए असह्य थी।

जालपा ने प्रेम-सरस नेत्रों से देखकर कहा—मेरे दादाजी तुम्हें देख कर गए, और अम्मा जी से तुम्हारा बखान करने लगे, तो मैं सोचती थी, तुम कैसे होगे। मेरे मन में तरह-तरह के चित्र आते थे।

रमानाथ ने एक लम्बी साँस खींची। कुछ जवाब न दिया।

जालपा ने फिर कहा—मेरी सखियाँ तुम्हें देखकर मुग्ध हो गईं। शहजादी तो खिड़की के सामने से हटती ही न थी। तुमसे बातें करने की उसकी बड़ी इच्छा थी। जब तुम अन्दर गये थे, तो उसी ने तुम्हें पान के बीड़े दिए थे, याद है?

रमा ने कोई जवाब न दिया।

जालपा—अजी, वही जो रंग-रूप में सबसे अच्छी थी, जिसके गाल पर एक तिल था, तुमने उसकी ओर बड़े प्रेम से देखा था, बेचारी लाज के मारे गड़ गई थी। मुझसे कहने लगी, जीजा तो बड़े रसिक जान पड़ते हैं। सखियों ने उसे खूब चिढ़ाया, बेचारी रोनी हो गई। याद है?

रमा ने मानों नदी में डूबते हुए कहा—मुझे तो याद नहीं आता।

जालपा—अच्छा अबकी चलोगे, तो दिखा दूँगी। आज तुम बाज़ार की तरफ गए थे कि नहीं ?

रमा ने सिर झुकाकर कहा— आज तो फ़ुरसत नहीं मिली।

जालपा—जाओ मैं तुमसे न बोलूँगी। रोज हीले-हवाले करते हो, कल ला दोगे न।

रमानाथ का कलेजा मसोस उठा। यह चन्द्रहार के लिए इतनी विकल हो रही है! इसे क्या मालूम कि दुर्भाग्य उसका सर्वस्व लूटने का सामान कर रहा है। जिस सरल बालिका पर उसे अपने प्राणों को न्योछावर करना चाहिए था, उसीका सर्वस्व अपहरण करने पर वह तुला हुआ है। वह इतना व्यग्र हुआ, कि जी में आया, कोठे से कूद कर प्राणों का अन्त कर दे।

आधी रात बीत चुकी थी। चन्द्रमा चोर की भाँति एक वृक्ष की आड़ से झाँक रहा था। जालपा पति के गले में हाथ डाले हुए निद्रा में मग्न थी। रमा मन में विकट संकल्प करके धीरे से उठा; पर निद्रा की गोद में सोए हुए पुष्प-प्रदीप ने उसे अस्थिर कर दिया। वह एक क्षण खड़ा मुग्ध नेत्रों से जालपा के निद्राविहसित मुख की ओर देखता रहा। कमरे में जाने का साहस न हुआ। फिर बैठ गया।

जालपा ने चौंककर पूछा— कहाँ जाते हो, क्या सबेरा हो गया ?

रमा०—अभी तो बड़ी रात है।

जालपा—तो तुम बैठे क्यों हो ?

रमा०—कुछ नहीं जरा पानी पीने उठा था।

जालपा ने प्रेमातुर होकर रमा के गले में बाहें डाल दीं और उसे सुलाकर कहा—तुम इस तरह मुझपर टोना करोगे, तो मैं भाग जाऊँगी। न-जाने किस तरह ताकते हो, क्या मन्त्र पढ़ते हो, कि मेरा मन चंचल हो जाता है। वासंती सच कहती थी, पुरुषों की आँख में टोना होता है।

रमा ने फूटे हुए स्वर में कहा—टोना नहीं कर रहा हूँ, आँखों की प्यास बुझा रहा हूँ। दोनो फिर सोए, एक उल्लास में डूबी हुई, दूसरा चिन्ता में मग्न।

तीन घंटे और गुज़र गये, द्वादशी के चाँद ने अपना विश्वदीपक बुझा दिया। प्रभात की शीतल समीर प्रकृति को मद के प्याले पिलाती फिरती थी। आधी रात तक जागनेवाला बाजार भी सो गया। केवल रमा अभी तक जाग रहा था। मन में भाँति-भाँति के तर्क-वितर्क उठने के कारण वह बार-बार उठता था, और फिर लेट जाता था। आखिर जब चार बजने की आवाज़ कान में आई, तो घबराकर उठ बैठा और कमरे मे जा पहुँचा। गहनों का सन्दूक़चा आलमारी में रक्खा हुआ था; रमा ने उसे उठा लिया, और थर थर काँपता हुआ नीचे उतर गया। इस घबराहट में उसे इतना अवकाश न मिला, कि वह गहने छाँट कर निकाल लेता।

दयानाथ नीचे बरामदे में सो रहे थे। रमा ने उन्हें धीरे से जगाया, उन्होंने हकबका कर पूछा—कौन ?

रमा ने ओठ पर उँगली रख कर कहा—मै हूँ। यह सन्दूक़ची लाया हूँ। रख लीजिये।

दयानाथ सावधान होकर बैठ गये। अभी तक केवल उनकी आँखें जागी थीं, अब चेतना भी जाग्रत हो गई। रमा ने जिस वक्त उनसे गहने उठा लाने की बात कही थी, उन्होने समझा था कि यह आवेश में ऐसा कह रहा है। उन्हें इसका विश्वास न आया कि रमा जो कुछ कह रहा है उसे भी कर दिखायेगा। इन कमीनी चालो से वह अलग ही रहना चाहते थे। ऐसे कुत्सित कार्य में पुत्र से साँठ-गाँठ करना उनकी अन्तरात्मा को किसी तरह स्वीकार न था। पूछा—इसे क्यों उठा लाये ?

रमा ने धृष्टता से कहा—आप ही का तो हुक्म था ?

दया०—झूठ कहते हो।

रमा०—तो फिर रख आऊँ ?

रमा के इस प्रश्न ने दयानाथ को घोर संकट में डाल दिया, झेंपते हुए बोले—अब क्या रख आओगे ? कहीं देख ले, तो ग़ज़ब ही हो जाय। वही काम करोगे, जिसमें जग-हँसाई हो। खड़े क्या हो, सन्दूकची मेरे बड़े सन्दूक में रख आओ और जाकर लेट रहो। कहीं जाग पड़े तो बस !

बरामदे के पीछे दयानाथ का कमरा था। उसमें देवदारु का पुराना सन्दूक रखा था। रमा ने सन्दूकची उसके अन्दर रख दी और बड़ी फुर्ती से ऊपर चला गया। छत पर पहुँच कर उसने आहट ली, जालपा पिछले पहर की सुखद निद्रा में मग्न थी।

रमा ज्यों ही चारपाई पर बैठा, जालपा चौंक पड़ी और उससे चिमट गई। रमा ने पूछा—क्या है, तुम चौंक क्यों पड़ीं ?

जालपा ने इधर-उधर प्रसन्न नेत्रों से ताक कर कहा—कुछ नहीं एक स्वप्न देख रही थी। तुम बैठे क्यों हो, कितनी रात है अभी ?

रमा ने लेटते हुए कहा—सवेरा हो रहा है, क्या स्वप्न देखती थीं ?

जालपा—जैसे कोई चोर मेरे गहनों की सन्दूकची उठाए लिए जाता हो।

रमा का हृदय इतना ज़ोर से धक-धक करने लगा, मानों उस पर हथौड़े पड़ रहे हैं। खून सर्द हो गया। परन्तु सन्देह हुआ, कहीं इसने मुझे देख तो नहीं लिया। वह जोर से चिल्ला पड़ा—चोर ! चोर !!

नीचे बरामदे में दयानाथ भी चिल्ला उठे—चोर ! चोर !!

जालपा घबड़ाकर उठी। दौड़ी हुई कमरे में गई, झटके से आलमारी खोली। सन्दूकची वहाँ न थी। मूर्छित होकर गिर पड़ी।

गबन

गबन प्रेमचन्द का कलापूर्णउपन्यास है। जो खण्ड हमारे सामने है यह उसी वेशाल 'गबन' का एक अंश है। इस सदर्भ में कहानी के सभी गुण हैं, पर यह एक छोटी कहानी ही नहीं है एक बडे उपन्यास का बीज भी है। इस एक चावल से ही उपन्यास की परख हो जाती है, उपन्यास कला की सिद्धि देख पड़ती है।

स्वय प्रेमचन्द ने उपन्यास के बारे में कुछ बाते कही हैं। हम उन्हीं की कसौटी लेकर, उनकी आलोचना करेंगे। कर्त्ता की कसौटी का आलोचना-जगत् मे बहुत मान होता है।

प्रेमचन्द कहते हैं—मै उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। 'गबन' सचमुच मानव-चरित्र का चित्र है। इस छोटे से टुकड़े में भी मानव-चरित्र के रहस्यो का—जीवन में दिन-रात होनेवाले अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व का मार्मिक चित्रण है। इसीसे आलोचक ग़बन को चरित्रप्रधान उपन्यास का नमूना मानते हैं।

उपन्यास की आलोचना में दूसरी बात है कर्त्ता का दृष्टिकोण। आदर्शवाद

और यथार्थवाद की दृष्टि का निर्णय करके ही चरित्र-प्रधान रचना का मूल्य आँका जा सकता है। प्रेमचन्द के अनुसार वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिये यथार्थ का उपयोग होना चाहिये। ग़बन में ऐसा ही समावेश हुआ है। उसका यथार्थवाद पूर्णरूप से आदर्शोन्मुख है। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ 'आत्मपरिष्कार' और 'पथप्रदर्शन' है।

उपन्यास-साहित्य का तीसरा बड़ा प्रश्न है; उसका उद्देश्य। प्रेमचन्द 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त को सबसे ऊँचा आदर्श मानते हैं। इसीसे उनके अनुसार मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है। पर साथ ही वे यह भी मानते हैं कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिये लिखा जाता है वह भी स्थायी महत्त्व का हो सकता है। हाँ, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्षरूप से व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाये और उसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे।

ग़बन के पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि प्रेमचन्द ने जो कुछ कहा है वह ठीक है। है तो यह प्रचार-प्रधान उपन्यास पर कलाकार के कौशल ने उसे स्थायी बना दिया है। सप्रयोजन रचना भी स्थायी और कालाश्रित हो सकती है, यदि वह प्रयोजन स्वाभाविकता और कला के भीतर छिपा रहे।

चौथी बात है कथावस्तु और कल्पना का विचार। यदि कवि में कल्पना है तो वह किसी भी छोटी घटना को लेकर अपना काम चला लेता है। उपन्यास में घटना की अपेक्षा कल्पना का महत्व बड़ा है। प्रेमचन्द के इस उपन्यास में यह बात सोलहो आने सत्य है। कल्पना के कारण ही वह इतना रमणीय है कि उसकी अस्वाभाविकता और उसके चरित्रों की बनावटी कमज़ोरियाँ भी पाठक को नहीं खटकतीं।

पाँचवी बात है लोक, शास्त्र आदि का निरीक्षण और लिखने का अभ्यास।

ईश्वरदत्त शक्ति रहने पर भी कर्ता अपनी कृति को सजीव और स्वाभाविक नहीं बना सकता, यदि उसने उचित साधनो के द्वारा साहित्य की साधना नही की है। ग़बन में कर्ता की पूरी साधना के दर्शन होते हैं। उसके आरम्भिक उपन्यासों मे भी प्रतिभा है, पर उपन्यास कला की ऐसी पूर्णता नही है।

उपन्यास में कल्पना, सजीवता और स्वाभाविकता आदि सब कुछ होने पर भी दो बातों की कमी से सब कुछ बिगड़ जाता है। एक साकाक्षता का निर्वाह और दूसरा सग्रह और त्याग का चुनाव। 'पहले छोटी सी बात खुले, फिर उससे कुछ बड़ी और अन्त मे मुख्य रहस्य खुले। जिसमें पाठक की इच्छा सब कुछ जानने के लिए बलवती होती चली जाय।' और इसी प्रकार 'उपन्यासकला में यह बात भी बड़े महत्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे।' प्रेमचन्द ने अपनी कही इन दोनों बातों को खूब साधा है, गबन इसका अच्छा सबूत है।

भाषा और शैली की दृष्टि से प्रेमचन्द का जादू सिर पर चढ़ कर बोलता है। ग़बन की भाषा टकसाली मानी जाती है, शैली सौम्य और सरल! यद्यपि इतिहास और भावना से सबंध रखनेवाले उपन्यासो में प्रसगभरी और मधुर छायामयी कोमलकान्त पदावली बड़ी भली लगती है पर वह प्रायः लोकप्रिय नही हो पाती–उसके पाठकों का क्षेत्र छोटा रहता है। ग़बन के पाठकों का क्षेत्र बहुत बड़ा है।

आलोचना पूरी हो जाने पर भी अध्ययन की दृष्टि से एक बात पर और विचार होना चाहिए। उपन्यास और कहानी में भेद क्या है। ऊपर की सभी बातें दोनों मे घटती है। तब क्या केवल बड़ाई और छोटाई का ही भेद दोनो में है? क्या उपन्यास बड़ी कहानी का ही नाम है। दोनों साहित्यरूपो में इतना मेल है कि दोनों का भेद अवश्य ध्यान मे रखना चाहिए। उपन्यास में देश, काल और व्यक्ति की पूर्णता का समुद्र लहराता है और कहानी में केवल पूर्णघट की सुन्दरता रहती है। इसी सीमा के कारण कहानी की एकता का पूरा अनुभव होता है, पर उपन्यास में वह एकता कभी कभी बिखरी रह कर भी सुन्दर लगती है। उसमें एक मूल प्रवृत्ति अथवा विचार का प्रधान होना परमावश्यक नही। इससे भी बड़ा भेद यह है कि सफल कहानी में एक स्थिति का प्रभाव रहता है–एक प्रकार का

नाटकत्व रहता है पर उपन्यास में एक व्यक्ति अथवा युग का इतिहास रहता है। कहानी में अनुभूति अधिक रहती है और उपन्यास में इतिवृत्त। इसी से उपन्यास की अपेक्षा कहानी में प्रभाववादी रीतियों की अधिक आवश्यकता पड़ती है और इसी अनुभूति प्रधानता के कारण कहानी की कथा वस्तु कभी जटिल नहीं होती—बड़ी सरल और सीधी होती है, शायद ही कभी उसमें आधिकारिक और प्रासंगिक कथा की दुहरी लड़ी रहती हो।

कहानी का एक बन्धन और याद रखना चाहिये कि प्रगीत काव्य के समान उसमें कला की निपुणता बहुत आवश्यक है और उपन्यास में महाकाव्य से भी अधिक स्वतन्त्र और विशाल क्षेत्र रहता है। यद्यपि कहानी में नियम के बंधन लग नहीं पाते पर उससे कला का उत्तरदायित्व और अधिक बढ़ जाता है।

एक शब्द में कहानी मन और हृदय का रंजन करती है पर उपन्यास का मन और हृदय के साथ ही थोड़ा सा लगाव बुद्धि से भी अवस्य ही रहता है। उपन्यास में बुद्धि का पूर्ण बिलगाव कभी निभ नहीं सकता।

नुमायश

नुमायश का आहाता बनकर तैयार हो चुका था। बीच-बीच में फुलवारी की क्यारियाँ लग चुकी थीं। दूकानों और बाज़ारों की व्यवस्था भी क़रीब-क़रीब हो ही गई थी। कुछ सजधज का काम अभी कहीं-कहीं बाकी था। मिस्त्री बिजली का तार लिए घूम रहे थे। कुछ पेड़ों पर चढ़े बल्ब टाँगने में लगे थे। रविशों पर सुर्ख़ी बिछ रही थी। बड़े गेट को सजाया जा रहा था।

सन्तू, लगभग सात वर्ष का एक लड़का जो कुछ ही दूर पर अन्धी माँ के साथ बैठा था, टकटकी लगाए यह सब देख रहा था, बोला—'माँ !'

'हाँ !'—माँ बोली।

'नुमायश होगी यहाँ ?'

'क्यों ?'

'परसाल की तरह सब हो रहा है।'

'कोई खेल आया होगा।'

'नहीं, माँ! लोग कहते जा रहे थे।'

'सच?'

'हाँ।'

'होती होगी। अच्छा है, दो पैसे मिल जाया करेंगे।'

'जैसे परसाल, ऐं माँ!'

'हाँ'

'परसाल तुमने हमें टिकट नहीं दिलाया था।'

'कैसा टिकट?'

'नुमायश का।'

'माँ ने कुछ उत्तर न दिया।'

'क्यों माँ!'—वह फिर बोला।

'वह फिर चुप थी।'

'बोलती नहीं।'

'बेकार की बातें मुझे नहीं आतीं।'

'अच्छा, दिलाया था?'

'नहीं दिलाया था।'

'क्यों?'

'चाहती नहीं थी।'—हँसते हुए उसने कहा।

सन्तू चुप हो रहा। जानता था खिन्न होने पर भी माँ ऐसे हँसती है। उसकी निगाह फिर उस आहाते पर टिक रही। कुछ देर बाद अकुलाया-सा फिर बोला—'अच्छा, माँ।'

'हाँ।'

'अबकी दिला दोगी?'

'दिला दूँगी।'—अन्यमनस्क सी हुई वह बोली।

'नहीं ?'—उसने फिर पूछा।

'दिला दूँगी, कहती तो हूँ।'—माँ ने तब ज़ोर से कहा और मुस्कराहट को दबाने के प्रयत्न मे दोनों ओठ ज़ोर से सटा लिए।

'कहती ही हो बस।'—सन्देह में माँ के ओठों के तरफ देखता हुआ वह बोला।

'ऐसा ही सही।'—माँ ने कहा।

'अच्छा, सच बताओ माँ, दिलाओगी कि नहीं ?'—जी भर कर ज़ोर लगाकर सन्तू ने विनय की।

हृदय की इस अपील पर अन्धी चुप रह गई। झूठ बोलना भी उतना ही कठिन हो गया, जितना सच।

'क्यों माँ !'—सन्तू ने फिर पूछा।

'अच्छा, देखूँगी।'—गम्भीर होकर अन्धी बोली, जैसे एक बड़ा बोझ उसके ऊपर आ गया हो।

सन्तू प्रफुल्ल हो उठा और एक ओर से कुछ आदमियों को आते देख माँ को कुहनी लगाई। इशारा समझकर अन्धी ने कहना शुरू किया—'बाबू अन्धी मुहताज को, बाबू···

दो दिन बाद। नुमायश का उद्घाटन हो रहा था। गेट पर बहुत भीड़ थी। सड़कें भरी आ रही थीं। रंग-बिरंगी पोशाक मे सँवरे हुए स्त्री, पुरुष और बच्चे आतुर होकर गेट की तरफ बढ़ रहे थे।

एक तरफ जहाँ मोटर रुकती थी, अंधी भिखारिन सन्तू का हाथ पकड़े इधर-उधर डोल रही थी। वह कहती जाती थी बाबू! अन्धी मुहताज को······'

बाबू मोटरों से उतरते और बचकर एक ओर से निकल जाते। वह कहती रहती—'बाबू! अन्धी मुहताज को······'

सन्तू कभी गेट की ओर देखता, कभी पों-पों करती हुई मोटरो की ओर और कभी उत्सुक हो उमड़ी हुई उस भीड़ की ओर। बीच-बीच मे

बुढ़िया के मुँह की तरफ भी देख लेता—जैसे कुछ कहना चाहता हो। उसकी बात उसकी आँखों पर आ अटकी मालूम होती थी, पर अन्धी निर्विघ्न चिल्ला रही थी—'बाबू'...

रात के ग्यारह बज गये। सन्तू माँ का हाथ पकड़े घूमता ही रहा। आखिर वह थक गया। खड़ा रहना मुश्किल मालूम होने लगा। बोला—'माँ!'

'हाँ!'

'कितने पैसे हो गए?'

'तू नहीं जानता क्या?'

'चार अभी हुए।'

'हो गए।'

'तो टिकट मिल जायगा।'

'मिल जायगा, पर रोटी नहीं।'—अंधी हँसकर बोली।

सन्तू समझ गया। वह चुप हो गया। उसकी निगाह माँ के मुँह पर थी। कुछ सोचता-सा फिर बोला—'रोटी नहीं खाऊँगा।'

'अच्छा भैया! पेट भर तो कभी यों ही नहीं मिलता, आज पूरा ही फाका सही।...पर सन्तू! मुझसे तो उठा न जायगा। देख लो, कुछ आज ही की बात नही, कल को भी किसी के पैर चाहिये।'

सन्तू ने कुछ न कहा, और अन्धी फिर उसी रट में लग गई और लगी रही, जब तक कि वहाँ सुनसान न हो गया।

प्रतिदिन शाम को वैसी ही भीड़ होती थी। वैसा ही स्त्री, पुरुष, बच्चों का एक समुद्र आनन्द से हिलोरे लेता था। सन्तू भी उन्हीं में हर रोज़ घूमा किया। स्वयं दर्शकों में उसकी गिनती भले ही न थी, पर दर्शकों का भी एक दर्शक वह था। उनको देख-देख कर उसे कुछ नुमायश का आनन्द आ जाता था। उसमे उसका हित था। उनकी वृद्धि और समृद्धि को देख कर वह खुश ही होता था। जैसे-जैसे मोटरों

एक्का बग्घियों की क़तार लम्बी होती, उसकी सोई हुई आशा भी वैसे-ही वैसे जगती जाती और उसके जल्दी-जल्दी उठते हुए क़दमों के पीछे अन्धी घिसटने लगती।

किन्तु गेट से निकलते हुए सज्जनों को भी वह देखता था—बहुत से हमउम्र होते थे, कुछ अधिक उम्र के और कुछ कम उम्र के। कोई कुछ तारीफ करता निकलता, कोई कुछ। वह परेशान-सा अन्धी को लेकर उनके सामने हाज़िर होता। वे बचकर निकल जाते, वह खड़ा देखता रह जाता। पर वह एक जगह खड़ा नहीं रह सकता था, क्योंकि बुढ़िया का हाथ उसके हाथ में बराबर चलते रहने का तक़ाजा किया करता था।

कई दिन हो गये थे। नुमाइश भर रही थी। आज कुछ ज्यादा लोग आ रहे थे। खरीदारी भी अधिक हो रही थी। दूकानदारों ने चीजें आज पहले से कुछ सस्ती कर दी थीं। लगभग सभी लोग कुछ-न-कुछ हाथ में लिए गेट से निकल रहे थे। कुछ गोद भरे चले आ रहे थे और कुछ के पीछे कुली लदे थे। अधिकांश बच्चों के हाथों में खिलौने थे। सन्तू भी अपनी आशा, का टूटा-सा खिलौना लिए वहीं मौजूद था। आज वह विशेष दौड़-धूप करता दिखाई दे रहा था। माँ ने वादा किया था कि अगर चार पैसे भी मिले, तो वह उसे दे देगी। जैसे-तैसे भीड़ को चीरता हुआ जल्दी-जल्दी एक से दूसरे सज्जन के सामने अपनी अन्धी माँ को पेश कर रहा था। माँ चिल्ला रही थी—'बाबू अन्धी मुहताज को—'

पर वह समय ही ऐसा नही मालूम होता था कि किसी को उस अन्धी के हाथ की ओर देखने की गुंजायश या फ़ुर्सत होती।

सन्तू इधर से उधर, उधर से इधर ताना बिनता ही रहा। बहुत देर हो चली। उसने बार-बार माँ के मुंह की तरफ देखा कि शायद कुछ और उपाय बतलाए, पर पूछने की हिम्मत न हुई। भीड़ हल्की हो रही

थी। आ कम रहे थे, जा अधिक। सन्तू को वह दिन भी जाता हो मालूम हुआ। आखिर वह बिना पूछे नहीं ही रह सका। बोला—'माँ!'

'हाँ।'

'पैसे हो गए?'

'हो गए।'

'ला तो फिर।'

'बस, एक पैसे की कमी है।'

'कमी है!'

'हाँ।'

सन्तू चुप हो गया। किन्तु उसकी ख़ामोशी की वजह समझ कर माँ ने कहा—'और देखो, शायद मिल जाय।'

सन्तू फिर अन्धी का हाथ पकड़ कर इधर-उधर घूमने लगा। वह चिल्लाने लगी—'बाबू! एक पैसा।'

वह बहुत बेचैन हो रहा था। जिन जिन बाबुओं को वह मोटर की ओर जाते देखता, जिन-जिन को बहुत मोटा ताजा पाता, जिन-जिन के बच्चे बहुत खेल-खिलौने लिए गेट से निकलते, नज़र पड़ते ही उन्हीं की ओर उसके पैर खुद-बखुद चल पड़ते। पर वे लोग अपने ही में कुछ इतने मशगूल मालूम होते कि उस ओर उनका ध्यान ही न जाता।

जानेवाले आगे को बढ़े ही चले जाते थे। मोटर वाले मोटर में बैठे आँखों से ओझल हो जाते थे। अन्धी माँ को खबर भी न होती थी कि कब कौन गया। वह उसी एक ओर मुँह किए चिल्लाती रहती जब तक कि सन्तू के हाथ का इशारा न मिलता।

सन्तू बहुत बेचैन था। एक पैसे की कमी थी। किसी एक बाबू का इशारा बाकी था। उसी की वह खोज में था; पर कोई नहीं मिल रहा था। यह साल भी यों ही चला जायगा, यह सोच-सोच कर वह गेट की तरफ देख लेता था। आखिर उसने देखा, एक बाबू बुकिंग आफ़िस

पर खड़े टिकट ले रहे हैं। सन्तू ने झट अन्धी को वहाँ ले जा खड़ा किया। अन्धी ने जैसे कलेजे से पुकार कर कहा—'बाबू! एक पैसा अन्धी को भी।'

किन्तु बाबू खिड़की से टिकट खरीद हाथ में गेट की ओर घूमने लगे। सन्तू से न रहा गया। उसका मुह अनायास ही कह उठा—'बाबू!'

बाबू रुक गए। उन्हें जान पड़ा, कोई आवाज़ देता है। आज पहली ही बार सन्तू ने किसी को पुकारा था।

'क्यों?'—बाबूजी बोले।

'तीन पैसे हैं।'

'तो?'

'एक पैसा दे दो।'

'क्या मतलब?'

'एक टिकट लूँगा।'

'अच्छा, रहने दो भाई! भीख माँगकर नुमायश देखने के पक्ष में मैं नहीं हूँ।' बाबू क़हक़हा लगा कर बोले, 'और यह देखो, भिखमंगे भी नुमायश देखेंगे!'—कहते हुए गेट के पार हो गए। उसकी बात की दाद और भी कई आदमियों ने हँसकर दी। कुछ देर के लिए इसी विषय पर विचार-विनिमय छिड़ गया।

सन्तू वहीं खड़ा था। हिलना उसे मुश्किल हो गया। अन्धी के कानो मे भी क़हक़हे की आवाज़ पड़ी। उसने ज़ोर से सन्तू का हाथ झटक दिया और 'देखी नुमायश' कहते हुए वहाँ से चलने का इशारा किया।

सुबह हुई। दोनो माँ-बेटे एक मिट्टी के पुश्ते पर बैठे हुए थे। सन्तू ने देखा—दूकानों का सामान ठेलों पर लाद कर नुमायश गेट से बाहर हो रहा है। बोला—माँ!

'क्यों?'

'क्या आज नुमायश न रहेगी ?'

'कैसे ?'

'सामान जा रहा है ।'

'तो ?'

'हमने नहीं देखी ।'

'अगले साल देख लेना ।'—अन्धी बोली और ठहाका मार कर हँस पड़ी । सन्तू उसके मुँह की ओर देख रहा था । 'हमने नहीं देखी ।' अन्धी ने फिर सन्तू की बात को दुहराया और ज़ोर से हँस पड़ी । सन्तू देख रहा था ।

नुमायश

इस कहानी में कहानी के सभी गुण हैं। यह इतनी छोटी है कि इसे कोई कामकाजी भी एक बैठक में पढ़ सकता है। इसकी शैली में इतना प्रवाह और भाषा मे इतनी सरलता है कि पाठक अनजाने ही बढ़ता चला जाता है। पर इसका सबसे पहला आकर्षण है इसकी सीधी घटना। बड़ी परिचित बात है, एक अंधी बुढ़िया भिखमंगिन का हाथ पकड़े एक छोटा लड़का नुमायश के सामने घूम रहा है। इतना तो हम सभी देखते है पर कवि ने इस घटना के भीतर झाँक कर देखा है। वही भीतर की झाँकी दर्दभरी कहानी है। छोटी ही सी घटना इतने कौशल से सामने आती है कि दिल पर चोट किये बिना नहीं रहती। आप से आप करुण रस की निष्पत्ति हो जाती है। कहानी पूरी हो जाती है पर अंधी माँ का ठहाका मार कर हँसना नही भूलता। उसमें कितना मार्मिक व्यग्य है। कितना भीषण चीत्कार है!! उसकी ठेस सहृदय का हृदय ही जानता है।

कहानी की कथा अपने छोटेपन में भी पूर्ण है, कुछ छूटने नहीं पाया है। सब कुछ है। समाज के दोनों पक्ष हैं। एक ओर नुमायश की मस्तानी सैर और दूसरी ओर मुहताज अंधी का लड़का। माँ के हृदय का चित्रण ही कहानी का हृदय है। इसीसे चरित्र-चित्रण सफल होने पर भी आलोचक की दृष्टि में यह रसप्रधान कहानी है।

कथावस्तु और चरित्र-चित्रण दोनों का सौंदर्य बढ़ानेवाला तीसरा गुण है माँ-बेटे का मर्मस्पर्शी कथोपकथन। लड़का कहता है—

माँ, सामान जा रहा है।

तो ?

हमने नहीं देखी।

अगले साल देख लेना।

इन छोटे वाक्यों में साक्षात् करुणा बोल रही है।

लेखक कहानी की कथोपकथन–शैली का उस्ताद है। वह व्यर्थ का वर्णन नहीं करता। केवल माँ के ठहाके की बात लिख के चुप हो जाता है। उसका यही मौन कहानी कला की सफलता है। भाषा भी वैसी ही अनगढ़, सरल और स्वाभाविक है जैसी कहानी की घटना। वर्णन तो इसमें है ही नहीं और उसकी आवश्यकता भी नहीं। इस कहानी का एक प्रयोजन है समाज पर व्यंग्य परन्तु वह कलाकार की कला में छिपा हुआ है। हमारे सामने केवल कहानी है।

शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय

—:*:—

शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय के देहान्त की खबर जब यहाँ के अंग्रेजी अख़बार के एक कोने में पढ़ने को मिली, तब अनुभव हुआ कि कितने गम्भीर भाव से उस नाम ने मेरे भीतर जगह कर ली थी। मेरे अपने लिये वह सामान्य घटना न थी। इतनी असामान्य थी कि मैं सोचता रह गया कि किस भाँति यह सम्भव हुआ कि भारत का यह समाचार-पत्र, चाहे फिर यह अँग्रेजी में ही छपता हो, ऐसे इस सूचना को ग्रहण करे। हमने शरद को क्यों नहीं समझा ? क्यों यह बंगाल के ही ज़िम्मे रहा कि वह शरद को पाए; पाकर कृतार्थ हो और खोलकर विकल हो जाय ? सोचता हूँ, अगर ब्रिटिश-नीति और ब्रिटिश-भाषा की जगह भारत के पास अपनी राष्ट्र-नीति और अपनी राष्ट्र-भाषा होती तो ?

शरद का आविर्भाव एक विशिष्ट घटना थी। इससे उनके अभाव की घटना ऐतिहासिक ही हो जाती। वह हमें बिना छुए नहीं रह सकती। जो मेरे जीवन में अधिक वास्तविक, अधिक सत्य है, वह अधिक आभ्यन्तर भी है। उसी कारण वह परोक्ष है। शरद हमारे

बीच उसी मार्मिक किन्तु परोक्ष तत्व के प्रतीक थे प्रदर्शन से विमुख, लुब्धाकांक्षाओं से दूर, सहज-सामान्य मानवता की वह प्रतिमूर्ति थे। असाधारण इसलिए कि वह अन्त तक साधारण बने रहे। स्पर्द्धापूर्वक दूसरे को नाँघकर स्वयं आगे और ऊंचे दीखने की प्रवृत्ति उनमें मानों नीचे मुँह गाड़ कर खो गई थी।

—२—

शरच्चन्द्र का नाम मैंने जीवन में जल्दी नहीं जाना। किताबें पढ़ी थीं और पढ़कर मन हिल-हिल गया था। उनकी कोई कहानी शायद ही बिना रुलाए रही हो। पर किताब के द्वारा स्वयं लेखक को पढ़ने की बात बहुत पीछे जाकर सूझी। कहानियों और उपन्यासों में घटनावली ही तो मुख्य है, सो उस घटनावली तक ही पाठक की हैसियत से मेरा सम्बन्ध रहता था। तब उस पुस्तक के लेखक का नाम तक मानो अनावश्यक था।

'मँझली दीदी', 'बड़ी दीदी', 'परिणीता', 'पंडितजी', 'चन्द्रनाथ', 'विजया' आदि, मन की इसी स्थिति में मैंने पढ़ी। पढ़कर शरद की मँझली और बड़ी दीदियाँ ठीक-ठीक मानो वैसी ही दीदियाँ मेरी भी बन आई थीं। शरद के पंडितजी, चन्द्रनाथ, विजया एवं अन्य पात्र मेरे मन के निकट बहुत घनिष्ट और प्रत्यक्ष बन-बन जाते थे। उनके दुख के साथ मेरे मन सें रोना उठता था। जी मे अकुलाहट होती थी कि, इन (पात्रों) पर पड़नेवाली विपता कैसे हो कि सब स्वयं मैं झेल लूँ। सहानुभूति ऐसी उमड़ कर उठती थी।

इतना था, पर शरद बाबू से मै अनजान था। सृष्टि को देखता था, मेरी कैसी भारी मूर्खता!

इस मूर्खता का पार बहुत दिन बाद पाया। यह तमाम सृष्टि जिस स्रष्टा को व्यक्त करती है उसको चिन्तना-कल्पना में न लाऊँ तो सृष्टि

को ही कैसे उपलब्ध कर सकता हूँ। इस सब का स्रोत जहाँ है, समन्वय जहाँ है, वहाँ क्या पीड़ा क्या विछोह है, क्या यह समझने का प्रयास मुझे नहीं करना चाहिए ?

अपने अभ्यन्तरादभ्यन्तर में से क्या कुछ डालकर शरद ने अपने पात्र-पात्रियों को ऐसा सजीव, प्रत्यक्ष और प्रेरणा-मय बना कर हमारे सामने प्रस्तुत किया कि हम मानो अत्यन्त कृतार्थ भाव से अपना जी उन (पात्र-पात्रियों) की मुट्ठी में दे बैठे ? हमारे मन की बद्ध-मूल परुषता में, अहंकार-जटित हमारे नाना नकार-निषेधों में शरद के किस अतर्क्य बल की ठेस लगी कि वे गलकर बहने को हो गए और मन कातर हो आया ? किस भाँति यह हो सका, जानना कठिन है। पर इसके अतिरिक्त जानना ही और क्या है।

सपने सभी लेते हैं वे मनोरथ रथ से मनोरम हैं, क्योंकि ये स्वप्न है उनमें सत्यता नहीं, यथार्थता नहीं। वे इतने सूक्ष्म हैं कि स्थल के स्पर्श पर छू हो जाते हैं। इससे 'वे हैं' यह भी झूठ हो जाता है। हमारा स्वप्न हमारे पास ही झूठ है। हम जगे नहीं कि वह उड़ जाता है। अपने ही सपने को पकड़ना कितना कठिन है। वह याद तक में नहीं बँधता।

और स्वप्न क्या है ? क्या वे हमारी ही अतृप्तियों के रूपक नहीं है ? आकांक्षाओं के छोर नहीं हैं ?

अपने भीतर निरन्तर वर्तमान उन स्वप्निल भावनाओं को अपने ही समक्ष प्रत्यक्ष पाना कितना दुस्साध्य है। सम्भव तो है, पर कितनी असम्भवता के साथ सम्भव। उसके बाद उन्हीं स्वप्नोपम भावनांशों को अपने से अन्य किसी के मन के भीतर उपलब्ध करा देना कितना दुस्साध्य न होगा। क्या यह काम कभी चतुराई के बस का हो सकता है ? केवलमात्र कौशल से हो सकता है लोग जो कहें, पर शरद ने यह काम किया और इस खूबी से किया कि अचम्भा होता है। कह लो

शरद को आर्टिस्ट; लेकिन तब आर्ट चतुरता नहीं है। वह आत्मदान है। शरद ने अपने भीतर के दुर्लभ को उपलब्ध करने की राह में उसे हमारे लिए भी यत्किंचित् सुलभ कर दिया। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा जो चाहे पाया हो, पर हमने तो उनमें बहुत-कुछ अपना मर्म पाया। शरद ने अपने को देकर पाया है। जान पड़ता है उन्होंने अपने भीतर कुछ नहीं छोड़ा, बूँद-बूँद दे डाला है।

यह आत्मदान की लाचारी क्यों ? दुनियाँ मे सब अपने-अपने को बटोरते दीखते है। तब यह व्यक्ति क्यों अपने जीवन में मानों दोनो ओर बत्ती लगाकर जलता रहा ? क्या इसलिए कि हमें प्रकाश देना चाहता था ? छिः, यह कहना आग की जलन को मिठास कहना है। मेरे पास एक ही उत्तर है। वह यह कि वह व्यक्ति महाप्राण था। महाप्राण पुरुष अपने स्वभाव में यह दुर्भाग्य लाते है। दुनिया कहे उसे प्रतिभा, लेकिन वह भीतर तक करुण पीड़ा की बनी होती है।

तभी तो उनके पात्र चित्र नही है। चित्र में गति-परिणमन नही होता, आत्मा नही होती। शरद की मूर्तियाँ इतनी आत्ममयी हैं कि उनपर हम-आप विवाद ही कर सकते है अधिकार नहीं कर सकते। उनमें अपना जीवन, अपना स्वभाव है इस कारण वे सब इतनी अबूझ हैं कि कोई दो व्यक्ति उनपर एक मत नहीं रख सकते। शरद ने जो कुछ उनके द्वारा करा दिया है, उससे आगे और उसके अतिरिक्त मानो कोई उन मूर्तियों से कुछ नहीं करा सकता। पुस्तक-गत स्थिति से भिन्न परिस्थिति में वे पात्र-पात्रियाँ क्या करतीं, लाख विवेचन पर भी मानो कोई निश्चित निश्चय नहीं हो सकता।

वे पात्र सजीव है, इससे नियम-निर्मित नहीं हैं। उनकी सृष्टि का सार शरद की अपनी आत्मा में ही है। आत्मा देश-कालातीत होती है। वह भाषा की परिभाषा में नहीं आती, नहीं आयगी। जीवन बेहिसाब है, क्योंकि उसका उस स्रोत से उद्गम है, जहाँ से इजाजत लेकर स्वयं

काल चलता है। शरद के चरित्र उसीसे अनुप्राणित हैं। इससे उनपर कभी विवाद की समाप्ति नही हो सकती। मानो उनका भेद उन्हीं के भीतर बन्द है। भीतर से ही वह मिले तो मिले, बाहर से वह समझ की पकड़ में न आयगा। शरद ने अपने मे से कुछ इतने गहरे की वस्तु उनमें डाली है कि उसे जाना नहीं जा सकता, अनुभूत ही किया जा सकता है। मेरे विचार में स्वयं शरद ने अपने पात्रो को जानने की स्पर्धा नहीं की। शरद का नाता उनसे प्रेम का नाता था। प्रेम, यानी उत्तरोत्तर अभिन्नता। विज्ञान का नाता नहीं, जिसकी शर्त है द्वित्व और पार्थक्य।

इस सिलसिले मे क्या मैं कहूँ कि रवि ठाकुर और अधिकांश अन्य पाश्चात्य लेखको का अपने पात्रो के साथ सम्बन्ध इतने विशुद्ध प्रेम अर्थात् ऐक्य का नहीं होता। बीच में कहीं मानों विज्ञान को आ घुसने के लिए दुराव भी होता है। आधुनिक भाषा में कहें तो वे अपने पात्रों के प्रति, और जगत के प्रति प्रेमी से अधिक धीमान हैं।

—३—

ठीक सन् मुझे याद नहीं। शायद ३१ की बात है श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियों की एक पुस्तक हिन्दी में छपा रहे थे। भारतीय कलाकारो की बात करते हुए बोले—"भारत की ओर से इस संग्रह में दो कहानियाँ देना चाहता हूँ। क्या राय है?"

मैंने पूछा—"आप क्या सोचते है?"

बोले—"शरद को मैं भारत का सर्वश्रेष्ठ कहानी लेखक मानता हूँ। रवीन्द्रनाथ की कहानी तो जायगी ही। उनकी कहानी क्या एक-एक नगीना है। पर शरद को कहानी कोई छोटी नहीं मिल रही है।"

मैंने कहा—"हिन्दी की पुस्तक में प्रेमचन्द की अनुपस्थिति निभेगी?"

बोले—"लेकिन, भाई, प्रेमचन्द शरद-रवीन्द्र के बाद आते हैं। क्यों, नहीं ?"

आखिर पुस्तक में प्रेमचन्द की कहानी दी गई और शरद चन्द्र की नहीं दी जा सकी। इसपर चन्द्रगुप्तजी का मन खिन्न था। पर शरद की छोटी कहानी भी दुर्लभ हो रही थी।

बोले—"शरद को मैं निश्चित रूप से भारत का सर्वश्रेष्ठ कहानीकार मानता हूँ। जानता हूँ मैं वह बात दोहरा रहा हूँ। पर बार बार उसको कहकर मानो फिर कहने की इच्छा रहती है। रवीन्द्र की और बात है। साहित्यकार शरद से कहीं बड़े वह हों और हैं, पर कहानी की जहाँ चर्चा हो, वहाँ शरद हैं। क्यों, क्या नहीं ?"

मैंने तब कहा था (कहा था, अब नहीं कहता) कि मुझमें वैसी श्रद्धा नहीं है। शरद, हाँ, अच्छा लिखते हैं। पर जान पड़ता है, कहीं से कोई लटका उन्हें हाथ लग गया है। एक गुर पा गए हैं, बस उसी को हर जगह इस्तेमाल कर जाते हैं। देखिए न, हर कहानी में घूम-फिर कर वही बात, वही बात !

श्री चन्द्रगुप्त सुनकर मेरी ओर देखते-के-देखते रह गए थे। मानो मेरी धृष्टता सह्य हो सकी तो इसी से कि बेहद अप्रत्याशित थी। उस समय तो जैसे क्रोध भी उनसे न करते बना।

मैंने कहा—"सुनिए, शरद एक काम लाजवाब खूबी से करते हैं। वह खूबी है, और बेशक लाजवाब है। लेकिन लाजवाब हो चाहे कुछ हो, बस वह अकेली खूबी ही उनके पास है। स्त्री और पुरुष के प्रणय और मान के सम्बन्धों का जो चित्र वह खींच कर रख देते हैं, क्या वह चित्रण कहीं और भी मिलेगा ? लेकिन दुनिया स्त्री-पुरुष-प्रेम नहीं है। वह और भी बहुत कुछ है। असल में जीवन-दर्शन उनका एकांगी है। कहता तो हूँ कि कहीं से गुरु मंत्र पा गए है। उसी के बल पर चमत्कार-सा दिखा देते है।"

चन्द्रगुप्त जी ने मुझे तरह-तरह से समझाया-तर्क से भी, आग्रह से भी, झिड़की से भी। कहा कि कहानी-कला के बारे में ऐसी अहंकृत, उथली और भ्रान्त धारणा बनाकर चलना अपने हक में मेरे लिए अशुभ होगा। लेकिन मैं न मान सका। कहता रहा कि शरद की खूबी आकस्मिक है, गहरी नही है। शरद में रमी हुई नहीं है। एक प्रकार का रचना-कौशल है ; अधिक नहीं।

मैं नहीं जानता अगर ऐसा माननेवाले और लोग हों। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि आज मै ऐसा नही मानता। आज अचरज करता हूँ कि वह सब मै किस भाँति कह गया हूँगा।

इस परिवर्तन का कारण है। कारण यह कि दो (अथवा अधिक) व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों के विकास अथवा विचार में जो मूल-सिद्धान्त का काम करता है, वही तो है सत्य। उसके अतिरिक्त ज्ञेय और क्या है। क्या जो यह अनेकता की और दुई की माया चारो ओर फैली है वह अपने-आप मे जानने योग्य है ? वैविद्ध्य क्या अपने-आप मे अर्थकारी है। अपने-अपने खानों मे बटा हुआ विशेषित ज्ञान क्या सचमुच सत्य है ? वह सत्य हो कैसे सकता है। फिर तो सत्य विभक्त और खंडित ठहरेगा। इससे उस प्रकार के लौकिक ज्ञान का समग्र रूप मे मूलाधार जहाँ है, सत्य भी वहीं है। और लौकिक ज्ञान हितकर है तो तभी जब वह उस परमतत्व को प्रकाशित और विशद करे, जहाँ अनेक का ऐक्य और समस्त का समन्वय है।

व्यक्ति सच है कि पदार्थ ?

व्यक्ति सच है कि समाज ?

एक व्यक्ति सच है कि दूसरा व्यक्ति ?

ये मूल प्रश्न जब सामने खड़े होते है तो जान पड़ता है कि सत्य किसी दूसरे को छोड़कर किसी एक में नही है। वह कही भी एक जगह नहीं है। पदार्थ में नहीं है, व्यक्ति में नहीं है, समाज में नही है—वह

एक एक में नहीं है। वह अनेक के ऐक्य में है। वह ऐक्य है।

अर्थात् जो किन्हीं दो को दूर से पास करता है; और पास से इतना पास करता है कि वे दो एक हो जायँ, जो बिना इतना किये चैन लेता नहीं और न चैन देता है—जगत में यदि कुछ ज्ञातव्य है। वह है प्रेम। लिखने-पढ़ने द्वारा अथवा व्यवसाय-तपस्या द्वारा यदि कुछ भी हमें खोजना है, जानना है, पाना है, तो वह वही प्रेम है।

शरद् ने यदि लौट-लौट कर अपनी रचनाओं में (स्त्री-पुरुष) प्रेम की चर्चा की, उसी की व्याख्या की, तो समाज-हित की दृष्टि से, लेखक की हैसियत से, इससे और अधिक करणीय कर्तव्य दूसरा हो कौन सकता है? अन्य बौद्धिक बातें झमेला हैं। वाद और विवाद बहुत से चल सकते हैं, चल रहे ही हैं। लेकिन उनके भीतर व्यर्थता बहुत है, सिद्धि यत्किंचित् भी नहीं है। उनके ऊपर दूकानदारी चल सकती है, लड़ाई बन सकती है, मानव-हित-साधन उनसे असम्भव है। प्रेम का योग यदि नहीं, तो बौद्धिकता जड़ता है, बन्धन है।

इसलिए शरच्चन्द्र ने अनावश्यक को छोड़ कर आवश्यक ही पकड़ा, जब कि उन्होंने राजनीति एवं समाजनीति देशोद्धार अथवा समाजोद्धार की चर्चा नहीं की। स्त्री-पुरुष के मध्य खिचाव की वेदना जितना सघन और सूक्ष्म रूप से शरद् चित्रित कर सके हैं, उतने ही अंश में वह अपने को ज्ञानी प्रमाणित कर सके हैं। षड्दर्शनों का पंडित कैसा दार्शनिक है, मैं नहीं जानता। पर शरद् खरे दार्शनिक हैं, यह मैं कृतज्ञभाव से स्वीकार करना चाहता हूँ। कलाकार का मैं और अर्थ नहीं जानता। कलाकार गतिशीलता में सत्य को बूझता है, पंडित का सत्य निस्पन्द है।

ऊपर कहा गया कि समाज-हित की दृष्टि से जो सर्वाधिक आवश्यक है, वह शरद् ने किया। समाज मानव-सम्बन्धों को लेकर बनता है। शरद् ने उन सम्बन्धों के भीतर भावना की उष्णता और आर्द्रता

पहुँचाई। समाज के भिन्न पदस्थ लोगों को (पुरुषों को, स्त्रियों को) उसने मानवता के पैमाने से नापा और नापना बताया। समाज में जो ऊंचा है, वह ऊँचा हो सकता है, नहीं भी हो सकता। कौन कहाँ किस जगह को भर रहा है, यह तो बाह्य परिस्थितियों पर अवलम्बित हो सकता है। मुख्य प्रश्न यह है कि वह वहाँ अपने स्वधर्म के मध्य कैसे वर्तन करता है। शरद ने इसी भीतरी दृष्टि से मानव-समाज को देखा और दिखाया। और इस व्यापार में जितने सहानुभूति-पूर्ण और सहज साम्य के साथ शरद ने कर्तव्य-पालन किया, उतना कम देखने मे आता है। रवि ठाकुर तक में पक्ष-समर्थन है। प्रेमचन्द में तो वह खूब उभार में है। इधर रूसी विचार से प्रभावित साहित्य में वह बेहद उग्रता से है। शरद की सहानुभूति व्यापक है, यह कथन इस कारण यथेष्ट नहीं है, क्योंकि वह सब कहीं एक-सी गहरी भी है। श्रीमान् की सहानुभूति और भी व्यापक हो सकती है; पर उसमें क्या अनुभूति की गहराई भी होती है? शरद में विस्तार कम है, तो घनता उस कमी को पूरा कर देती है। तात्विक गहनता उतनी नहीं है तब प्रसाद सविशेष है। उनकी रचनाओं में कहना कठिन हो जाता है कि कौन शरद को विशेप प्रिय है, कौन नायक है, कौन प्रतिनायक, कौन खल। जान पड़ता है, जैसे सब बस स्वयं है।

पर व्यक्ति की विशेपता ही उसकी मर्यादा भी होती है। शरद समाज-हित की दृष्टि से बेहद प्रभावक और उपादेय हैं (उनकी लोक-प्रियता देखिए!) तब आत्म-हित की दृष्टि उस साहित्य में विशेष नहीं है। शरद में व्यक्ति और समाज सदा परस्पर सम्मुख रहे है। व्यक्ति और विराट्, व्यक्ति और समष्टि का साम्मुख्य वहाँ नही के तुल्य है। उनकी नायिका वंगनारी-समाज की जैसी सदस्या है, क्या वैसी ही मानव नारी-समाज की भी है? शायद नहीं। उससे आगे वढ़कर क्या कोई ऐसी भी है, जो नर-नारी के भेद से (मानसिक स्तर पर) ऊँची हो

जाती है ? नहीं, ऐसा तो विलकुल नही। कोई पुरुप-पात्र नही है, जिसके लिए मध्य बिन्दु कोई सदेह नारी न हो, कुछ और हो। और कोई नारी नही है, जिसने देह-धारी पुरुप को लाँघ कर इसी भाँति किसी एक संकल्प को समर्पण अथवा वरण किया हो।

जहाँ प्रश्न उस तल तक उठता है, वहाँ भारत में हमारी आँख वर-वस रवीन्द्र की ओर उठ जाती है। समाज के हेतु से नहीं, वल्कि मानों अपने भीतर से ही रवीन्द्र के पात्र समूची प्रकृति के ही साथ द्वन्द्वग्रस्त है। वे जैसे अपनी ही गाँठ को खोलना चाह रहे हैं।

इसी से शरद जब कि हमारे जी को मथ डालते हैं, तब क्या वह हमें विराट् की ओर भी उद्बुद्ध करते हैं ? स्तूपाकार महदादर्श-पात्र शरद नही खड़े करते। पात्र देते हैं, वह प्रतीक नहीं देते।

लेकिन क्या हम इसे शरद की त्रुटि कहकर छुट्टी पाएँ ? मानव और मानव के प्रेम की, उनके सम्बन्धों की, समस्या को शरद ने इतना अपना लिया कि व्यक्ति और विराट् प्रश्न पीछे रह गया। पर क्यों इसके लिए भी हम सामाजिक व्यक्ति की हैसियत से उनके और अधिक कृतज्ञ नहीं हो सकते।

—४—

एक मित्र के साथ की बात-चीत भूलती नहीं है। भूल जाती, अगर मैं मित्र को मामूली मान सकता। विचार और परख के आदमी थे और तबीयत के साफ़। कलकत्ते रहते थे। मैं साधारणतया शरच्चन्द्र के बारे में जिज्ञासा से भरा रहता था। जानकारी जो मिले उसी को संग्रह कर लेना चाहता था।

मैंने कहा—"सुना है, शरद बाबू यहीं यहीं कलकत्ते मे किसी जगह हैं। आप जानते है ?"

बोले—"शरद नावलिस्ट न ? हाँ, रहते हैं। जगह बिलकुल ठीक तो नहीं जानता। कुछ काम है ?"

मैंने कहा—"काम तो क्या, यों ही पूछा। कभी मिलने को जी हो आता है।"

बोले—"जिससे मिलना चाहते हो, उसे जानते भी हो ? मैं तो मिलने की सलाह न दूँगा।"

पूछा—"क्यों ?"

बोले—"आदमी कुछ—यों ही है। तरीक़े का आदमी नहीं है। संस्कारिता उसमें नहीं दीखती।"

पूछा—"आप उनसे मिले हैं ?"

बोले—"मिला नहीं, देखा है। यों इतिहास काफ़ी कुछ जानता हूँ। असल में उस व्यक्ति को सभ्य सोसाइटी मिली भी तो नहीं। और जब मिली तब संस्कार पक चुके होंगे।" सुनकर मैं असमंजस में पड़ गया। जानना चाहा कि ऐसी अभद्रता के सूचक लक्षण उन्होंने क्या क्या पाए हैं। और फिर दीखनेवाली भद्रता क्या संदिग्ध वस्तु भी नहीं हो सकती ? कपड़े ढङ्ग के न हों तो क्या मन साफ नहीं रह सकता ?

मित्र ने बात सुनी अनसुनी कर दी और बताने लगे कि अजी वह शख़्स शराब इतनी पीता है कि तौबह !

मैंने पूछा—"तो ! इनों-गिनों को छोड़कर यूरोप-अमरीका में सब शराब पीते हैं, तो क्या यह कहना होगा कि सब अशिष्ट हैं ! शराब इतनी बड़ी चीज़ है ?"

बोले—"और भी ऐब हैं। सभी ऐब हैं।"

मैंने कहा—"सब तो कहाँ से होंगे। क्योंकि सब ऐब शरद में ही हो जावेंगे, तो बाक़ी हम आपके लिए क्या बचेगा ? पर सुनते हैं, उन्होने शादी नहीं की।"

मित्र सुनकर हँस दिए। वह हँसी जी की नहीं, व्यङ्ग की थी। बोले—"शादी बन्धन जो है।"

मुझे यह बात रुची नहीं। चाहा कि बात व्यंग्य से नहीं, सफ़ाई से हो।

बोले—"साफ़ मुझसे न कहलाओ। फिर एक क़िस्सा नहीं है। कहूँ भी तो क्या-क्या ? और तुम न सुनो तो अच्छा।"

कुछ रुक कर मैंने पूछा—"आपने उनकी रचनाएँ पढ़ी हैं ?"

बोले—"कुछ पढ़ी हैं। लिखता अच्छा है। लेकिन उससे क्या ?"

मैंने कहा कि मुझे नहीं मालूम होता कि लिखकर दूसरे के मन को प्रभावित करना इतना आसान काम है और वह काम बुरे मन और मैली तबियत से हो सकता है।

बोले—"अभी दुनिया और देखो। लिखना लिखना है, इन्सानियत और चीज़ है।"

मैं उन मित्र की शरद के प्रति ऐसी अप्रिय भावनाओं का भेद अब भी नहीं जानता हूँ। शरद से उनका वैर नहीं। फिर उन भावनाओं में ऐसी हीनता, ऐसी परुषता क्यों थी ? प्रतीत होता है कि ऐसे मामलों में स्वरति ही परवैर जितना काम दे जाती है। वह मित्र अपने सम्बन्ध में इतने आश्वस्त थे कि जैसे आत्म-निरीक्षण और आत्म-ग्लानि की उन्हें आवश्यकता ही न हो। इससे जिस आसानी से अपने को सही मानते थे, उसी आसानी से दूसरे को ग़लत मान सकते थे।

उन्होंने जानना चाहा कि आख़िर शरद को जानने की मैं क्यों इतनी उत्कंठा रखता हूँ। कुछ दिलचस्प कहानियाँ लिख दी हैं, इसीलिये ?

मैंने कहा—"हाँ।"

बोले—"कहानी तो मन-गढ़न्त कल्पना होती है। जो अच्छी कहानी लिखता है, वह अच्छा झूठ बोलता है, यही तो मतलब हुआ ?"

मैंने कहा—"यह भी सही। लेकिन क्या इतनी तसल्ली कम है कि बुरा झूठ नहीं बोलता? और जो अच्छा है, यह सच ही होता है। झूठ भी कभी अच्छा हुआ है?"

बोले—"चलो, तर्क छोड़ो। लेकिन उस शख्स से आखिर चाहते क्या हो?"

कहा—"प्रणाम-निवेदन करना चाहता हूँ। मैं उनका कृतज्ञ हूँ।"

वह मेरी इस भावना को नहीं समझ सके। मैं भी क्या समझा सकता था। निश्चय जाना, यह अन्त में भावनाओं का ही प्रश्न है। 'जाकी रही भावना जैसी'। क्योंकि इसके बाद उन्होंने शरद बाबू के सम्बन्ध में जाने क्या-क्या बातें न सुनाईं। उन्हें ज्यों-का-त्यों माना जाय तो शरद इतने काले बनेंगे, जितना कोयला। मैं सब सुनता रहा।

बोले—"अब भी उनके लिए तुम्हारा आदर कायम है?"

मैंने कहा—"सच कहूँ तो विस्मय कुछ बढ़ गया है। और आदर भी बढ़ गया है। जो शरद इतना मैला है और फिर भी अपनी रचनाओं से इतनी सुनहरी और विविध रंग की आभा बिखेर सकता है, तो इससे मेरे मन को यही मालूम होता है कि वह और भी जानने योग्य है, और भी गहन है।"

बोले—"तुम मेरा विश्वास नहीं करते?"

मैंने कहा—"इसीलिए नहीं करता कि मैं शरद को देवता नहीं समझना चाहता। उनकी रचनाओं में जो है, उस रचनाकार को सच मानूँ, और आपकी बातों में जो शरद दीखता है, उसे भी विश्वसनीय मान लूँ, तो शरद मानवोत्तर, लोकोत्तर हो जाते हैं—एकदम विस्मय-पुरुष।"

नहीं जानता कि भिन्न लोगों की भिन्न, यहाँ तक कि प्रतिकूल, धारणाओं का मेल कैसे बैठाया जावे। सच यह है कि सत्य अनन्त है। और झूठ बस अहंकार ही है, जिसका शरद में इतना अत्यन्ताभाव

है कि मन होता है कि कहूँ कि शरद धार्मिक पुरुष थे। उनकी रचनाएँ लगभग धर्म-ग्रन्थ ही हैं।

अचरज है कि जिस रचना की सहायता से मेरे मन में प्रीति का आवेश भर उठता है, उसी रचना के कारण दूसरे व्यक्ति को शरद दानव किस भाँति प्रतीत हो आते हैं। देखता हूँ कि मेरी कृतज्ञता और श्रद्धा उनके प्रति जितनी अडिग है, उस ओर की अश्रद्धा भी उतनी ही कट्टर है। पर वह जो हो और व्यक्तियों की मतियाँ जितनी भिन्न हों, यह पक्का निश्चय है कि जो शक्ति बिना किसी आयुध के कागज पर छपे शब्दों द्वारा किसी एक के भी जी को हिलाकर उसमें से उच्छ्वास और आँसू निकलवा सकती है, वह शक्ति दानवी नहीं है। नहीं, दानवी वह कभी नहीं है।

—५—

दर्शनशास्त्र के एक बंगाली प्रोफेसर से, जो अब चौथेपन में हैं और अवकाश-प्राप्त हैं, मिलने पर अक्सर कला और धर्म की चर्चा चल निकला करती है। कहने लगे—"कला और पैसा, ये दो हैं। एक दूसरे पर नहीं टिक सकते। कला को व्यवसाय बनाना गलत है। लेकिन जीना तो कलाकार को भी पड़ता है न। जीने मे पैसा लगता है। और आज दुनिया की यह हालत है कि पैसा पाने के लिये छीन-झपट की नीति चाहिए। राजनीति का बोलबाला है और पैसा मुद्रा-नीति के ताबे है। इससे कला का व्यभिचार होता है। व्यभिचार व्यभिचार हो, पर इससे टके जो सीधे होते हैं। इससे टके कि दुनिया में व्यभिचार आर्ट क्यों न हो जाय। इससे आज दिन 'आर्टिस्ट' के आर्ट की ज़रूरत नहीं है, 'आर्टिज़न' वाला आर्ट चाहिए। इससे आर्ट का सत्यानाश हो जायगा, माना, पर नोटों तो मिलेंगी…………"

बाबा (उनको हम यही कहते हैं) बोलते कम हैं, बोल पड़ते हैं तो रुकना सहज नहीं रहता। और इस आर्ट और व्यवसाय के विरोध के बारे में जैसे उनके भीतर कहीं घाव है। ठेस लगी कि फिर व्यथा ही वहाँ से निकल पड़ती है।

मैंने कहा—"सुनिए। आप शरद को जानते हैं ?"

बोले—"बंगाली हूँ, शरद को न जानूँगा ? हाँ, तुम समझते क्या हो। शरद पैसे को मिट्टी भी नहीं, मैल समझता था। कुरता-धोती से आगे उसने कपड़ा नहीं जाना। धन आया, पर मन पर क्या उसकी छाया भी आ सकी ?"

इसके बाद स्वदेश, विदेश, आदिकाल और आधुनिक-काल के कलाविदों की चर्चा उन्होंने छेड़ी कि—

मैंने कहा—"आप निकट से उन्हें जानते हैं न ?"

बोले—"हमारा एक क्लास-फ़ेलो शरद का बहुत घनिष्ठ मित्र रहा है।"

मैंने कहा—"मित्र ? तो शरद मित्र-हीन नहीं थे, जैसे कि वह पत्नीहीन थे ?"

बोले—"ओः, मित्र से वह बात नहीं। He was a solitary soul that way (उस दृष्टि से वह एकाकी थे)।"

मैंने पूछा—"निकट के रिश्तेदार हैं ?"

बोले—"रिश्तेदार होंगे। शायद हैं। पर मेरा विश्वास है कि शरद के अपने चक्कर में कोई नहीं है। या कहो किसी के चक्कर में वह स्वयं नहीं है।"

मैंने पूछा—"शादी ?"

"एक बरमीज कोई थीं। फिर वह भी नहीं थीं।"

"नहीं रही ! यानी—"

"नहीं नहीं। सुना, उन्हें खुद बरमा भेज दिया।"

वह व्यक्ति जिसने पत्नी-रूप में नारी को कभी नहीं पाया—प्रतिभा पाई, बासठ वर्ष की वय पाई, स्नेह से लबालब भरी आत्मा पाई, फिर भी नारी को जिसने पत्नी नहीं पाया—ठीक उसी व्यक्ति ने नारी हृदय को जितना स्पन्दनशील और सम्पूर्ण भाव से चित्रित किया, वैसा क्या कोई गृहस्थ कर सका ? नहीं कर सका ।

इसी से मै इस विरागी, फिर भी संसारी प्राणी के प्रति उत्कंठित जिज्ञासा से भर-भर आया ।

देवदास पार्वती की अलख जगाए रहा । लेकिन जब वह विवाहित पार्वती रात्रि के एकान्त मे सम्पूर्ण-भाव से उसके प्रति अपना आत्मार्पण-निवेदन कर उठी, तब निविड़ अधमाचार से घिरे देवदास ने क्या किया ? क्या पार्वती को लिया ? नहीं, लिया नहीं । मूर्ति की भाँति उसे अपने से दूर ही रक्खा । मूर्ति की भक्ति उसने अपने लिए चाही; मूर्ति पाने की स्पर्द्धा नहीं की ।

क्यों ?

मालूम होता है शरद स्वयं उसके जवाब हैं । और नहीं तो नारी-हृदय के प्रभु शरच्चन्द्र के चिर-एकाकी रहने का भेद हो क्या सकता है ? वह है, तो प्रेम की प्रगाढ़ता ही है ।

शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय

कलापूर्ण शैली का सबसे बड़ा गुण यह है कि उसमें बुद्धि और हृदय का पूरा मेल हो। इस निबध की, ऐसी ही 'गुणवती' शैली है। बुद्धि ने पॉच बातें कही हैं। साफ साफ निबध के पॉच खण्ड हैं। आलोचना समझने में तनिक सा भी भ्रम नही होता पर इन सुलझी हुई बातों में आलोचक के हृदय ने एक प्रेम का नाता समझाया है। पॉचो खण्डों में वही एक अखण्ड बात मिलती है कि शरद ने मानव-हृदय को पहचानने का यत्न किया था और पहचान भी लिया था। मानव-हृदय की यही अनुभूति—जीवन की यही ठोस वस्तु—शरद् का रहस्य है, उनकी सफलता और लोक-प्रियता का प्रधान कारण है। इसी एक बात को शरद ने अपनी अनेक कृतियों मे समझा है और उनके आलोचक जैनेन्द्र ने उसी को कई ढग से अपने निबध में परखने की चेष्टा की है। आलोचक की सबसे पहली चेष्टा होती है अपने हृदय को टटोलना कि उस पर क्या प्रभाव पड़ा है। आलोचना के पहले खण्ड से यह स्पष्ट है कि जैनेन्द्र के हृदय पर शरद् का बड़ा प्रभाव है। वे उन्हें असाधारण समझते है। सामान्य मानवता की प्रतिमूर्ति। जैनेन्द्र स्वय हिन्दी के यशस्वी कर्ता हैं, कहानीसाहित्य के मर्मज्ञ हैं, निष्पक्ष आलोचक है।

क्योंकि न तो वे शरद् के मित्र हैं और न बंगाली होने के नाते स्वसाहित्य के भक्त। ऐसे विदग्ध सहृदय का हृदय अवश्य कसौटी माना जा सकता है।

दूसरे खण्ड में आलोचक ने शरद की कृतियाँ ली हैं। पहले उन्होंने सीधे से अपनी बात कह दी कि शरद बहुत बड़े हैं। फिर उनकी रचनाओं में उन्होंने कारण ढूँढा है। रचनाओं में साधारणीकरण की वह शक्ति है कि सभी भावुकों के मन के निकट वे प्रत्यक्ष अनुभव बन जाती हैं। पर मननशील मनुष्य रचनाओं के भीतर पैठकर देखता है कि उनमें आत्मदान का धन है। यही आत्मदान शरद की आत्मा है, स्रष्टा का जीवन है। इससे भी बड़ी बात यह है कि सच्चा दाता दान करता है। जान बूझकर किसी कारण से नहीं, अपने स्वभाव से लाचार होकर। यदि कभी उसी महापुरुष को दान का ज्ञान हो गया तो फिर ज्ञान की गंध आने लगती है चाहे वह 'सु' हो अथवा 'कु'। शरद में यह ज्ञान-विज्ञान तनिक भी नहीं है।

तीसरे खण्ड में आलोचक एक अवदान सुनाता है जिससे भारत के कर्त्ताओं में शरद का स्थान स्थिर हो सकता है। वे सर्वश्रेष्ठ कहानीकार हैं। इसी बीच में यह बात भी कह दी गई है कि जबतक लोगों को अनुभव कम रहता है, प्रत्यक्ष जीवन की समझ पूरी नहीं हो पाती, तबतक वे सहृदय होने पर भी यही कहा करते हैं कि अमुक लेखक को कहीं से गुरुमंत्र मिल गया है, उसीके बल पर चमत्कार करता है। देखो न, बार बार वही प्रेम और प्रणय की कहानी आती है। विस्तार और व्यापकता तो है ही नहीं। आलोचक ने इन सब बातों का बड़ा बढ़िया उत्तर दिया है। यह शरद के लिए ही नहीं, 'प्रसाद' जैसे अन्य साहित्यकारों के लिए भी सोलह आने ठीक है।

चौथे खण्ड में शरद के घरेलू जीवन के बारे में बड़े पते की बात है। शरद चरित्रहीन थे। वे थे या नहीं पर लोकप्रवाद तो यही कहता है। प्रायः साधारण कोटि के उपदेशक और आलोचक, ऐसे कवियों को देखकर कह बैठते हैं कि इन सबका साहित्यिक जीवन ऊँचा होता है पर असली जीवन बहुत गिरा रहता है। इस क्रूर और भोली निन्दा का उत्तर हमारे निबंध-लेखक ने दो प्रकार

से दिया है। यदि हम सदय और सहृदय होकर देखे तो यह भावना की बात है— कवि, अच्छा कवि, कभी पतित और हीन हो नहीं सकता। दूसरी बात बुद्धि की है। कवि यदि चरित्र का काला है, वैसा काला कोयला जैसा वह कहा जाता है, और साथ ही उसकी देन, इतनी उज्ज्वल है कि दूसरों को भी उससे उजेला मिलता है, तो अवश्य ही वह महापुरुष है, लोकोत्तर व्यक्ति है।

पाँचवे खण्ड में शरद के चिर-एकाकी रहने की बात है। उनके न तो मित्र थे और न सबंधी। उनका घनिष्ठ कोई न था। ऐसे एकाकी (अकेलुआ) ने गृहस्थी को इतनी अच्छी तरह समझा कि गृहस्थ उस पर निछावर हो गए। इसका कारण था उसकी एकान्तसाधना —प्रेमसाधना।

इस निबध की शैली में एक बड़ा आकर्षण है। वह यह कि यद्यपि पाँच भिन्न बातों की ओट में केवल एक तत्त्व की—शरद के प्रेम तत्त्व की—व्याख्या है तथापि वे पाँचों खण्ड पाँच कहानी जैसे हैं। आपबीती घटनाओ का उल्लेख आलोचना की गंभीरता को भी रोचक बना देता है। इसी कारण आलोचनात्मक निबंध के मुख्य गुणो के साथ ही इसमें साहित्यिक पुट भी है। यह प्राभाविक आलोचना का अच्छा नमूना है। पाठक अपने हृदय की बात सुनाता है कि किस प्रकार उस पर प्रभाव पड़ा पर यह काम वह इतने कौशल से करता है कि उसके श्रोता पर भी प्रभाव पड़े और वह मूल कृति को पढ़ने के लिए उत्सुक हो जाय। इस प्रकार आलोचक अपनी भावानुभूति का अनुभव दूसरे को कराता है अर्थात् वह भी साहित्य रचता है। इसी से सफल प्राभाविक आलोचना स्वय साहित्य है।

आलोचना की ऐसी साहित्यिक शैली के बारे में कहा जा सकता है कि शैली की पूर्णता है अनेकता में एकता, स्वतन्त्रता में सरलता और स्पष्टता में वह कथन-शक्ति जो औचित्य को सँभालते हुए मानव-हृदय को झंकृत कर दे।

वंशज

बात भटनागर परिवार की है। प्रातः सात बजे लेडी डाक्टर ने कमरे से बाहर आकर हँसते हुए गृहिणी से कहा—"माताजी, बधाई है, बालगोपाल पधारे हैं।"

गृहिणी का चिन्ताकुल मुख एक बार ही श्वेत हो गया, मानों प्राण ही नहीं रहे देह में। कोने में बैठी नौकरानी क्षेमा की आँखों से चुपचाप आँसू बरसने लगे। लेडी डाक्टर ने मन ही मन चकित होकर सोचा—"भगवान ! यह क्या काण्ड है ? बालिका होने पर परिवार को रोते देखा है; पर बालक के शुभागमन पर गंगा-जमुना बहती तो सुनी नहीं !" लेकिन इस गंगा-जमुना बहाने का जो कारण है, वह किसी को क्या मालूम ? वर्तमान को समझने के लिये पुराने इतिहास के पन्ने उलटने पड़ेंगे।

और यह पहले की बात है—मेरठ में कृष्णबिहारी बाबू का परिवार बहुत पुराना है। बहुत पुराने के अर्थ हैं औरंगजेब के समय का। कृष्ण-बिहारी बात करते, तो किसी न किसी प्रकार वह पहुँच जाती उनके दो सौ वर्ष पहले के पूर्वज कृष्णचन्द्र तक। उनके जीवन की कौतुकमयी, आश्चर्ययुक्त, ऐश्वर्यपूर्ण घटनाओं का वर्णन करते २ उनका स्वभाव से शान्त चेहरा एक बार ही सुर्ख हो जाता, नेत्र चमकने लगते। और नेत्र चमकने की बात भी है। पूरे दो सौ वर्षों से इस परिवार ने अपना मस्तक ऊँचा रक्खा है। उनके वंशज अधिक नहीं हैं। पेड़ का तना बिलकुल सीधा खड़ा है। इधर उधर से शाख नहीं निकली, लेकिन है तो एक और सीधा। फिर कृष्णबिहारी के नेत्र वंश के वैभव को सोच-कर क्यों न गर्व से चमकें। कृष्णबिहारी के लड़के हैं आनन्दबिहारी। बस, एक हैं। इस परिवार में कभी दो लड़के नहीं हुए। यह भी परिवार के ऐश्वर्य और वैभव का शुभ-सूचक है।

जिस दिन आनन्दबिहारी की बहू के चौथी कन्या का जन्म हुआ, पड़ोसिन हेमनलिनी ने दबे हुए स्वर से गृहिणी को बधाई देकर कहा—"लड़की जिये, घर के लिये शुभ हो और भाई को लावे।"

गृहिणी लक्ष्मी ने तुरन्त ही कहा—"हेमनलिनी बहन, तुम लड़के के लिए सोच न करो। हमें लड़के के लिये कभी हाथ पसारना नहीं पड़ा। हमारा वंशज अपने समय पर आ जायगा।"

पास खड़ी हुई अन्नपूर्णा, जो दूर की बुआ लगती है जल्दी से बोली—"हेमनलिनी, हमारे लिए लड़कियाँ भी लड़के के समान हैं। हँसती क्यों नहीं हो जी? क्या मन ठीक नहीं है!"

समय से लक्ष्मी की बात पूरी हुई। बालक श्यामबिहारी ने शुभ समय में जन्म लिया। दादा और दादी की प्रसन्नता का आवेग मानो थमता ही नहीं। कृष्णबिहारी बाबू का आधा समय बीतता है ज्योतिषियों के साथ। सब एक स्वर से कहते हैं, बच्चा बड़ा भाग्यवान है। बड़ी

चमत्कारी कुंडली है महाराज ! जो भी हो, सारे परिवार में सुख की हँसी बिखर पड़ी। गृहिणी लक्ष्मी नौकर से भी बात करती तो हँसकर। नौकर-चाकर भी मानो प्रसन्नता में रँगे हैं। क्षेमा नौकरानी तो आधी पागल हो रही है। बहूजी, भैया साहब ! बस, बात यहीं रह गई, हँसी का फुहारा बरस पड़ा।

गृहिणी कहतीं—"अरी, तू क्या पागल हो जायगी ? क्या घर में कोई बात निराली हुई है ?"

जो कुछ भी हो; पर धूमधाम तो निराली ही है। दिन भर बाहर शहनाई बजती है। सदाव्रत खुला है। घर में कोकिल-कंठ से पारस्परिक स्त्रियाँ राग अलापती हैं। दिन भर लोगों के आने-जाने की चहल-पहल है। सारे शहर में मशहूर हो गया, भटनागर परिवार का वंशज आ गया।

इसी सुख की गंगा में नहा-नहा कर बालक चन्द्र की नाईं बढ़ने लगा। पहले दादा की गोद में लेटे-लेटे उनकी दाढ़ी के बाल नोचे, फिर कुछ दिन बाद छोटे-छोटे हाथों से हाथ पकड़ कर कहना सीखा—बा-बा-आ। कृष्णबिहारी बच्चे को गोद में लेकर गृहिणी से कहते—'देखती हो पेशानी। बच्चा बड़ा नाम वाला निकलेगा।' और प्यार से बच्चे के हाथ को अपने मुँह पर फेरते। फिर जब बच्चा और बड़ा हुआ, तब वह उनके साथ-साथ खाता और उन्हीं के पास सोता। इस तरह से बालक श्यामबिहारी के पाँच वर्ष बीत गये।

एक दिन संध्या को दादा के साथ घूम कर लौटा, तब माँ की गोद में छुपकर कहा—"माँ, मैं पढ़ूँगा।"

बाबा ने कहा—"हाँ, हाँ, भैया बड़ा हुआ, जरूर पढ़ेगा।"

गृहिणी की तरफ देखकर कहा—"सुनती हो जी, भैया का विद्यारंभ करवाना होगा। जल्दी ही, समझीं ! पंडितों को कल बुलवाना।"

पर हाय रे भगवान ! कल की बात को किसने जाना है ? इस रंगीन आवरण के पीछे का भेद किसने पाया है ?

सुबह हुई। नित्य की तरह दादा ने बच्चे के माथे पर हाथ फेरा और हाथ मानों वहीं माथे पर ठिठुर गया। यह क्या है ठण्ढा ? ठण्ढा क्या है ? कृष्णबिहारी चीत्कार करके गिर पड़े। पल भर ही में घर में हाहाकार मच गया। बालक सबका दिल लूट कर चला गया।

पड़ोसिनें आ-आकर सान्त्वना दे-देकर चली गईं। चलते २ हेमनलिनी ने तारा ठकुरानी से धीरे से कहा—"दुनिया में दुनिया के लोगों की तरह चलना चाहिए, भाई ! गर्व करने से देखो तो क्या होता है।" पड़ोसी रो-पीट कर चले गये, पर घर में तो मानों रात आ गई। एक ही बार। और इस रात में नक्षत्र भी तो नहीं है।

इस तरह बीत गये १८ वर्ष। और अब १८ वर्ष के बाद आज सुबह सुबह यह लेडी डाक्टर खड़ी खड़ी कह रही है कि 'बहूजी, बालगोपाल पधारे हैं।' तो यह गृहिणी क्या कहे, क्या करे ?

अन्दर कमरे में ४५ वर्ष की बहू बच्चे को गोद में लेकर घुमा-फिरा कर देखती है, यह स्वप्न है या सत्य ? बाहर कमरे में कृष्णबिहारी और आनन्दबिहारी बैठे हैं, कह रहे हैं, बालगोपाल आये हैं ! कौन से बालगोपाल ?

लेकिन घर में सन्नाटा है पूरा। अरे किधर हैं २३ वर्ष पहले की शहनाई और राग के सुर ? न आँसू है न हँसी ! केवल क्षेमा चुपचाप बैठे आँसू बहाये जा रही है !

वंशज

'वंशज' सुभद्रा काटजू की सफल कहानी है। देखने में छोटी पर प्रभाव में बड़ी मार्मिक है। करुण रस की कहानी है पर आँसू भीतर ही रह जाते है, सिर्फ मीठा सा दर्द मालूम पड़ता है। यही दर्द कथा का प्राण है।

कथावस्तु है बड़ी छोटी पर उसमें तेईस वर्ष की पूरी कहानी है। साकाक्षता आदि से अन्त तक बनी रहती है।

पूर्णता और साकाक्षता के साथ ही कहानी में घटना का वह आकर्षण भी है जिसके कारण साधारण पाठक भी उसे पढ़ता है। उसमें घरेलू कहानी की रमणीयता पूरी मात्रा में है। इसका सबसे बड़ा गुण है इसके संग्रह और त्याग की पहचान। न कोई बात छूटी है और न कोई कही गई है। केवल एक वाक्य ऐसा है जो कथा-वस्तु के नाटकीयत्व और साकांक्षत्व को शिथिल-सा कर देता है। 'पर हाय रे भगवान्!' वाक्य यदि न आता तो कथा का बन्ध और भी दृढ़ रहता।

भाषा और शैली के भी सभी गुण इसी कहानी में हैं। सीधी, सरल हिन्दी रसास्वादन में सहायक हुई है। लपेट और कृत्रिमता का नाम भी नहीं है। जिस प्रकार कथावस्तु किसी परिवार की एक 'बात' है उसी प्रकार भाषा भी किसी गृहिणी

की बातचीत है। यद्यपि शैली में नाटकीयता है तथापि वह इतनी स्वाभाविक है कि उसका अलकार उसी मे छिपा है। शैली का दूसरा बड़ा गुण है उपक्रम और उपसहार की एकात्मता। आरभ और अन्त दोनो ही बालगोपाल और आँसू के साथ सबद्ध हैं।

कहानी का ढलन वर्णनप्रधान है। उसमें कथोपकथन की अधिक गुजाइश नहीं। परन्तु जो वाक्य सवाद में आए हैं वे वक्ताओं के चित्र और चरित्र दोनों को स्पष्ट अंकित कर देते है। इसी प्रकार यद्यपि यह कहानी चरित्रप्रधान नहीं है, रसप्रधान है, तथापि कृष्णविहारी, गृहिणी, बुआ अन्नपूर्णा, पड़ोसिन, हेमनलिनी आदि के चरित्र पूरे व्यक्त हो गए है। पढ़ने में ऐसा लगता है कि हमे भी ऐसे जीव देखने को मिले हैं।

अन्त में यदि कहानी का कोई प्रयोजन पूछा जाय तो यही कहना पड़ेगा 'भली बात सुनाने का भी कोई प्रयोजन हो सकता है ?' रोज ही पड़ोसिनें आपस में ऐसी बातें कहा सुना करती है। कलाकार ने उन्हीं में से एक को लिख दिया है। यह निष्प्रयोजनता कला की सफलता है।

इस प्रकार कहानी में एक मार्मिक भाव का पूरा चित्रण हुआ है। लोगो की हँसी और आँसू चित्रित करके अनुभव कराया गया है उस हृदय का जिसमे न आँसू हैं न हँसी।

पूरी कहानी पढ़ सकने पर आलोचक संतोष के साथ कहता है कि 'वशज' नाम सोलहो आने ठीक है। करुण रस को पुष्ट करनेवाली बात वंशज का सहज प्रेम ही है।

पत्र-लेखन-कला

सन् १८८७—

२१ वर्ष का एक फ़रासीसी युवक पेरिस की एक मामूली गली में अपने छोटे-से कमरे में बैठा हुआ है। वह कला और गानविद्या का प्रेमी है। अभी हाल ही में टाल्सटाय की पुस्तक "हमारा कर्तव्य क्या है ?" (What is to be done) छपी है। इस पुस्तक में टाल्सटाय ने कला सम्बन्धी प्रचलित विचारों पर काफ़ी ज़ोरदार आक्षेप किये हैं। इस पुस्तक को पढ़कर उस युवक की मानसिक स्थिति डावाँ-डोल हो गई, क्योंकि अब तक वह टाल्सटाय को अपना आदर्श मानता रहा है। उसने मन में सोचा कि चलो, टाल्सटाय को एक चिट्ठी ही लिख दूँ। वह महान लेखक मेरे जैसे मामूली युवक के पत्र का उत्तर तो भला क्यों देने लगा। उसने टाल्सटाय को एक पत्र भेज दिया, जिसमें उसने अपनी शंकाएँ लिखी थीं। और कुछ दिनों तक उत्तर

की प्रतीक्षा भी की, फिर इस बात को भूल ही गया। कुछ सप्ताह इसी तरह बीत गये। एक दिन शाम के वक्त वह अपने कमरे पर लौटा, तो क्या देखता है कि फरासीसी भाषा में एक लम्बी चिट्ठी कहीं से आई है! उसको खोलने पर मालूम हुआ कि यह तो टाल्सटाय का पत्र है! यह पत्र ३८ पृष्ठ का था, या यों कहिये कि एक छोटा सा ट्रेक्ट ही था। उस अपरिचित साधारण युवक को टाल्सटाय ने 'प्रियबन्धु' लिखा था। पत्र के प्रारम्भिक शब्द थे—"तुम्हारी पहिली चिट्ठी मुझे मिली। उससे मेरा हृदय दुःखित हो गया। पढ़ते-पढ़ते आँखों में आँसू आ गये।" इसके बाद टाल्सटाय ने अपने कला-सम्बन्धी विचार उस पत्र में प्रकट किये थे—"दुनियाँ में वही चीज़ कीमती है, जो मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध को दृढ़ करे, जो उनमें भ्रातृभाव स्थापित करे, और सच्चा कलाकार वही है, जो अपने सिद्धांतों तथा विश्वासों के लिये त्याग और बलिदान करने के लिये तैयार हो। सच्चे पेशे की पहिली शर्त कला का प्रेम नहीं, बल्कि मानव-जाति से प्रेम है। जिनके हृदय में मनुष्य-जाति के प्रति प्रेम है, वे ही कभी कलाकार की हैसियत से उपयोगी कार्य करने की आशा कर सकते हैं।" टाल्सटाय के विस्तृत पत्र का सारांश यही था।

इस पत्र ने उस युवक के हृदय पर बड़ा भारी प्रभाव डाला। सबसे महत्वपूर्ण बात उसे यह जॅची कि इस विश्व-विख्यात महापुरुष ने मेरे जैसे एक अपरिचित युवक को इतनी लम्बी और सहृदयतापूर्ण चिट्ठी भेजी है। और तब से उस युवक ने यह निश्चित कर लिया कि यदि कोई आदमी अपने संकट के समय में अन्तरात्मा से कोई पत्र भेजेगा, तो मैं अवश्य ही उसका उत्तर दूँगा, क्योंकि संकटग्रस्त मनुष्य की सेवा ही कलाकार का सर्वोत्तम गुण है।

इस घटना को आज ४९ वर्ष होने को आये। इन ४९ वर्षों में उस युवक ने, जो आज रोमाँ रोलाँ के नाम से संसार प्रसिद्ध हो चुका है, हजारों ही चिट्ठियाँ लिखी हैं और सहस्रों ही व्यक्तियों के लिये पथ-

प्रदर्शक का काम किया है। टालसटाय की उस एक चिट्ठी ने जो बीज बोया था, वह आज वटवृक्ष के रूप में लहलहा रहा है। रोमाँ रोलाँ के लिखे हुए हजारों ही पत्र जो साहित्यिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। संसार के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के पास सुरक्षित हैं। जिस दिन टालसटाय ने उस पत्र के लिखने में अपने समय के कुछ घण्टे व्यय किये थे, उन्होंने स्वप्न में भी यह ख्याल न किया होगा कि आगे चलकर मेरा यह पत्र इतना सफल होगा।

इस घटना से पत्र-लेखन-कला का महत्व प्रकट होता है। क्या ही अच्छा हो, यदि हम लोग—ख़ास तौर से हिन्दी-लेखक और सम्पादक—इस बात को हृदयङ्गम कर लें। पत्र-लेखन-कला पर अधिक लिखने के पहिले एक बात स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है, वह यह है कि जो आदमी वज़ात खुद अच्छा नहीं है, वह अच्छा पत्र-लेखक हर्गिज़ नहीं बन सकता। कृत्रिम ढंग से लिखे हुए पत्रों की पोल बड़ी आसानी से खुल जाती है। जिस तरह कोई कुशल व्यापारी रुपये को हाथ में लेते ही खरे और खोटे सिक्के की पहचान कर लेता है। उसी तरह किसी सुसंस्कृत आदमी के लिये स्वाभाविक और बनावटी पत्रों में भेद करना कोई मुश्किल बात नहीं है। इसके सिवा बने हुए पत्र काग़ज़ी नाव की तरह हैं, जो चल नहीं सकते। काठ की हाँड़ी की तरह केवल एक बार आप उनसे काम ले सकते हैं। अच्छा पत्र-लेखक बनना अत्यन्त कठिन है। अन्य क्षेत्रों में तो आपको थोड़े से आदमियों का मुकाबिला करना पड़ता है; पर यह क्षेत्र तो ऐसा है, जिसमें दुनियाँ आपकी प्रतिद्वन्द्विता के लिये खड़ी है, क्योंकि चिट्ठियाँ तो लाखों-करोड़ों ही आदमी नित्यप्रति लिखा करते हैं।

खेद की बात है कि हिन्दी साहित्यसेवियों ने इस कला के महत्व को अभी तक नहीं समझा। हिन्दी में अभी तक एक भी ऐसी पुस्तक नहीं निकली, जिसमें इस कला पर विस्तारपूर्वक लिखा गया हो, और

जिन महानुभावों ने पुस्तकें लिखी हैं, वे खुद इस विषय के विशेषज्ञ नहीं है। इन पंक्तियों के लेखक को चिट्ठी लिखने का एक व्यसन-सा रहा है, और पिछले पचीस वर्ष में उसने हजारों ही चिट्ठियाँ लिखी होंगी और सैकड़ों ही चिट्ठियों का संग्रह उसके पास है। अतएव वह अपने इस विषय के अनुभवों को 'विशाल भारत' के पाठकों के सम्मुख उपस्थित करता है।

हिन्दी-क्षेत्र के जितने लेखकों, कवियों तथा सम्पादकों से पत्र-व्यवहार करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है, उनमें पूज्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा, स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी और स्वर्गीय पं० श्रीधर पाठक मुख्य हैं। नवीन लेखकों के नाम हम यहाँ जान-बूझकर छोड़ रहे है। उनका ज़िक्र हम द्वितीय लेख मे करेंगे।

यदि पत्र-लेखन-कला के सब गुणों को मिला कर देखा जाय, तो निस्संदेह स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा इस कला के आचार्य सिद्ध होंगे। उनका मुक़ाबला करनेवाला पत्र-लेखक हिन्दी-क्षेत्र में अब तक कोई नहीं हुआ और न निकट भविष्य में इसकी आशा ही की जा सकती है। पत्र-लेखन के लिए जिस फ़ुर्सत की आवश्यकता होती है, वह स्वर्गीय शर्मा जी के पास खूब थी, और साथ ही भाषा पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। इनमें सबसे बड़ी बात यह थी कि वे अत्यन्त सहृदय और ज़िन्दादिल आदमी थे। इसलिए वे कलम के रास्ते काग़ज़ पर कलेजे को उड़ेल कर रख सकते थे। उनकी सम्भाषण-शक्ति और स्मरण-शक्ति भी अद्भुत थी। ग़रज यह कि अच्छे पत्र-लेखक में जो गुण होने चाहिये, वे उनमें आश्चर्यजनक मात्रा मे विद्यमान थे। स्वर्गीय शर्मा जी की लगभग छै सौ चिट्ठियाँ हमारे पास सुरक्षित हैं और यदि किसी के पत्रों का संग्रह पुस्तकाकार छपाने योग्य है तो वे शर्मा जी की ही हैं।

हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र के बाहर के आदमियों में जिनके पत्रों का छोटा-मोटा संग्रह हमारे पास है, उनमें दीनबन्धु सी० एफ० ऐण्ड्रूज़ और

माननीय श्रीनिवास शास्त्री मुख्य हैं। महात्मा गान्धी के भी अनेक पत्र है, और दो तीन चिट्ठियाँ कवीन्द्र की भी हैं। पत्र लेखकों मे मि० ऐण्ड्रूज़ के मुकाबले के आदमी बहुत कम निकलेंगे। स्वयं कवीन्द्र रवीन्द्र ने 'मोरिया' नामक जहाज़ से अपने १५ जुलाई सन् १९२१ के पत्र में मि० ऐण्ड्रूज़ को लिखा था—

"About one thing I can never hope to compete with you. As a letter-writer you are incomparable."

अर्थात्—"एक बात में मैं आपका मुकाबला करने की आशा भी हर्गिज़ नहीं कर सकता। पत्र-लेखक की हैसियत से आप अद्वितीय हैं।" इसके बाद गुरुदेव ने लिखा था—"आपके पत्र एक के बाद एक इस प्रकार आते है, जैसे प्यासी ज़मीन पर वर्षा का जल, और आपके लिए पत्र लिखना उतना ही स्वाभाविक है, जितना शान्ति-निकेतन के शाल-वृक्षों के लिए वसन्त ऋतु में नवीन पत्रों का धारण करना।"

मि० ऐण्ड्रूज़ की जो प्रशंसा कविवर ने की है, उसमें अत्युक्ति नहीं; पर स्वयं कविवर पत्र-लेखको में शिरोमणि है। जो महानुभाव उनके अँगरेज़ी पत्रों को पढ़ना चाहें, वे George Allen के यहाँ छपी हुई उनकी Letters to a Friend (एक मित्र को पत्र) नामक पुस्तक पढ़ सकते हैं। इस संग्रह में अनेक पत्र लाजवाब हैं, और उनका सौंदर्य तो पढ़ने पर ही प्रकट होता है। कवीन्द्र के बॅगला पत्र तो उनसे भी अच्छे हैं।

महात्मा जी के पत्रों में मतलब की बात रहती है, और ज्यों ज्यों उनका कार्यक्षेत्र बढ़ता जाता है, उनके पत्र छोटे होते जाते हैं। दरअसल महात्मा जी ऐसे कार्य्यव्यग्र महापुरुष से लम्बे पत्रों की आशा करना ही व्यर्थ है। उनके बाज़-बाज़ पत्र तो मन्त्र की तरह होते हैं। अपनी जिन्दगी भर के अनुभवों का निचोड़ महात्मा जी जिस खूबी के साथ

एक दो वाक्यों में रख देते हैं, उसे देखकर आश्चर्य होता है। अभी साल-दो-साल पहले तक महात्माजी प्रायः सभी आवश्यक पत्रों का उत्तर अपने हाथ ही से लिखते थे। दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के नाम उन्होंने जो पत्र लिखे थे, वे ख़ास तौर से महत्वपूर्ण हैं।

कोई-कोई चिट्ठी तो रात दो बजे उठकर लिखी थी; पर जब तक महात्माजी एक पत्र का उत्तर दे पाते, तब तक मि० ऐण्ड्रूज़ दो चिट्ठियाँ और भेज देते! आख़िर कवीन्द्र की तरह महात्माजी भी उनसे हार मान बैठे। महात्माजी ने एक बार मुस्करा कर कहा था—"ऐण्ड्रूज़ ही एक ऐसा आदमी है जो तार में भी प्रेम भेजा करता है।"

दिल्ली में जब महात्माजी ने २१ दिन का उपवास किया था, उस समय मि० ऐण्ड्रूज़ उनके चौकीदार होकर रहे थे। जब उपवास सकुशल समाप्त हो गया, तो मि० ऐण्ड्रूज़ साबरमती आश्रम में चले आये। उस वक्त महात्माजी ने उन्हें दिल्ली से लिखा था —

"I have been missiॊn you every moment! Oh! for your love" अर्थात्—मुझे आज तुम्हारी क्षण क्षण पर याद आती रही। तुम्हारा प्रेम भी क्या अद्भुत चीज़ है! मि० ऐण्ड्रूज को वे My dearest Charlie (मेरे अत्यन्त प्रिय चार्ली) लिखते हैं। यदि महात्माजी अनुमति दे दें, तो ये पत्र अनुवाद-सहित छपाये जा सकते हैं।

माननीय श्रीनिवास शास्त्रीजी के पत्र उनकी सुसंस्कृति के प्रबल प्रमाण हैं। उनका एक छोटा-सा पत्र भी पत्र-लेखन-कला का नमूना होता है। उनके हस्ताक्षरों को देखते ही हृदय में उत्कण्ठा हो जाती है कि पत्र खोलकर जल्दी से जल्दी पढ़ा जाय। पढ़ते ही तबियत खुश हो जाती है। संयत भाषा, चुने हुए शब्द, अद्भुत गुणग्राहकता, स्वाभाविक विनम्रता और सहज स्नेह का ऐसा विचित्र सम्मेलन भला और कहाँ

मिल सकता है ! माननीय शास्त्रीजी यद्यपि हिन्दी नहीं जानते, पर कविवर रहीम के निम्नलिखित दोहे को उन्होंने अवश्य हृदयङ्गम कर लिया है—

"जो गरीब सों हित करैं, धनि रहीम वे लोग ;
कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग ।"

"Don't worry dear friend & brother. Up and down, up and down, is the course of any people."—प्रिय मित्र और भाई, फ़िक्र न करो । प्रत्येक जाति के जीवन में उन्नति और अवनति के क्रम आया ही करते हैं । * किसी भी निराश व्यक्ति को उत्साहित करने के लिये माननीय शास्त्रीजी के पत्र टॉनिक का काम कर सकते है । इन पंक्तियों के लेखक की तरह के लाखों ही आदमी शास्त्रीजी को चाहे जब मिल सकते हैं; पर शास्त्रीजी की उदारता भी अद्‌भुत है ।

ग़लतफ़हमी होने की आशङ्का के कारण हम उनके पत्रों के प्रेमपूर्ण अंश उद्‌धृत नहीं कर रहे है । जिन महानुभावों का जीवन इतना कटु बन गया है कि वे सदुद्देश्य से कही हुई प्रत्येक बात के पीछे कोई-न-कोई Motive (भीतरी उद्देश्य) तलाश करते है, वे तो हर हालत मे अर्थ का अनर्थ करते ही है; पर हमारे कितने ही सुसंस्कृत पाठक भी इस मर्ज़ में मुबतला है ।

शास्त्रीजी के पत्रो की मधुर स्मृति बहुत दिनों तक बनी रहती है; पर इससे विपरीत कोटि के पत्र भी कभी-कभी हमें मिलते रहते हैं, और उनसे किसी भी सहृदय मनुष्य के हृदयाकाश में घटा छा सकती है । प्रशंसा से जो उत्फुल्ल न हों और निन्दा से जो विचलित न हों ऐसे मनुष्य सन्त-समाज में ही पाये जाते है ।

---

* वह अंश शास्त्रीजी के उस पत्र का है, जो उन्होंने केनिया के अन्यायपूर्ण निर्णय के दिनों में लिखा था । —लेखक

यदि आपको कोई लिखे—"तुम धूर्त हो, मूर्ख हो, पाखण्डी हो, भौंड़ हो, अहंकारी हो, आडम्बरी हो, पतित हो, बेपेंदी के लोटे हो, तुम्हारा कोई सिद्धान्त नहीं, कोई Sincerity नहीं", तो इस विष का पान करने के लिये आपको भगवान शिवशंकर की योग्यता हासिल करनी होगी। हमारे साहित्य-क्षेत्र का यह दुर्भाग्य है कि ऐसे पत्र-लेखक हमारे यहाँ विद्यमान हैं, और वे अपने तथा दूसरों के जीवन में कटुता का प्रवेश प्रायः किया करते है। इस प्रकार के अनेक पत्र पाकर हम इस परिणाम पर पहुँचे है कि जिन्हें कब्ज रहता है—शारीरिक या मानसिक—अथवा जिन्हें मन्दाग्नि अथवा 'अकल अजीरन रोग' है, वे ही ऐसी चिट्ठियाँ लिख सकते हैं। जिसका पेट साफ नहीं रहता, उसके लिए पेट का साफ होना मुश्किल है। पत्रों में तो नहीं, हाँ, बात-चीत में ऐसी अक्षम्य भूले हमसे भी कई बार हो चुकी है, और उनका प्रायश्चित कर लेने पर भी हमें आज भी उनके लिए लज्जा अनुभव होती है। पत्रों का पेट से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस बात को हम अच्छी तरह समझ गये है। एमर्सन ने एक जगह लिखा है:—A man Should make life and nature happier to us, or he had better never been born.—मनुष्य का कर्तव्य है कि वह हमारे लिये जीवन तथा प्रकृति को मधुर कर दे, यदि वह ऐसा नहीं कर सकता तो बेहतर है कि वह पैदा ही न होता।

स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा ऐसे व्यक्ति थे, जिनके प्रत्येक पत्र को बड़ी उत्कण्ठा से खोला जाता था, जो अपने दाद देने के अद्भुत गुण के कारण चिरकाल तक साहित्य मे जीवित रहेंगे। जीवित साहित्य-सेवियों में से पूज्य द्विवेदी जी भी उसी कोटि के हैं। इस लेख को हम स्वर्गीय शर्मा जी के एक पत्र के साथ समाप्त करते हैं। इस लेखमाला के अगले लेखों में हम पत्र-लेखन-कला के अन्य उदाहरण देंगे:—

प्रिय चतुर्वेदी जी नमस्कार।

आज जब आपको रजिस्टर्ड पैकिट रवाना कर चुका, तो ४ बजे के करीब 'विशाल भारत' ने दर्शन दिये, यानी प्रेस की डाक में पधारे। कल इंडियन प्रेस में ठा० श्रीनाथ सिंह जी के पास थोड़ी देर यों ही उलट पलट कर देखा था। ऐनक यहाँ भूल गया था, इसलिये कठिनता से हेडिंग देख सका था। मैं रात को इतमीनान से देखना चाहता था कि यहाँ अचानक एक उपद्रव खड़ा हो गया, यानी गाने बजाने की कन्सर्ट पार्टी आ डटी। एक सज्जन सितार के एक्सपर्ट, दूसरे वेला के प्रवीण वाजीगर, तीसरे तवले के मास्टर, चौथे ताल और दाद देने में पटु और मजा यह कि सब-के-सब ग्रेजुएट और एल. एल. बी.। इनमें पहिले हिन्दुस्तानी और बाकी बंगाली ; सब-के-सब ब्राह्मण—एक द्विवेदी, बाकी मुकरजी। मैं 'विशाल भारत' पढ़ना चाहता था, उधर संगीत शुरू हो गया। मुझे पढ़ने का व्यसन तो है ही ; पर सुनने के लोभ को संवरण नहीं कर सकता। पार्टी में सम्मिलित न होना शिष्टाचार के विरुद्ध समझा। मण्डली के पास बैठ कर सुनना ही पड़ा ; पर हाथ में 'विशाल भारत' लेकर बैठा, एक साहब बोले, इसे रख भी दो, सुनोगे कि पढ़ोगे ? मैंने कहा कि दोनों काम साथ-साथ करूंगा। साहित्य और संगीत के आकर्षण की तुलनात्मक परीक्षा हो जायगी, देखूँगा किसमें अधिक आकर्षण है ? मुझे जब कभी ऐसा मौका मिल जाता है कि कोई अच्छी पुस्तक—वह भी काव्य पढ़ता हूँ और पास ही संगीत हो रहा हो, तो एक अद्भुत आनन्द आता है, काव्य में—जिसे उस समय देख रहा हूँ—नई-नई बाते सूझने लगती हैं। हाँ, हारमोनियम से मुझे क़ुदरती नफरत है। अच्छे-अच्छे बजानेवालों को सुना है ; पर मुझे कभी अच्छा नहीं लगा—खासकर सितार, सारंगी या वेला के साथ तो बहुत ही बुरा लगता है। ख़ैर, पहले सितार का गत बजा उधर मैंने आपका सम्पादकीय पढ़ना शुरू किया। बड़े मजे में पढ़ता रहा और

आपके ज़ोरे-कलम की दाद देता रहा। 'सारनाथ में क्या देखा' खूब लिखा है। मार्के की टिप्पणी है। श्री शंकराचार्य पर आक्रमणवाली बात मुझे भी बहुत ही बेतुकी और मूर्खतापूर्ण मालूम हुई। मैं आपके साथ मिस्टर धर्मपाल से मिलने गया होता, तो उन्हें इतना फटकारता कि याद रखते। मैंने पत्रों में जब उनके भाषण की रिपोर्ट पढ़ी थी, तो बहुत बुरी मालूम हुई थी। शंकराचार्य का मुकाबला तो संसार भर के दार्शनिक भी मिल कर नहीं कर सकते। मिस्टर धर्मपाल तो उनकी बातें समझेंगे भी नहीं। ख़ैर, सितार के बाद बेला की बारी आई। बेला सितार से भी अच्छा बजा, बड़ा तैयार हाथ था, उस समय मैं नन्द-दासजीवाला लेख देख रहा था। कान उधर लगे थे और आँखे लेख में मन द्रुतगति से दोनों ओर काम कर रहा था। कई बार दो-चार मिनट के लिए आँखों को भी कान का साथ देना पड़ा। गत इस सफाई से फिर रहा था, हाथ इस तेज़ी से चल रहा था कि न देखना अन्याय था। बेला के साथ मैंने नन्ददासजी को समाप्त कर डाला। नन्ददासजी की कविता मुझे भी बहुत पसन्द है। आपने खूब लिखा है। तबीयत खुश हो गई। 'भारतमित्र' प्रेस की छपी 'रासपचाध्यायी' की एक प्रति मेरे पास है, जो स्वर्गीय श्री सत्यनारायणजी ने मुझे दी थी। उसपर उनके पेन्सिल से लिखे नोट भी हैं। इसीलिए मैंने उसे बड़े प्यार से रख छोड़ा है। सत्यनारायणजी ने उस प्रति से सब 'रासपंचाध्यायी' बड़े ही मधुर स्वर में पढ़कर सुनाई थी। उस पुस्तक को जब देखता हूँ, तो वह दृश्य आँखों में फिर जाता है, हा !

बेला की जब द्वितीयावृत्ति हुई, तब मैं उजड़ी वाटिका देख रहा था वह कविता मुझे बहुत पसन्द आई। यह 'चकोरी' देवी कौन हैं? अच्छा लिखती हैं। मैंने पहिली बार ही इनकी रचना पढ़ी है। तीसरे छन्द की अन्तिम पंक्ति पढ़ते धचका-सा लगता है। उसमें छन्दो-भंग या ध्वनिभंग है। मात्राएँ तो गिनी नहीं; पर धचका ज़रूर लगता है। ज़रा पढ़ देखिये।

हाँ, रत्नाकर जी के उस कविता का योग्य अन्तिम चरण क्या है? ज़रा हम भी तो सुनें!

श्री चिन्तामणि जी के सुपुत्र श्री बालकृष्णराव जी अपनी पुस्तक मुझे दे गये हैं। जिस वक्त दोपहर को वह यहाँ पुस्तक देने आये, उस दिन मेरी तबीयत अच्छी न थी। लेट रहा था। वह कुछ देर बैठ कर और रघुनन्दन जी को पुस्तक देकर चले गये। मुझे किसी ने सूचना न दी। फिर पं० केशवदेव जी शर्मा के मार्फ़त उनकी इच्छा मालूम हुई कि मैं उसपर सम्मति लिख दूँ। मेरा विचार उसपर एक नोट विशाल भारत में भेजने का है। बहुत अच्छी कविता है। बालकृष्ण राव प्रोत्साहन के पात्र है। अस्तु कन्सर्ट पार्टी की एक बात लिखना भूल गया। सितार और बेला के बाद 'हारमोनियम' का नम्बर आया, तो मैंने यह कहा कि अंगूर खिला कर यह निबौलियाँ क्यों खिलाते हो?—

'जीभ निबौरी क्यो लगै बौरी! चखि अँगूर?

सितारा आदि बाजों के लिये यह 'हारमोनियम' भी वैसी ही बला है; जैसी तुलसीदास की रामायण के लिये 'राधेश्याम रामायण'! भारतीय संगीत-कला को इस 'हारमोनियम' ने बड़ी हानि पहुँचाई है।

आज के पैकट में ठा० गुरुभक्तसिंह जी की दो पुस्तकें मैंने भेजी है। उन्हें ज़रा देख जाइये। शायद कोई कविता आपको पसन्द आ जाय। उनकी कविता और चित्र दे दीजिये, सम्मति भी छाप दीजिये।'

अब बस करता हूँ, १२ बजने को है।

मैं परसों प्रातःकाल की गाड़ी से आगरे जा रहा हूँ। पटे जी से मिलूँगा। उनकी कविता इस अंक में तो नहीं आई, अगले में ज़रूर जाय।

हिन्दी प्रेस, प्रयाग १५–१२–३१ पद्मसिंह शर्मा

पुनश्च—१७–१२–३१ के 'भारत' में तीसरे पेज पर एक लम्बा लेख 'हिन्दी के विकास में बाधा' न पढ़ा हो तो पढ़ लीजिये। आपको

'सम्पादन-कौशल' का सार्टीफिकेट 'भारत' सरकार से मिला है, बधाई है ! बधाई !!!

× × ×

'श्यामसगाई सचमुच सुन्दर कविता है। मैंने पत्र लिखने के बाद फिर पढ़ी। २७ पद्य की दूसरी पंक्ति ठीक नहीं मालूम होती—'जोरी' से पहले 'ये' का 'यह' हो और 'विधाता' की जगह 'विधना' तो शायद ठीक हो जाय।

वर्माजी ने मुसोलिनी को समाप्त कर डाला ? बड़ी बहादुरी का काम किया। श्री सम्पूर्णानन्द जी के विषय में लिखते हुए उपसंहार में जो-कुछ लिखा है, उससे मैं पूरी तरह सहमत हूँ। साहित्य-सेवी का सैनिक बनना उचित नहीं।

पत्र-लेखन-कला

शुद्ध साहित्य और ज्ञानसाहित्य के बीच की चीज है प्रयुक्त साहित्य। उसमें सौन्दर्य और सत्य दोनों का मिश्रण रहता है। इसकी कला को परखने वाले इसे सच्चे साहित्य की सीमा के भीतर ही रखते हैं। अतिमधुरप्रिय या अरोचकी आलोचक ऐसी खिचड़ी को 'वेस्वाद' या रोगी का पथ्य कहकर कोस सकते हैं पर अनुभव कहता है कि उसमें भी रस है, स्वाद है। प्रस्तुत निबन्ध ऐसा ही है। शीर्षक से झलकता है कि यह 'पत्र-लेखन-कला' का विवेचन है। पर पढ़ने पर भाषा की सुघराई और शैली की साहित्यिकता हमें अपना लेती है। सीधा शिक्षक सीधे सीधे कहता कि 'पत्र का उत्तर अवश्य देना चाहिए, पत्र बनावटी नहीं लिखना चाहिए, पत्र में लेखक के चरित्र की छाया रहती है' इत्यादि। पर यह कोरी सीख होती, पाठशाला की नीरस शिक्षा होती। वही बात जब कान्तासम्मित चतुरता से अथवा सुहृत्सम्मित सहृदयता से कही जाती है तो सीधे हृदय तक पहुँच जाती है, मन में बैठ जाती है। निबन्ध-लेखक ने ऐसी ही शैली को अपनाया है। इसीसे उसके उपदेश से लाभ उठाने के साथ ही हमारा मन उसमें रमता भी है। यही साहित्यिक शैली की शक्ति है। व्यंग्य और विनोद का पुट भी इसमें उचित मात्रा

में है। सहज ही में साहित्यानंद के साथ शिक्षक विद्यार्थी और लेखक इस सौम्य और मनोहर शैली से लाभ उठा सकते हैं। यदि पाठशाला और स्कूल के निबन्धो मे ऐसी शैली वर्ती जाय तो शुष्क निबन्ध की नीरसता अवश्य मिट जाय। इस निबन्ध का आरम्भ जैसा नाटकीय और कुतूहलजनक है उसी प्रकार उपसहार साहित्यिक और मनोरम है। बीच में छोटे बड़े पत्र-लेखको की ऐसी सजीव चर्चा हुई है कि जानकारी के साथ साथ मनोरजन भी होता है। ये ही तीन गुण विषय-प्रधान निबन्ध की शोभा बढ़ा सकते है। इस प्रकार यह निबन्ध अप्रत्यक्ष रूप से निबन्ध-लेखन-कला सिखाता है।

जयशंकरप्रसाद १९४६-१९९५

छायावाद के उत्कृष्ट कवि प्रसाद का जन्म संवत् १६४६ में काशी के प्रसिद्ध घराने में हुआ। बारह वर्ष की अवस्था में ही आपसे पिता की छत्रच्छाया छिन गई; और आपने विश्वविद्यालय में यथाविधि शिक्षा न पाकर घर पर ही संस्कृत, फारसी, उर्दू और अंग्रेजी का अच्छा अभ्यास किया। बचपन से ही आप भावप्रवण थे। आपकी रचना में काननकुसुम, प्रेमपथिक, महाराणा का महत्व, सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य, छाया, उर्वशी, राज्यश्री, करुणालय, प्रायश्चित्त, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, तितली, इन्द्रजाल, आकाशदीप और लहर प्रसिद्ध है। आपका कामायनी नामक काव्य महत्वपूर्ण है।

पुस्तकों की सूची से ही आपके व्यापक पांडित्य और निसर्गसिद्ध कवित्व का मान हो जाता है। आमूलचूल प्रेम में पगे रहने पर भी

आप अपनी निभृत वेदना को अश्लील नहीं होने देते और सदा लौकिक सौंदर्य के चित्रपट से अलौकिक सौंदर्य की लीला देखते हैं। वृत्ति आपकी सदा उस अव्यक्त की ओर रहती है, जो नाम-रूपों के द्वारा इस संसार मे व्यक्त होता है और मूर्त न होने पर भी उषा आदि के नानावर्ण मुकुर मे प्रतिबिंवित हुआ भासमान होता है—

प्राची के अरुण मुकुर मे ,
सुन्दर प्रतिबिब तुम्हारा।
उस अलस उषा मे देखूँ ,
अपनी आँखो का तारा॥

अव्यक्त की लीला का साक्षात्कार होते ही—

मिल गए प्रियतम हमारे मिल गए ,
यह अलस जीवन सफल अब हो गया।
कौन कहता है जगत है दुःखमय ,
यह सरस संसार सुख का सिधु है॥

प्रसाद का नीरस संसार सरस बन जाता है किंतु थोड़ी देर बाद ही "लाल की लाली" छलिया के रूप में आपके सामने आती है और नयनों में बसी हुई भी उसकी रूप-रेखा, चाहने पर भी, आपके हाथ नहीं लगती—

भरा नैनों मे मन में रूप ,
किसी छलिया का अमल अनूप।
जल, थल, मारुत, व्योम में जो छाया है सब ओर ,
खोज खोज कर खो गई मै पागल प्रेम-विभोर॥

कभी कभी सौंदर्य का यह तत्त्व आपके सामने प्रचंड रूप धारण करके आता है; तब आपकी मधुर वेदना विधुर चिन्ता में परिणत हो जाती है—

ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्व वन की व्याली।
ज्वालामुखी - स्फोट के भीषण,
प्रथम कम्प सी मतवाली॥
हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा।
हरी - भरी सी दौड़ - धूप, ओ
जल माया की चल रेखा॥

❀ ❀ ❀

एक मौन वेदना विजन की, झिल्ली की झनकार नहीं,
जगती की यह स्पष्ट उपेक्षा, एक कसक, साकार नहीं।

संसार का प्रत्येक अणु इसी चिन्ता के पट को बुनने में लगा हुआ है; जीवन का प्रत्येक इङ्गित इसी सुरधनु के चित्रण में संलग्न है—

इस आकाशपटी पर जितने चित्र बिगड़ते बनते है;
उनमें कितने रंग भरे, जो सुरधनु पट से छनते हैं।
किंतु सकल अणु पल में घुलकर व्यापक नील शून्यता सा;
जगती का आवरण वेदना का धूमिल पट बुनते हैं॥

किन्तु कल्याण मार्ग पर चलनेवाले पथिकों को भी 'तियछवि छाया-ग्राहिनी' अछूता नहीं छोड़ती। वे भी समय समय पर उसके वश मे आ जाते है, वे भी कभी कभी काली आँखों की मार से चलनी हो जाते हैं—

काली आँखों में कितनी यौवन के मद की लाली,
मानिक मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली।

किसी रूपराशि शालीन से आपकी नीचे लिखी प्रार्थना अत्यंत कमनीय बन पड़ी है—

हे लाजभरे सौंदर्य बता दो, मौन बने रहते हो क्यों ?

* * *

मेरी आँखों की पुतली में तू बन कर प्राण समा जा रे ।
जिससे कण कण मे स्पन्दन हो,
मन में मलयानिल चंदन हो ।
करुणा का नव अभिनंदन हो,

× × ×

वह जीवन-गीत सुना जा रे ।
खिंच जाय अधर पर वह रेखा ॥
जिसमें अंकित हो मधु लेखा,
जिसको वह विश्व करे देखा,
वह स्मित का चित्र बना जा रे ।
स्नेहालिंगन की लतिकाओं की झुरमुट छा जाने दो ।
जीवनधन ! इस जले जगत को वृंदाबन बन जाने दो ॥

रहस्यवाद और शृंगार की अलसमुद्रा में भी प्रसादजी अपने देश को नहीं भूलते—

अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा ।
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरु शिखा मनोहर ॥
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा ॥

× × × ×

करुणा-कादंबिनि बरसे
दुख से जली हुई यह धरणी प्रमुदित हो सरसे ।
प्रेम प्रचार रहे जगतीतल दयादान दरसे ।
मिटे कलह शुभ शांति प्रकट हो अचर और चर से ॥

जयशंकर प्रसाद

आलोचनात्मक निबंध भी दो प्रकार के होते हैं। एक में स्वतः कला की आलोचना रहती है। दूसरे में कला के उपजीव्य सिद्धांतों की। इस निबंध में काव्यकला की आलोचना है। वह आलोचना भी ऐतिहासिक अथवा तुलनात्मक नहीं है, केवल परिचयात्मक है। है तो यह डा० सूर्यकान्त के "हिन्दी साहित्य की रूपरेखा" नामक इतिहास का एक अंग पर इसमें परिचयात्मक निबंध की स्वतन्त्रता और पूर्णता है। पूरा और निरपेक्ष होने के कारण यह छोटा-सा सफल निबंध है। इसे पढ़कर हम कवि प्रसाद का परिचय पा जाते हैं। ऊपर से साहित्यिक भाषा और चुने उद्धरणों से सजी शैली की कृपा से काव्य का आनन्द मिलता है। सच्ची आलोचना में काव्य के चुने उद्धरण और कवियों की—यथासम्भव आलोच्य कवि की—ही पदावली प्रयुक्त होनी चाहिए। यह बात इस निबंध में है।

कल की बात

समय जाते देर नहीं लगती। पन्द्रह वर्ष बीत चुके, पर जान पड़ता है कि अभी कल की बात है। सन् १९१६ में मैं तीसरी बार इन्ट्रेन्स की परीक्षा देने बैठा था।

दो साल मैं लगातार फेल हो चुका था। और चीज़ों में ज्यों-त्यों पास भी हो जाता, पर गणित का विषय मुझे अन्त में ले डूबता। छोटे दर्जों में भी इसने मेरे रास्ते में रोड़े अटकाये, परीक्षाओं में इसने मेरे साथ सदा अड़ङ्गानीति से काम लिया, पर मैं किसी न किसी करवट से दर्जा बराबर चढ़ता ही गया। इन्ट्रेन्स में पहुँचना था कि यह मेरे पीछे हाथ धोकर पड़ गया।

लोगों का ऐसा ख़याल था और अब भी है—कि प्रतिभा नाम की चीज़ मेरे बाँटें कभी पड़ी ही नहीं, पर मैं इसे मानने के लिये तैयार नहीं हूँ। ऐसा सोचना भी मेरे-ऐसे व्यक्ति के प्रति घोर अन्याय करना है जिसने सातवीं कक्षा में 'पेट' पर निबन्ध लिख लाने की आज्ञा पाकर यह दोहा लिखा हो—

नित रितवत नित के भरत, जिमि चुअना कंडाल।
इति न होति अति अजब गति, पेट गजब चंडाल॥

हाँ, इतना मैं स्वयं कहूँगा, कि मेरी प्रतिभा सर्वतोमुखी नहीं थी। गणित की ओर से वह रूठी हुई दुलहिन-सी मुँह फेर लेती।

खैर, गणित की कृपा से दो साल फेल होकर तीसरे साल मैं फिर इन्ट्रेन्स की परीक्षा देने बैठा। गणित के ज्ञान से अब भी बिल्कुल कोरा था; पर परीक्षा देने चला गया। एक आदत-सी पड़ गई थी, जो परीक्षा-भवन तक मुझे खींच ही ले गई।

गणित का पर्चा मेरे सामने रख दिया गया। पर्चा पढ़ने के पहले मैंने त्रिकुटी में ध्यान लगाकर ईश्वर से प्रार्थना की कि 'हे प्रभो आनन्द-दाता ज्ञान मुझको दीजिए' कि मैं दो एक सवाल तो ठीक कर सकूँ— और नहीं तो 'शीघ्र सारे गार्डों को दूर मुझसे कीजिए' कि मैं आसानी से नकल ही कर सकूँ।

इसके बाद मैं पर्चे को एक बार पढ़ गया। पढ़ते ही ऐसी इच्छा हुई कि अपना सर खुजलाऊँ, फिर मैंने सोचा कि पर्चे को दुबारा पढ़ लूँ; तब निश्चिन्त होकर सर खुजलाना शुरू करूँ। मैंने यही किया, दुबारा पढ़ गया। दुबारा पढ़ डालना महज़ एक रस्म की बात थी, अगर मैं सौ बार भी पढ़ता, तो इसी नतीजे पर पहुँचता कि इस कम्बख्त पर्चे का एक सवाल भी मेरे लिये नहीं बनाया गया है।

मैंने क़लम को कान पर चढ़ा लिया और हाथ पर हाथ रखकर बैठ रहा। मन में उस परमात्मा का गुण-गान करने लगा जिसने गणित, गोजर और गण्डमाला ऐसी चीजें संसार को दीं। निराशा और निस्सहायता के भाव मेरे मन-मुकुर को धूमिल करने लगे।

और परीक्षार्थियों की कलमों ने घुड़दौड़-सी मचा रक्खी थी, पर मेरी क़लम अभी तक टस से मस भी न हुई। कान पर से उतार कर मैं उसे कापी के सामने ले आया, पर उसने आगे बढ़ने से क़तई इनकार कर

दिया। मैं हिम्मत न हारा और क़लम सम्हाले बैठा ही रहा। मुझे इस तरह बैठा देखकर एक गार्ड ने कहा—'क्यों व्यर्थ कापी को क़लम से धसका रहे हो ?'

मैं चुप रहा। कहाँ तो मेरे गले में फाँसी पड़ी है और कहाँ इन्हें हाँसी सूझ रही है। अपना वक्त सब कुछ कराता है, न मैं ऐसा होता, न ये मेरे ऊपर अपनी ज़बान माँजते !

मैं कभी पर्चे की ओर देखता था, कभी कापी की ओर, और कभी क़लम की ओर, पर तीनों ढाक के तीन पात की तरह अलग ही नजर आते ! इन तीनों का अस्तित्व एक दूसरे का विरोधी जान पड़ता था। मैंने कापी से कई बार अपनी लेखनी का साक्षात् कराया, पर कुछ काम न निकला।

मैंने देवता, पित्तर, भुइयाँ, भवानी—सबको मनाया, पर किसी ने स्थिति को सुलझाने की कोशिश न की। मैंने आध घण्टे के अन्दर क़लम में चार नई निबें लगाईं, कि शायद इसी तरह उसकी अकर्मण्यता दूर हो, पर सब उपचार व्यर्थ गये। मैंने सोचा कि लाओ पर्चे को कापी पर नकल कर दूँ, और घर का रास्ता लूँ, पर "जब तक साँस तब तक आस" ने ऐसा न करने दिया। मेरी इस समय ऐसी दशा थी कि परीक्षक महोदय यदि मेरे सामने आ खड़े होते, तो मैं उन्हें मामा पुकार बैठता, सुना है कि साँप को भी मामा पुकारे, तो उसे दया आ जाती है।

जब मनुष्य निरुपाय हो जाता है, तब मूर्खता पर कमर कसता है। संकटापन्न अवस्था में अच्छे अच्छे विद्वानों की बुद्धि भी मोच खा जाती है, तो मेरी क्या बिसात, मैं तो अपने को किसी बुद्धिमान का इज़ारबंद होने योग्य भी नहीं समझता !

मैंने जब अच्छी तरह देख लिया कि और कोई चारा नहीं है तब यही निश्चय किया कि परीक्षक के नाम कापी में एक पत्र लिख दूँ और लिखकर घर का मार्ग पकड़ूँ।

ज्यों-ज्यों मैं ग़ौर करता था, मुझे यही कार्यक्रम समयोचित और उपयुक्त जँचता था। इस कार्यक्रम की विशेषता यह थी कि इससे हानि कुछ भी नहीं थी, क्योंकि परीक्षक यदि मेरी धृष्टता से चिढ़ जाता, तो अधिक से अधिक मुझे फेल कर देता, पर यह कौन-सी नई बात हो जाती। फेल होना तो यों भी मेरा 'परीक्षा-सिद्ध' अधिकार था। इसके विपरीत यदि मेरा पत्र पढ़कर दया से द्रवीभूत होकर कुछ नम्बर दे निकलता, तब तो परीक्षा-फल निकलने पर मैं ही मै दिखाई पड़ता। यह कोई असम्भव बात नहीं थी, परीक्षक बड़ा आदमी होता है, और सुना है बड़े लोगों के 'दिल दरियाव' मे अक्सर अनायास दया की मौज उठने लगती है।

मैं इस पत्र मे परीक्षक के बाल बच्चों की खैर मनाता और लिखता कि मेरी नौका मॅझधार में है और आप ही उसके खेवैया है। इन बातों के अतिरिक्त मैं एक बात बड़े मार्के की लिखनेवाला था। वह यह कि इस साल मेरी शादी होनेवाली है, अगर फ़ेल हो जाऊँगा, तो फिर न-जाने कितने दिन के लिए शादी टल जायगी, इसलिए यदि दया करके आप मुझे पास कर देंगे, तो अप्रत्यक्ष रूप से आपको कन्यादान का भी फल होगा।

मै सोच ही रहा था कि इस पत्र को लिखना शुरू करूँ, कि किसी ने धीरे से मेरे कन्धे पर हाथ रक्खा। मैने पीछे घूमकर देखा तो एक गार्ड महाशय को खड़ा पाया। मुझे देखकर आश्चर्य हुआ कि वे और गार्डों की तरह हृदय-हीन नहीं जान पड़ते थे। उनकी दृष्टि मे दया और स्पर्श में समवेदना थी।

वे चले गये पर मेरे हृदय में आशा का संचार कर गये। मुझे निश्चय हो गया कि वे मेरे लिए कुछ करेंगे। यही हुआ भी। वे थोड़ी देर में टहलते हुए मेरे पास आए और बड़ी सफाई से एक सोखते का टुकड़ा मेरे पास फेक कर चल दिये।

मैंने उस सोखते के टुकड़े को बड़ी सावधानी से उलट कर देखा। उस पर पर्चे के दो सबसे कठिन प्रश्नों के उत्तर उनकी संक्षिप्त विधि के सहित पेंसिल के बहुत हलके हाथ से लिखे हुए थे।

अब क्या था! दो सवाल तो मैंने मार लिये बाकी बच गये चार; कुल छः करने थे। इनसे कैसे निपटा जाय। अब आगे की सुधि लेनी थी। मेरे ऊपर अकारण कृपा करनेवाले गार्ड महोदय भी कहीं खिसक गये थे।

ठीक इसी समय एक ऐसी घटना हुई, जिसने मुझे सच पूछिए तो कतरे से दरिया कर दिया। मुझसे कुछ दूर पर मेरे ही स्कूल का एक लड़का बैठा हुआ था। वह यकायक खड़ा हो गया और बड़े उत्तेजित स्वर में अपने पासवाले गार्ड से बोला—"मास्टर साहब! मास्टर साहब!! यह चौथा सवाल ग़लत छपा है।" गार्ड ने उसे डाँट कर बैठा दिया। और सभी लोग उसकी बात पर अविश्वास की हँसी हँस पड़े। पर मैंने इस मौके पर बड़ी समझदारी से काम लिया। मैं उस लड़के को बख़ूबी जानता था। गणित के ग्रन्थों की सैकड़ों उदाहरणमालाएँ उत्तरों सहित उसके कण्ठस्थ थीं। ऐसा लड़का बिना कारण किसी प्रश्न को ग़लत नहीं बता सकता। मुझे विश्वास हो गया कि जब वह कहता है, तब प्रश्न अवश्य ग़लत होगा। बस, मैंने पन्ना उलट लिया और मार्जिन में प्रश्न नं० ४ दर्ज करके उसके सामने लिख दिया—'इस प्रश्न को कई बार करने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यह ग़लत छपा है; इसलिये इसका उत्तर निकालने की आवश्यकता नहीं है।'

बाद को साबित हुआ कि उस लड़के ने ठीक कहा था। प्रश्न वास्तव में ग़लत छप गया था। सारी यूनिवर्सिटी मे दस ही पाँच लड़के इस भेद को जान पाये थे; और उन लड़कों से परीक्षक बहुत प्रसन्न हुआ था। कहना न होगा कि उन्हीं दस-पाँच में मैं भी एक था।

कहाँ एक सवाल भी पहाड़ हो रहा था, कहाँ चुटकी बजाते मैंने तीन कर लिए। छः में तीन, पास होने के लिये काफ़ी थे, इसलिए चिन्ता जाती रही, और उत्साह बढ़ गया। मैंने सोचा कि जब किस्मत ने चर्राना शुरू किया है, तब उसे चर्राने का काफी मौका देना चाहिये। सम्भव है किसी सूरत से, किसी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा, किसी ओर से, किसी रूप में, किसी प्रश्न पर, किसी समय, कुछ भी प्रकाश पड़ जाय, कोई इशारा मिल जाय, तो कुछ नम्बर और बटोर लूँ।

मैं शेष प्रश्नों को बार-बार पढ़ने लगा। सिर्फ पढ़ना भर हाथ लगता था, पर तब भी मै बार-बार पढ़ने से बाज़ न आया। एक प्रश्न दशमलव का था, जिसे मैंने दूर ही से प्रणाम करके छोड़ दिया। मेरा विश्वास है कि भगवान् रामचन्द्र ने बजाय दशानन के दशमलव का संहार किया होता, तो अगणित स्कूली छात्रों के धन्यवाद-भाजन बने होते। दूसरा प्रश्न ब्याज का था, जिसे मै तुरन्त समझ गया कि इस जन्म में न कर पाऊँगा। तीसरा सवाल इस प्रकार था—

'एक घड़ी तीन बजे चलाई जाती है और ठीक सात बजे वह बन्द हो जाती है। बताओ कि इतनी देर में घड़ी की दोनों सूइयाँ एक दूसरे को किस-किस समय मे पार करेंगी ?'

ऐसे सवालों को करने के लिए अङ्कगणित में एक ख़ास तरीक़ा है, जिसे एक बार सीखने की कोशिश करने पर मुझे सौ बार तोबा करना पड़ा था। और किसी वक्त मैं इस प्रश्न की ओर फूटी आँख भी न देखता, पर इस वक्त स्वयं परमात्मा मेरी पीठ पर था और मुझे तदबीरों की फुरहरी सुँघा रहा था। जो प्रश्न मेरे लिए भरतपुर के किले से भी बढ़कर था, उसे मैंने आज यों सर किया।

मेरे जेब में घड़ी थी। उसे मैंने निकाला। उसमें बारह बजे थे। मैंने उसमे तीन बजा दिये और फिर धीरे धीरे सुई घुमाने लगा और देखने लगा कि दोनों सुइयाँ सात बजने तक कहाँ कहाँ पर मिलती हैं।

यों मैंने छ में चार सवाल कर लिये। मूँछें तो उस समय थी नहीं, पर जहाँ होनी चाहिए वहाँ का चमड़ा ऐंठता हुआ मैं उस दिन मकान आया।

दो महीने में परीक्षा का फल प्रकाशित हुआ। दुनियाँ ने देखा कि मैं पास हूँ। लोग आश्चर्य में डूबे, उतराये और उभचुभ हुए। किसी ने अन्धे के हाथ बटेर की कहानी याद की। किसी ने पत्थर पर दूब जमना स्वीकार किया। कई नास्तिकों ने ईश्वर को मान लिया। मैंने अपनी पीठ ठोंकी और कहा जीते रहो। जैसा मेरा राजपाट लौटा, वैसा ईश्वर करे सबका लौटे।

कल की बात

यह व्यंग और विनोद से पूर्ण निबंध है। इसमें परिहास की पूरी सामग्री है; उससे भी बड़ी बात है छिपी हुई विदग्धता जो विदग्ध हृदयों को रह रहकर गुदगुदा देती है। उपसंहार के दो-तीन वाक्य उदाहरण के लिए काफी हैं। घड़ी वाली घटना साहित्यिक प्रहास का अच्छा नमूना है। इस प्रकार विदग्धता और परिहास, प्रहास आदि हास के कई रूप इसमें आ गए है। भाषा भी मुहाविरेदार और रसानुरूप है। नये रूपकों की उद्भावना ख़ूब ही फबो है। शैली आत्मकथा की है जो प्रहसन और विनोद में खूब जमी है।

इसमें आलम्बन का नैतिक पतन किसी आलोचक की रुचि को खल सकता है पर जो हास्य के मूल तत्त्व तथा कल्पना की लीला से परिचित है वह कभी कला और नीति के ऐसे विरोध-वाद में नहीं पड़ता। शुद्ध साहित्य उसीके लिए है जो नीति के परे कला को परख सकता है। दूसरों के लिए प्रयुक्त साहित्य ही ठीक है। प्रयुक्त साहित्य की वस्तु सदा पथ्य और अनुकरणीय होती है पर शुद्ध साहित्य में ऐसी बातें भी आती है जो केवल आस्वाद्य हो। यह प्रहसन ऐसा ही आस्वाद्य साहित्य है।

पद्मसिंह शर्मा

दिल्ली की सन्ध्या थी। भारत की राजधानी अपने गौरवपूर्ण अतीत की स्मृतियों को खँड़हरों के रूप में रखकर ही पुलकित हो रही थी। कभी 'जन्तर-मन्तर' और कभी पुराने किले को वह सगर्व आँखों से देख लेती थी। दिल्ली की संध्या क्षितिज पर उतर रही थी और मैं 'कुतुबमीनार' के निकट खड़ा था। मन न जाने क्यों उदास हो रहा था। 'कुतुबमीनार' संध्या के प्रकाश में उदासीन समाधिस्थ योगी की तरह चुपचाप खड़ी थी, और उसकी लम्बी छाया 'मान-दण्ड' की तरह धरित्री की छाती पर दूर तक फैली हुई थी। परमात्मा ही जानते हैं, इसने कितनी बार दिल्ली के सुहाग सिन्दूर को धुलते देखा होगा, कितनी बार इसने इस द्रौपदी को अपने सौभाग्य-गर्व में इठलाते देखा होगा। इस 'मीनार' को घेर कर दिल्ली का अतीत आज भी मूर्छित पड़ा है। यह अतीत का साक्षी है।

संध्या की स्वर्ण-विभा ने मटमैला रूप धारण किया। नीड़ों की ओर जानेवाले पक्षियों के कलरव से आकाश—महाशून्य आकाश—सजीव-सा

हो गया। ताँगेवाला खड़ा-खड़ा अधीर हो रहा था। उसने कहा—“बाबूजी और ठहरना होगा?” मेरा ध्यान भंग हुआ। इसी समय एक दूसरा ताँगा आया। दो सज्जन उतरे। एक थे कोट पहने प्रौढ़, तथा दूसरे थे युवक। प्रौढ़ ने युवक से कहा—“विलम्ब हो गया। स्वामी श्रद्धानन्दजी से बातें करता रह गया। समय का ज्ञान ही न रहा।” युवक ने कहा—“पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा हमारी प्रतीक्षा में बैठे-बैठे निश्चय ही ऊब रहे होंगे।”

मेरा माथा ठनका। यह ईश्वरीप्रसादजी तो हमारे प्रान्त के गर्व और कलकतिया ‘पंच’ के ख्यातनामा सम्पादक हैं, और स्वामीजी तो दिल्ली के गौरव ही ठहरे। और ये सज्जन!

माघ की सुनहली संध्या ने गोधूलि का रूप धारण किया। इन खँड़हरों की बस्ती में उदास संध्या विधवा की ललाट की तरह स्फूर्तिहीन जान पड़ती थी। आकाश की लालिमा धूमिलता में परिणत होने लगी। मैं फिर अपने विचारों के शतदल में बन्दी हो गया—ये कौन हैं? प्रौढ़ सज्जन की प्रतिभासम्पन्न मुखश्री उपेक्षा के योग्य नहीं है। मनोवेधक सादगी और शान्त मनोवृत्ति के परिचायक अचंचल नेत्र! न जाने क्यों हृदय उनकी ओर आकर्षित हो गया। मन में सोचा कि इनका परिचय प्राप्त करूँ पर अजनवी आदमी से एकाएक कुछ प्रश्न कर बैठने में संकोच भी हुआ। बड़ी दुविधा में था।

आख़िर मैंने संकोच को धता बताते हुए, प्रौढ़ सज्जन से पूछा—“क्या आप पहली बार दिल्ली आए हैं?” प्रश्न तो अव्यवस्थित सा था। मैंने स्वयं अनुभव किया कि मेरा यह प्रश्न सभ्यतानुमोदित नहीं है। मैं संकोचवश, अपने भीतर ही, सिकुड़-सा गया। प्रौढ़ सज्जन मुस्करा कर बोले—“जी नहीं, कई बार आ चुका हूँ। मुझे इन खँड़हरों से विशेष प्रेम है। मैं इन्हें बार-बार देखकर भी नहीं थकता।”

मैंने सोचा, ये या तो कवि हैं, या भावुक। हाँ, इतिहासज्ञ भी हो सकते हैं। हिन्दी के विख्यात इतिहासज्ञ पं० नन्दकुमार देव शर्मा भी कुछ इसी तरह के थे। मैंने उन्हें वृन्दावन के करील कुंजों में इधर-उधर घूमते देखा है। मस्त जीव थे। अपने आप में भूले रहते थे। अन्तर्मुखी दृष्टि इसी का नाम है। इस बार मेरा साहस बढ़ा। बड़े अदब से मैंने पूछा—"आपका निवास-स्थान?" नवयुवक सज्जन बोल उठे—"आपका निवास-स्थान जानकर क्या कीजियेगा? यदि आप हिन्दी-प्रेमी हैं तो नाम सुन लेना ही पर्याप्त होगा। आपका नाम है पं० पद्मसिंह शर्मा।"

मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। क्या 'बिहारी-सतसई' के महान् ज्ञाता, समालोचक-प्रवर, असंख्य हिन्दी-संस्कृत-फारसी पुस्तकों के पुस्तकालय पं० पद्मसिंह शर्मा के सम्मुख मैं खड़ा हूँ! कितने महान् है ये! मैं क्षणभर तक किंकर्तव्यविमूढ़वत् खड़ा रहा। मुझे इस प्रकार निर्वाक् देखकर शर्माजी को शायद दया आई। उन्होंने मुझसे पूछा—"आप कहाँ रहते हैं?"

इस प्रश्न के उत्तर देने के पहले मैंने शर्माजी के चरण छू लेना उचित समझा, और मुझे अपनी इस समझदारी पर नाज़ है। इस औचित्य का पालन किया। बच्चों की-सी सरलता से मुसकराते हुए शर्माजी ने अपने उस प्रश्न को दोहराया। मैंने हाथ जोड़कर उत्तर दिया—"मैं गया रहता हूँ।" शर्माजी क्षणभर के लिये मानो चिन्ता में लीन हो गये। आप फिर बोले—"गया! हाँ, गया में मोहनलाल जी महतो भी रहते हैं। क्या आप उन्हें जानते है? उनकी दो पुस्तकें मेरे पास है—'निर्माल्य' और 'एकतारा'। वे व्यंग चित्रकार भी है।"

मैने सोचा, समालोचकप्रवर के श्रीमुख से ही सुन लूँ कि इस पुस्तक के सम्बन्ध में उनका क्या मत है। मै बोला—"जी, नही, उनसे विशेष परिचय तो नहीं है। उनकी पुस्तकें कैसी हैं? क्या आपको पसन्द आई?

शर्मीजी ने उच्छ्वसित कंठ से उत्तर दिया—"वाह! क्यों नहीं, मैं तो प्रवास में सदा उन्हें पढ़ा करता हूँ। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि महतो जी सफल कवि हैं। अब मैं अपने आपको नहीं रोक सका—क्षण-भर भी अपने को छिपाना कठिन हो गया। हाथ जोड़ कर बोला—"इसी सेवक का नाम मोहनलाल है।"

संध्या ने गोधूलि का रूप धारण किया। मीनार के निकट ही दो ताँगे खड़े हैं। इस झुटपुट के वक्त की स्मृति आज भी हृदय को चुटकियों से मसल देती है। दिल्ली के खँडहरों की संध्या उदास छाया डालकर गगनांगण में विलीन हो गई। जिस सड़क पर हमारे दोनों ताँगे शहर की ओर जा रहे हैं, उस सड़क पर न जाने कितनी बार मुगल-पठानों की विजयिनी सेना के घोड़ों की टापों से क्षुब्ध होकर धूलि उड़ी होगी। शाही सवारियों की कितनी स्मृतियाँ आज भी उस सड़क के अणु-परमाणु में लिपटी पड़ी होंगी। इसका इतिहास नेपथ्य के उस पार चला गया है।

चैत का महीना था। पतझड़ के दिन थे। मुझे कलकत्ता जाना पड़ा। वसन्त से और कलकत्ते से क्या सम्बन्ध है, यह बतलाना वातुलता का लक्षण है। मैं ज़करिया स्ट्रीट में ठहराया गया। मेरे कमरे की खिड़की के बाहर एक छोटा-सा पीपल सीमेंट और चूने के हृदय को फाड़कर पैदा हो गया था। तीन-चार इंच के इस महीरुह में कठिनता से दो-तीन पत्ते होंगे। आश्चर्य तो यह है कि इस पर भी वसंत का राज्य था। इसके पुराने पत्ते झड़ गये थे, और लाल-लाल दो-तीन कोपलें हवा के हिलोरों से खेल रही थीं। मैंने आँखें भर कर इस दृश्य को देखा। कलकत्ते भर मुझे इतना ही 'पद्य' जान पड़ा, नहीं तो जो कुछ देखा, वह केवल गद्य-ही-गद्य था।

संध्या समय पं० ईश्वरीप्रसाद जी पधारे। आते ही आप मुझ पर बरस पड़े—"बड़े अहमक हो, पंच-आफिस में क्या स्थान की कमी थी?

रामलाल जी (स्वर्गीय बाबू रामलाल जी वर्मा) को तुम्हारे इस आचरण से बड़ा कष्ट हुआ। लड़कपन नहीं छूटी। चलो।"

एक साँस में इतना बोलकर उत्तर की प्रतीक्षा करना घोर अनावश्यक समझते हुए आप मेरे स्ट्रेचर पर बैठ गये। एक मिनट ठहर कर आपने मेरे नौकरों को आदेश प्रदान किया—"हाँ जी, खड़े मुँह क्या देखते हो? बिस्तर वगैरह ठीक करो। बाहर मोटर खड़ी है।"

अनेक तर्क-वितर्क के बाद यह समझौता हुआ कि 'मैं भोजन तो 'पंच-आफिस' में कर लिया करूँगा, पर रहना यहीं होगा।'

बड़ी कठिनता से शर्माजी मान गये, पर आज्ञा हुई कि कपड़े पहन कर इसी क्षण मेरे साथ चलो। मैंने इस आज्ञा का पालन किया। अनेक अट्टालिकाओं की कतारों के बीच से सरसराती हुई मोटर 'पंच' के द्वार पर खड़ी हुई। शर्माजी के साथ मैंने भीतर प्रवेश किया। वर्माजी की सौम्य मूर्ति मेरे सामने आई। 'अंकवार' का दृश्य अनोखा था। बैठक-खाने की ओर मुझे ले जाया गया। वहाँ का दृश्य देखकर मै सहसा चौंक उठा। देखता हूँ कि साहित्याचार्य्य पं० पद्मसिह शर्मा विराजमान हैं। पंडितजी के सम्मुख अर्धचन्द्राकार में कोई दो दर्जन सज्जन बैठे हैं। दरबार-सा लगा हुआ है। "आइये" "आइये" की स्वागत-ध्वनि के बीच में प्रवेश करके मैंने शर्माजी के चरण स्पर्श किये। आपने उठकर मुझे हृदय से लगा लिया। आवश्यक प्रश्नोत्तर के बाद शर्माजी ने कहा कि—"वियोगी! मैंने कल सुना कि कल तुम आनेवाले हो। बड़ी उत्सुकता से इन्तज़ार करता रहा। तुम नहीं आये। सोचा कि भाई, तुम (व्यंगपूर्वक) बड़े आदमी हो। आये होंगे तो किसी होटल में ही ठहरे होंगे। गरीबों की झोपड़ियों की क़दर करना आप लोगों के लिये लोहे के चने चबाना है।"

इस तरह कोई बीस-पचीस मिनटों तक मुझे मीठे-मीठे शब्दों की सहायता से बनाते रहे। फिर मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए बोले—"आज

कलम लिखना बन्द कर दिया ? क्या बूढ़े हो गये ? विलायत के लेखक तो मरते दम तक कलम नहीं रखते। अस्सी और नब्बे साल की उम्र तक लगातार लिखते रहते हैं, पर हमारे हिन्दी के नवयुवक तो 'मुफलिस के चिराग़' की तरह संध्या से ही टिमटिमाया करते है।"

इसी समय ईश्वरीप्रसाद जी ने प्रवेश किया। कोई बारह बजे रात तक आनन्द-स्रोत प्रवाहित होता रहा। घड़ी की सुइयाँ हिरन की तरह भाग रही थीं, पर मन तो "मधु की मक्खियाँ" हो रहा था, जिसकी "पखियाँ" बूड़ गई थीं। वे अपनी छाप मेरे हृदय पर अमिट कर गये!

× × × ×

गर्मी के दिन थे। शायद वैशाख का राज्य था। लू के मारे भूतमात्र व्यग्र थे। आकाश धूलिमण्डित हो रहा था। रात को भी लू चलती थी। इसी समय पटने से मुझे एक तार मिला। पं० पद्मसिंह शर्मा ने तार दिया था—"शीघ्र चले आओ।"

बात यह थी कि सम्मेलन का सालाना अधिवेशन उस वर्ष मुज़फ्फर-पुर में होने जा रहा था, और शर्मा जी सभापति-पद को गौरवान्वित करने जा रहे थे। पटना पहुँच कर आपने मुझे खोजा। बस, एक तार मेरे नाम धमक दिया गया। मुझ अकिंचन को वे भूल न सके। उनका महत्त्व इसी में छिपा हुआ है। आज मेरे सामने उनकी कई चिट्ठियाँ इस बात के प्रमाण-स्वरूप पड़ी हैं। वे पुराने काव्य साहित्य के प्रेमी थे; पर 'निर्माल्य' की सम्मति में उन्होंने जो कुछ लिख दिया था, उसे पढ़कर मैं एक बार काँप उठता हूँ। 'एकतारा' की सम्मति क्या है, एक छोटी-सी पुस्तिका है। प्रशंसा की सीमा को अनन्त बनाकर ही शर्मा जी ने दम लिया है।

वे महान् थे। इसमें सन्देह नहीं कि उनके रिक्त स्थान की पूर्ति करते समय विधाता को भी कुछ विशेष शक्ति का परिचय देना होगा।

पद्मसिंह शर्मा

'सस्मरण' भी एक प्रकार के निबध ही हैं। इनमें सफल साहित्यिक निबध के सभी गुण रहते है और सफल आलोचना की छाया भी। क्योंकि वही बाते स्मृतिशेष रहती हैं जिनमे आन्तरिक मन्थन के बाद भी टिक रहने की क्षमता होती है। अच्छे सस्मरण में एक विशेषता और भी होती है कि आलोचक और आलोच्य दोनों के ही दर्शन हो जाते है। प्रस्तुत सस्मरण में ये सभी बाते है। इसमें पद्मसिह का सजीव चित्र तो है ही, लेखकप्रवर मोहनलाल महतो का स्वभाव भी स्पष्ट अंकित हो गया है। कुशल लेखक सस्मरण मे उन्हीं घटनाओं को चुनता है जिनमें कुछ मर्म हो और जिनमें स्वय उसके हृदय को अनुभूति छिपी हो। इस सस्मरण में ऐसी दो घटनाएँ चुनी गई है। वर्णनशैली ऐसी नाटकीय और निपुण है कि दृश्य सामने खिच जाता है; भाषा की सौम्यता और प्रसगगर्भिता सोने में सुहागे का काम करती है। 'मानदण्ड' 'मधु की मक्खियाँ' 'पँखियाँ' 'जन्तर मन्तर' 'नेपथ्य के उस पार' आदि के समान शब्दों में साहित्यिकों के भावसागर भरे हुए हैं। विदग्ध उन्हें देखते ही सिहर उठता है।

पगली का पत्र

सुना है कि तुम मुझे पगली कहते हो। हाँ, मैं पगली हूँ। तुम्हारे सुन्दर मुखड़े की पगली हूँ, तुम्हारे घुँघराले अलकों की पगली हूँ; तुम्हारी साँवली सूरत की पगली हूँ; तुम्हारी जादूभरी आँखों की पगली हूँ, तुम्हारी सुधाभरी मुस्कान की पगली हूँ, तुम्हारी उस मुरलिया की पगली हूँ, जो संसार को पागल बना देती है; और पगली हूँ उस पत्थर की मूर्ति की जो वास्तव मे अनिर्वचनीय है; आज दिन जो हमारा जीवन-सर्वस्व है, जो पत्थर होकर भी मुझपर पसीजती है, जो अकरुण होकर भी मुझ पर उस करुण रस की वृष्टि करती है, जिसका स्वाद वही जान सकता है जिसने उस रस को चखा है।

तुम कहोगे कि छि: इतनी स्वार्थ-परायणता! पर प्यारे यह स्वार्थ-परायणता नही है, यह सच्चे हृदय का उद्गार है, फफोलों से भरे हृदय का आश्वासन है, व्यथित हृदय की शान्ति है, आकुलता भरे प्राणों का आह्वान है, संसार-वञ्चिता की करुण-कथा है, मरुभूमि की मंदाकिनी है, और है सर्वस्वत्यक्ता की चिर-तृप्ति। 'मैं उन पागलों की बात नहीं

कहना चाहती, जो बड़े बड़े विवाद करेंगे, तर्कों की झड़ी लगा देंगे, ग्रंथ पर ग्रंथ लिख जावेंगे; किन्तु तत्त्व की बात आने पर कहेंगे, तुम बतलाए ही नहीं जा सकते, तुम्हारे विषय में कुछ कहा ही नहीं जा सकता। मैं तो प्यारे! तुमको सब जगह पाती हूँ, तुमसे हँसती-बोलती हूँ; तुमसे अपना दुखड़ा कहती हूँ; तुम रीझते हो तो रिझाती हूँ, रूठते हो तो मनाती हूँ। आज तुम्हें पत्र लिखने बैठी हूँ। तुम कहोगे यह पागलपन ही है। तो क्या हुआ, पागलपन ही सही, पगली तो मैं हुई हूँ, अपना जी कैसे हलका करूँ, कोई बहाना चाहिये—

भरे हैं उसमें जितने भाव!
मलीन है या वे हैं अभिराम!
फूल-सम है या कुलिश-समान!
बताऊँ क्या मैं तुमको श्याम!
हृदय मेरा है तेरा धाम!!

एक दिन सखियों ने जाकर कहा—आज राणा महलों में आयेंगे, बहुत दिन बाद यह सुधा कानों में पड़ी, मैं उछल पड़ी, फूली न समाई। महल मे पहुँची, फूलों से सेज सजाई, तरह-तरह के सामान किए। कहीं गुलाब छिड़का, कही फूलों के गुच्छे लटकाए, कहीं पाँवड़े डाले, कहीं पानदान रखा, कहीं इत्रदान। सखियों ने कहा—यह क्या करती हो, हम सब किसलिए हैं। मैंने कहा—'तुम सब हमारे लिए हो, राणा के लिए नहीं। राणा के लिए मै हूँ, ऐसा भाग्य कहाँ कि मैं उनकी कुछ टहल कर सकूँ। एक दिन राणा के पाँव में कङ्कड़ी गड़ गई, उस दिन जी में हुआ था कि मैंने अपना कलेजा वहाँ क्यों नहीं बिछा दिया, आज मै ऐसा अवसर न आने दूँगी। धीरे धीरे समय बीतने लगा, बहुत देर हो गई, राणा न आए। मै घबड़ाई, उठ-उठ कर राह देखने लगी। जब बहुत उकताई, वीणा लेकर बजाने लगी; फिर गाया—

गए तुम मुझको कैसे भूल !
किसलिए लूँ न कलेजा थाम ?
न बिछुड़ो तुम जीवन-सर्वस्व !
चाहिए मुझे नहीं धन-धाम !
तुम्हीं मेरे हो लोक-ललाम !!

गाना समाप्त होते ही राणा आए। मेरा राम आया, जो मेरे रोम रोम में समाया है, वह आया ! उनको देख, मैं अपने को भूल गई। उस समय मैंने क्या किया क्या नहीं, कुछ याद नहीं। वे बोले—'मीरा' मैंने कहा—'नाथ !' उन्होंने कहा—'आजकल तुमको क्या हो गया है ?' मैंने कहा—'क्या हो गया है ?' उन्होंने कहा—'तुम पगली हो गई हो, लोकलाज धो बहाई हो ; कभी गाती हो, कभी नाचती हो, कभी साधुओं से सङ्ग फिरती हो, कभी ऐसा काम करती हो जो राजमर्यादा के अनुकूल नहीं। मीरा ! सँभलो, हमारा मुँह देखो।' इस समय मैं उन्हीं का मुँह देख रही थी, सोच रही थी—यही तो मेरे गिरधर गोपाल है, यही तो मेरे वंशीवाले है। उनके कंठ में मुरली-सी माधुरी पाकर मुझको उन्माद हो रहा था, उनके स्वरूप मे प्यारे मुरली-मनोहर का सौंदर्य देख कर मै आनन्द-समुद्र में निमग्न हो रही थी, उनकी बात समाप्त होते ही मैंने कहा—'मैं आपका ही मुँह तो देख रही हूँ ! क्या आपका गुणानुवाद गाने का मेरा अधिकार नहीं ? आपका गुण गाते-गाते जब मेरा मन नाच उठता है, तब मै नाचने लगती हूँ, इसमें मेरा अपराध ? लोकलाज किसे कहते है, मै नहीं जानती। जो कार्य आपके प्रेम में बाधा डाले, उससे मैं नाता नहीं रखना चाहती। साधु-सन्त आपके ही रूप तो है, उनमें भी तो आप बसते है, उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, आप ही को तो रिझाना है, फिर मैं आपको क्यो न रिझाऊँ ? मेरे राजा महाराजा आप ही तो है—आपकी मर्यादा करनी ही तो

राज मर्यादा है। मैं जो कुछ कर रही हूँ, आपकी मर्यादा का महत्त्व समझ कर ही कर रही हूँ, फिर वह अनुकूल क्यों नहीं?' यह कहते-कहते मैं प्रियतम के मुख-चन्द्र की चकोरी बन गई, उनके ध्यान में मग्न हो गई। जब आँखे खुलीं तो उस समय महल में राणा नहीं थे। हृत्तन्त्री में यह ध्वनि हुई—

रॅग सका मुझे एक ही रंग!
दूसरों से क्या मुझको काम?
भली या बुरी मुझे लो मान!
भले ही लोग करें बदनाम!
रमा है रोम-रोम में राम!!

कुछ दिन बीत गये। एक दिन कुछ सखियाँ आईं। उनका मुख सूखा हुआ था, आँखों में जल था, बात मुँह से सीधे निकलती न थी, उनके कलेजे पर पत्थर रक्खा हुआ था। उनके हाथ में एक सोने का कटोरा था, उसमें कुछ था। मैंने पूछा—क्या है? वे बोल न सकीं, उनकी घिग्घी बँध गई, शरीर काँपने लगा। मैंने कहा—'डर की बात क्या है, लाओ कटोरा मुझको दो। क्या इसे राणा ने भेजा है?' एक ने कहा—'हाँ।' मैंने कहा—इसमे सुधा है, मेरे लिए मेरे मनमोहन ने जो भेजा है वह दूसरी वस्तु हो नही सकती। यदि दूसरी वस्तु होगी, तो भी वह जीवन-धन के करकमलों का स्पर्श करके सञ्जीवनी बन गई होगी। मैंने उसको उनके हाथों से लेकर पान किया। उसमे अलौकिक स्वाद था। सुधा मैंने आज तक पी नहीं थी, उसकी माधुरी का वर्णन सुना था। उसे पीकर मुझे ज्ञान हुआ कि सुधा कैसी अलौकिक वस्तु है। मैं उसे जितना ही पीती थी, मेरा हृदय उतना ही उत्फुल्ल हो रहा था। मैं सब पी गई, फिर भी चाह बनी रह गई कि और होती तो पीती। इस सुधा-पान करने के बाद ज्ञान हुआ कि वह मद कौन-सा है जिसको पान कर आत्मा कुछ और से और हो जाती है। जिस दिन मैंने उसे

पान किया, उसी दिन से तुम मेरी आँखों में अधिक समा गए, यह मिट्टी का संसार सोने का वन गया और मेरा जीवन सार्थक हो गया। उसी दिन से मै वास्तव मे पगली हुई, और प्रायः मेरे कंठ से यह गान होता रहता है :—

गरल होवेगा सुधा-समान !
सुशीतल प्रवल-अनल की दाह !
वनेगी सुमन-सजाई सेज !
विपुल–कण्टक–परिपूरित रात !

संसार बुरी जगह है, वहुत कुछ निर्लेप रहने पर भी उसके पचड़े कुछ सता ही देते है। एक दिन कुछ कारणो से मैं खिन्न हो गई, बड़ी आत्म-ग्लानि हुई, भाव-परिवर्तन के लिए गृहोद्यान में आई। सन्ध्या-समय था, हरे-भरे वृक्ष लहरा रहे थे, फूल फूले हुए थे, चिड़ियाँ गा रही थीं, तितलियाँ नाच रही थीं और भौरे गूँज रहे थे। वायु मंद-मंद चलकर तरुदलों से खेल रहा था, कुसुमों को चूम रहा था, तितलियो को प्यार कर रहा था और लताओं को गोद मे लेकर खेल रहा था। वृक्षों का हरा-भरा और आनन्दित भाव देखकर मुझको बड़ा हर्ष हुआ। वे पृथिवी में गड़े हुए थे। फिर भी प्रसन्नवदन थे। जो दल चाहता उसे दल देते, जो फल चाहता उसे फल देते, जो उनकी छाया मे जा बैठता, उसे आराम देते। नाना पक्षी उनकी गोद में बैठे हुए चहक रहे थे। वे उनको सहारा दे रहे थे, उनके खोतों की रक्षा कर रहे थे। कोई ढेला मार जाता तो भी उससे कुछ न बोलते। सम्भव होता तो एकाध सुन्दर फल उसको भी दे देते। मैंने जी ही जी में कहा—धन्य है इनका जीवन ! क्या मनुष्य मे इतनी सहिष्णुता और उदारता भी नहीं ? फूलों की ओर दृष्टि गई तो देखा, वे काँटों में रहकर भी विकसित थे। जो रस की कामना करके उनके पास जाता,

वे उसी को थोड़ा बहुत रस दे देते, फिर भी निष्काम रहते। हवा पास होकर निकलती तो उसको सुरभित कर देते। सब ओर इस प्रकार आनन्द का प्रवाह और औदार्य का विकास देखकर मैं कुछ और से और हो गई। मन ही मन कुछ लज्जित भी हुई। इतने मे चन्द्रदेव निकले, धीरे धीरे ऊपर आये। उनकी चाँदनी से रात्रि का मुख उज्ज्वल हो गया, वसुधा धुल गई और उस पर बड़ी सुन्दर सफेद चादर बिछ गई। चन्द्रदेव हँस रहे थे और सब ओर सुधा की वर्षा कर रहे थे। उनके इस औदार्य की सीमा नहीं थी। सब ओर निराली ज्योति जग रही थी। सब उनके सुधावर्षण से तृप्त थे। चन्द्रदेव सबको एक आँख से देख रहे थे। उनके लिए फूल-काँटे, जल-स्थल, तृण-तरु, पशु-पक्षी, कीट-पतंग समान थे। वे तुम्हारे ही अंग तो हैं, तुम्हारी ही एक आँख तो है, दो आँख से किसी को कैसे देखते? मैं देर तक इन दृश्यों को देखती रही। जितना ही उनको देखती, जितना ही उनके विषय में विचार करती, उतना ही विमुग्ध होती, उतना ही अपने को भूलती, उतनी ही पगली बनती। जिधर मैं आँखें उठाती हूँ, उधर ही नाना विभूतियों के रूप में तुमको देखकर मुख से यही निकलता है—"इन आँखिन प्यारे, तिहारे बिना जग दूसरो कोऊ दिखातो नहीं।" मै पगली कही गई हूँ, तो पगली ही रहूँगी और यही कहती फिरूँगी :—

बताता है खग-वृन्द—कलोल !
सरस—तरु—पुञ्ज प्रसून—मरन्द !
वायु—सञ्चार प्रफुल्ल—मयंक !
हमारा व्रज-जीवन—नभ—चन्द !
सत्य है, चित् है, है आनन्द !!

तुम्हारी,
पगली मीरा।

पगली का पत्र

हरिऔध जी का गद्य सदा मुहाविरेदार और काव्यरस से भरा हुआ रहा करता है। उनका यह गद्य तो पत्रशैली में लिखा हुआ गद्यकाव्य है। इसमें केवल भाषा का बाह्य सौन्दर्य ही नहीं, भाव की आभ्यन्तर रमणीयता भी है। यों साहित्य के दोनों गुण हैं।

संस्कृत आलोचकों के शब्दों में यह चम्पूकाव्य का एक छोटा-सा नमूना है। चम्पू की भाषा मिश्र होती है। उसमें गद्य और पद्य दोनों रहते हैं। उसमें वर्णन और भावोन्मेष का भी मिश्रण रहता है। साथ ही उसमें आधुनिक गद्यकाव्य के गुण भी रहते हैं।

गद्यकाव्य में एक, केवल एक भाव की अभिव्यक्ति रहती है। हरिऔधजी के इस पत्र में भी केवल अनन्य प्रेम के एक भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति है।

गद्यकाव्य के लिये शैली और रूप का कोई बन्धन नहीं रहता। वह संवाद, पत्र, उद्गार, आत्मकथा आदि की किसी शैली में बन पड़ता है। आकार प्रकार अवश्य उसका बड़ा होना चाहिए। सबसे बड़ी बात तो है गद्यकाव्य की कर्तृ-प्रधानता। गद्यकाव्य भी गीतकाव्य के समान आत्मप्रधान होता है। उसमें विषय की योजना तो निमित्तमात्र रहती है।

गद्यकाव्य का एक गुण यह भी माना जाता है कि उसमें बनाव चुनाव सँवर सिंगार की कला भी झलकती हो। यह गुण भी प्रस्तुत नमूने में है।

स्वर्गीय मोतीलाल नेहरू

गत ६ फरवरी को, दिन के ११ बजे, लखनऊ के कालाकांकर हाउस से एक शव निकला। शव को कंधे पर उठाये हुए एक ओर संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरुष गांधी था, दूसरी ओर भारत का राष्ट्रपति—जवाहरलाल नेहरू—और पीछे की ओर दो प्रसिद्ध डाक्टर। बाहर हजारों स्त्री-पुरुष-बच्चे, हिंदू-मुसलमान, ईसाई, सिख, जैन, पारसी सभी चुपचाप आँख में आँसू भरे टकटकी लगाये खड़े देख रहे थे। ऐसा सन्नाटा छाया था कि सुई गिरने की भी आवाज़ सुनाई देती थी। जब लाश बाहर निकली, तो लोगों के धैर्य का बाँध टूट गया। करुण-क्रन्दन का एक ऐसा हाहाकार उठा, जो काश्मीर से कन्या कुमारी तक गूँज उठा। भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक शोक का समुद्र उमड़ पड़ा।

यह लाश स्वतन्त्रता के महान् सेनानी की थी, यह मुल्क की आज़ादी के दीवाने का जनाज़ा था, यह राष्ट्र के उस भीष्म का शरीर था, जिसने अपने जीवन की अन्तिम श्वास तक देश और ज़ाति की लड़ाई लड़ने

में खर्च की थी, यह उस पुरुषसिंह की पार्थिव देह थी, जिसे उसके जीवन में कोई भी शक्ति वश में नहीं कर सकी थी। स्वतन्त्रता के पुजारी और स्वराज्य-संग्राम के सेनापति के कफन लिये देश के झंडे से बढ़कर क्या हो सकता है? इसीलिए पंडित मोतीलाल नेहरू का शव स्वतन्त्र भारतवर्ष के एक बड़े तिरंगे झण्डे मे लपटा हुआ था।

लाश मोटर पर रखकर प्रयाग ले जाई गई। लखनऊ से लेकर प्रयाग तक सड़क के दोनों ओर भारत की मूक जनता अपने महान् नेता को श्रद्धा की अन्तिम पुष्पांजलि देने के लिए खड़ी थी।

अब से पन्द्रह वर्ष पहले प्रयाग का 'आनन्दभवन' आनन्द का निकेतन, विलासिता का केन्द्र और वैभव का क्रीड़ा-क्षेत्र था; परन्तु आजकल वही आनन्दभवन, राजनैतिक ऋषियों की तपोभूमि है, देश के स्वतन्त्रता-संग्राम के सेनापति का शिविर है और सार्वजनिक शक्ति का केन्द्र है।

६ फरवरी को 'आनन्दभवन' में मृत्यु की भयानक गंभीरता छाई हुई थी। सहस्रों स्त्री-पुरुष 'आनन्दभवन' के स्वर्गीय स्वामी के दर्शन के लिए एकत्रित थे। तीसरे पहर एक मोटर आई, जिससे तीन धूलि-धूसरित रोती हुई मूर्तियाँ निकलीं। ये थी कुमारी इन्दु, कुमारी कृष्णा नेहरू और श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित। थोड़ी देर बाद फूलों से ढँका हुआ पंडितजी का शव आ पहुँचा। शाम को छः बजे भारतीय कांग्रेस के हेड कार्टर से पंडितजी का पार्थिव शरीर महाप्रस्थान के लिए निकाला गया।

इस समय स्वतन्त्रता का संग्राम उग्र रूप से चल रहा है। हम ऐसे स्थान पर पहुँच चुके हैं जहाँ से हमें विजय अपने सामने दीख पड़ रही है। देश का भाग्य तराजू के पलड़े में रखा हुआ, राजनैतिक स्थिति बड़ी नाजुक और संकटपूर्ण हो रही है। देश को इस वक्त आवश्यकता है महान् बुद्धिमत्तापूर्ण नेताओं की जो उसे ठीक रास्ते पर चला सके।

देश में इस प्रकार का मेधावी नेता अगर कोई था, तो वे पं० मोतीलाल थे। देश को उनकी इस समय जितनी ज़रूरत है उतनी कभी नहीं थी। ऐसी ज़रूरत के वक्त 'आनन्द्भवन' से उनका शव निकलते देखकर बरबस यही कहना पड़ता है—

'जनाज़ा हिन्द का दर से तेरे निकलता है,
सुहाग कौम का तेरी चिता में जलता है!'

× × × ×

पंडित मोतीलाल नेहरू का जीवन एक प्रतिभापूर्ण जीवन है। उसमें जितनी बाते मिलती हैं, वे चरम सीमा की। एक ओर चरम सीमा का ऐश्वर्य-वैभव और भोग-विलास है, तो दूसरी ओर चरम सीमा का त्याग और तप। इस समय देश में पंडितजी के समान शक्तिशाली व्यक्तित्ववाला कोई भी पुरुष नहीं है। उनमें लोगों के पेशवा बनने की अद्भुत शक्ति थी। उनका व्यवहार ऐसा शिष्ट और अच्छा था, जिससे वे किसी भी समाज में बड़ी आसानी से लोकप्रिय हो जाते थे। नौकरशाही के घोर विरोधी होते हुए भी सरकारी अफसरों की प्राइवेट दावतों तथा अन्य सामाजिक अवसरों पर वे उनसे ऐसी अच्छी तरह मिल-जुल सकते थे, जिससे उन लोगों को किसी प्रकार की असुविधा बोध नहीं होती थी। उनमे ऐसी अदम्य शक्ति थी, जिसे देखकर सैकड़ो युवकों को लज्जित हो जाना पड़ता था। वे ऐसे व्यक्ति थे, जिनके शत्रु भी उनके शत्रु होने में अपना सम्मान समझते थे।

एक जर्मन लेखक सी० जेड्० क्रोजेल ने 'वेर्लिनेर तागेव्लात' नामक पत्र में लिखा था—

"जब पंडित मोतीलाल नेहरू अपना सोने का चश्मा उतार कर अपने सिर से खद्दर की गांधी टोपी उतारते हैं तब वे प्राचीन काल के रोमनों से बहुत अधिक मिलते-जुलते मालूम पड़ते हैं। वे हाथ के वुने

भारतीय खद्दर का लम्बा कपड़ा इस ढंग से पहनते हैं मानों वह चोंगा हो। मोतीलाल नेहरू जब अपना सुडौल गढ़ा हुआ दाहिना हाथ सलाम के लिए ऊपर को उठाते हैं तब ऐसा मालूम पड़ता है मानों वे मुसोलिनी को इस बात का सबक़ सिखा सकते हैं कि ठीक ढंग से रोमन-सलाम कैसे करना चाहिए। इसके पूर्व कि आप यह जान सके कि मोतीलाल नेहरू किस ढंग के आदमी हैं, वे अपनी उपस्थिति और व्यवहार से आपका हृदय हर लेते हैं।" मोतीलाल जी ऐसे ही शान-बान के आदमी थे।

पंडितजी काश्मीर के एक सारस्वत ब्राह्मण-कुल के रत्न थे। उनका जन्म सन् १८६१ ई० मे हुआ था। उनके पिता दिल्ली के कोतवाल थे: मगर पंडितजी के जन्म के तीन मास पूर्व ही उनका देहान्त हो गया था। अतः उनके लालन-पालन का भार उनके बड़े भाई पंडित नंदलाल नेहरू पर था।

बालक मोतीलाल की आरम्भिक शिक्षा तत्कालीन प्रचलित प्रथा के अनुसार मुसलमानी मक़तब में हुई थी। १२ वर्ष की अवस्था में उन्हें अरबी फारसी का अच्छा ज्ञान हो गया था। बाद में वे कानपुर-गवर्नमेंट हाईस्कूल में भर्ती हुए, और वहाँ से उन्होने प्रथम श्रेणी मे एन्ट्रेंस की परीक्षा पास की। कालेज की शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे प्रयाग के म्योर सेन्ट्रल कालेज मे दाखिल हुए। वहाँ स्व० डा० सर सुन्दरलाल और महामना पं० मदनमोहन मालवीय उनके सहपाठी छात्रों में थे। मोतीलालजी बी० ए० की परीक्षा मे सम्मिलित न हो सके। उन्होंने उसी समय अपनी भावी जीविका के लिए वकालत का पेशा निर्धारित किया, और केवल तीन मास के अल्प समय में कानून का अध्ययन करके उन्होंने उसमें इतनी दक्षता प्राप्त कर ली कि हाईकोर्ट की वकालत की परीक्षा में वे सर्वप्रथम हुए।

सन् १८८३ मे युवक मोतीलाल ने कानपुर मे वकालत करना आरंभ

किया। केवल तीन वर्ष में ही उन्होंने अपनी प्रतिभा से वहाँ के वकीलों में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया। उस समय वहाँ के वकीलों के अग्रणी स्वर्गीय पं० पृथ्वीनाथ थे। वे नवयुवक मोतीलाल की प्रतिभा और उच्च आकांक्षाओं से बहुत प्रसन्न हुए, और उन्होंने इनको यह सलाह दी कि वे प्रयाग जाकर हाईकोर्ट मे वकालत करें। कानपुर में छोटी अदालत होने के कारण वहाँ का कार्यक्षेत्र बहुत परिमित था और उसमें मोतीलालजी की पूरी प्रतिभा का विकास होना सम्भव न था। मोतीलाल को यह बात पसंद आई और उन्होंने प्रयाग जाकर ९ नं० एलगिन रोड में अपना डेरा जमाकर हाईकोर्ट में वकालत प्रारम्भ की। पाँच-छः वर्ष में ही उन्होंने हाईकोर्ट के वकीलो मे एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया। उस समय से लेकर असहयोग के जमाने में वकालत छोड़ने तक मोतीलालजी उत्तर भारत के सबसे अच्छे वकीलों में गिने जाते थे।

उस समय देश में 'साहबीपन' की धूम थी। लोग साहब बनने में बड़ा फख्र समझते थे। कोई-कोई तो अपनी गर्भिणी पत्नियों को केवल इसीलिए विलायत भेजा करते थे, कि जिससे उनके बच्चे विलायत में उत्पन्न हों। पं० मोतीलाल भी जमाने के इसी रंग में रँग गए। वे अपनी प्रतिभा के बल पर लाखों रुपये उपार्जित करते और ठाट-बाट, ऐश्वर्य-विभव और विलासितापूर्ण जीवन में बड़ी दरियादिली से खर्च करते थे। उनका मकान 'आनन्दभवन' सब प्रकार के सांसारिक भोग-विलास के साज-सामानों से भरा-पूरा सचमुच मे आनन्द-भवन था। वे संयुक्तप्रान्त की फैशनेबुल सोसाइटी के नेता थे। उनके बच्चों को खिलाने के लिए यूरोपियन नर्सें नोकर थीं। उनकी कमीजें धुलने के लिए पेरिस जाया करती थी, परन्तु उस चरम विलासिता के वातावरण

---

१ प० जवाहरलाल जी ने अपनी आत्मकथा मे इसका खण्डन किया है।—सं०

में भी मोतीलालजी की 'स्पिरिट' सदा स्वतन्त्र रही, उसमें कभी दासता की कालिमा नहीं आने पाई। उन्होंने सरकारी ओहदों अथवा उपाधियों की कभी तिलमात्र भी परवाह नहीं की। उस समय यदि वे चाहते, तो हाईकोर्ट का जज हो जाना और 'सर' का ख़िताब पा जाना, उनके लिए बड़ी आसान बात थी; मगर उनकी स्वतन्त्र आत्मा ने ऐसी बातों को कभी गवारा नहीं किया।

पंडितजी बहुत दिनों से राजनैतिक कार्यों से दिलचस्पी रखते थे, परन्तु अन्य वकील राजनीतिज्ञों की अपेक्षा उन्हें राजनैतिक क्षेत्र का पेशवा होने में कुछ देर लगी। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि मोतीलालजी कभी किसी विषय पर जल्द राय क़ायम नहीं करते थे। किसी भी बात का निर्णय करने में उन्हें समय लगा करता था, क्योंकि वे उस बात के प्रत्येक सम्भव और असम्भव पहलू पर अच्छी तरह विचार कर उसकी तह तक पहुँचकर ही अपना विचार निर्धारित करते थे; परन्तु जब वे एक बार किसी बात को अच्छी तरह सोच-समझकर उस पर अपनी राय क़ायम कर लेते थे, तब उन्हें उससे डिगाना असम्भव था। रोज़मर्रा का यह साधारण स्वभाव उनके राजनैतिक जीवन पर लागू होता है। उनमें राष्ट्रीयता की उग्र भावना देर मे उत्पन्न हुई, मगर जब एक बार वह भावना उत्पन्न हो गई, तब उन्होंने उस पर अपना सर्वस्व निछावर कर दिया। उनके हृदय में जो राष्ट्रीयता उदय हुई वह ऐसी दृढ़, ऐसी शक्तिशाली थी, जिसे संसार की कोई भी शक्ति विचलित नहीं कर सकती थी और जिसके लिए उन्होंने अपने जीवन की अन्तिम साँस तक, एक बहादुर सिपाही की भाँति युद्ध किया।

सन् १९०७ की सूरत-कांग्रेस के अवसर पर जब स्वागताध्यक्ष ने स्वर्गीय रासबिहारी घोष को सभापति बनाने का प्रस्ताव उपस्थित किया,

तब नेहरूजी ने उस प्रस्ताव का समर्थन किया था। कांग्रेस का इतिहास जाननेवाले सभी लोग जानते हैं कि सूरत-कांग्रेस का झगड़ा ही एक प्रकार से भारत की सच्ची राष्ट्रीयता का जनक कहा जा सकता है। उसी कांग्रेस में उग्र राष्ट्रीय विचार वाले—जैसे लोकमान्य तिलक का दल और श्री अरविन्द घोष के साथी-संगी—कांग्रेस से अलग हो गए थे, परन्तु उस समय मोतीलालजी उस उग्र दल के विरोधी दल मे थे। सन् १९०७ में वे संयुक्तप्रान्त की प्रथम राजनैतिक कानफ़रेन्स के सभापति चुने गए थे। उसके दो वर्ष बाद उन्होंने संयुक्तप्रान्त की व्यवस्थापिका-सभा में प्रवेश किया। इलाहाबाद की न्यूज़पेपर्स लिमिटेड, कम्पनी के पहले सभापति भी पंडित मोतीलालजी ही थे। इसी कंपनी से प्रयाग के सुप्रसिद्ध पत्र 'लीडर' का प्रकाशन होता है।

सन् १९१५–१६ के होमरूल-आन्दोलन में भी उन्होंने गहरा भाग लिया। इसी आंदोलन में उनकी संगठन-शक्ति का पूर्वाभास मिला, जिसका परिचय बाद में उन्होंने स्वराज्य-पार्टी के संगठन में दिया। इस अवसर पर पं० जवाहरलाल नेहरू ने, होमरूल आंदोलन में भाग लेकर अपने सार्वजनिक जीवन में क़दम रखा।

मांटेगू-चेम्सफोर्ड-रिफार्म के बाद जब कांग्रेस ने उसे असंतोषजनक बताया, तो कांग्रेस के बहुत से पुराने नेताओं ने, जो आजकल लिबरल या माडरेट कहलाते हैं, कांग्रेस से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। बस, इसी समय से मोतीलालजी का अपने पुराने साथियों से साथ छूट गया। अब वे कांग्रेस-अनुयायी और पक्के राष्ट्रवादी बन गये; मगर उनकी राष्ट्रीयता में इस बात की विशेषता थी कि वे प्रत्येक वात को व्यावहारिक दृष्टि से देखते थे।

सन् १९१९ की घटनाओं ने भारत में ऐसी क्रांति कर दी, जिसका नरम-दलवालों और भारत की मित्रता का दम भर[illegible]ाले विलायतियो

को अनुमान ही नहीं था। कांग्रेस का उद्देश्य, उसका आदर्श और उसकी कार्य-प्रणाली आदि सभी बातों का काया-पलट हो गया। रौलेट एक्ट का आविर्भाव, कांग्रेस में महात्माजी का उदय, जलियानवाला-बाग़ आदि घटनाएँ समाचार-पत्रों के पाठकों को भली-भाँति विदित हैं। इन सब बातों ने भारतीय राष्ट्रीयता का दृष्टि-कोण ही बदल दिया। इस समय पं० मोतीलाल जी ने पंजाब के 'मज़लूमों' को सहायता पहुँचाने में बड़ा भारी भाग लिया। उस समय उन्होंने जो मुस्तैदी, उदारता और त्याग दिखलाया था, उसे आज भी पंजाबवाले कृतज्ञता से स्मरण करते हैं। अमृतसर की कांग्रेस के सभापति के आसन को भी उन्होंने सुशोभित किया था। इसी अवसर पर पं० मोतीलाल नेहरू और महात्मा गान्धी में वह घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ, जिसका सुफल भारत की राष्ट्रीयता के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जायगा।

सन् १९२० में असहयोग आंदोलन शुरू हुआ। पं० मोतीलाल जी उसमें निःसंकोच भाव से सपरिवार कूद पड़े। हजार रुपये प्रतिदिन कमानेवाले वकील ने राष्ट्रीयता के आगे वकालत को ठुकरा दिया। आनन्दभवन धीरे-धीरे त्याग-भवन में परिणत होने लगा। बहुमूल्य विलायती, रेशमी और सूती वस्त्र तथा अन्य साज-सामान अग्नि की पतित-पावनी लपटों की भेंट हो गए। पेरिस के धुले बहुमूल्य कपड़े पहिननेवाले का शरीर हाथ के बुने खद्दर से विभूषित होकर एक अलौकिक छटा दिखाने लगा। विलासिता की गोद में पले हुए वृद्ध मोतीलालजी तपस्वी का कठोर जीवन बितानेवाले त्यागवीर मोतीलाल नेहरू हो गये। संसार असहयोग आंदोलन को चाहे भारतीयो की दृष्टि से देखे या अंग्रेजों की दृष्टि से, उसे अच्छा कहे या बुरा, उसे उच्च राज-नीतिज्ञता करार दे या मूर्खता-पूर्ण पागलपन; मगर किसी भी दृष्टि से देखने से मोतीलाल नेहरू के महान् त्याग का महत्त्व नहीं घट सकता। नेहरू और देशबन्धु दास सरीखे व्यक्तियों के त्याग ने भारत की

राष्ट्रीयता को जो नैतिक शक्ति प्रदान की है, उसका प्रभाव कम नहीं कहा जा सकता।

असहयोग-आन्दोलन के संबंध में मोतीलालजी को युक्त-प्रदेश के अन्यान्य नेताओं के साथ सज़ा हो गई। आनन्द-भवन के विलासी स्वामी ने देश के लिए भारतीय जेल की रोटियाँ खुशी से खाईं। चौरा-चौरी कांड के बाद महात्मा गांधी ने असहयोग के लिए सहसा 'हाल्ट' की आज्ञा दे दी। देश-भर मे आंदोलन रुक गया। महात्माजी पकड़े गए और उन्हें लंबी सज़ा दी गई।

गया-कांग्रेस के पहले देश की तत्कालीन परिस्थिति पर विचार करने के लिए कमेटी बनाई गई थी। कमेटी ने जाँच करके जो रिपोर्ट दी, वह सर्वसम्मत नहीं थी। परिणाम-स्वरूप गया-कांग्रेस में कांग्रेसवालो में आपस मे गहरा मतभेद हो गया। देशबंधु चित्तरंजन दास ने इस बात पर ज़ोर दिया कि कौन्सिलों, अदालतों और स्कूलों का बायकाट उठा लिया जाय। गया-कांग्रेस ने दास महोदय के विरुद्ध राय दी। फल यह हुआ कि श्रीयुत दास और पंडित मोतीलाल नेहरू ने मिलकर एक नवीन संगठन को जन्म दिया जो स्वराज्य-पार्टी के नाम से प्रसिद्ध है। उस समय के बाद से गत सात वर्षों का भारतवर्ष का इतिहास वस्तुतः स्वराज्य-पार्टी का ही इतिहास है। स्वराज्य-पार्टी ने देश में और संसार में जो प्रभाव डाला है, उसकी महत्ता कम नहीं कही जा सकती। एक प्रकार से स्वराज्य-पार्टी की कारवाइयों का ही यह फल था कि गत लाहौर-कांग्रेस ने पूर्ण-स्वाधीनता की माँग उपस्थित की। देशबंधु दास की मृत्यु के पश्चात् पंडित मोतीलाल नेहरू ही स्वराज्य-दल के प्रमुख नेता हुए। नेहरू जी ने दल को सुसंगठित बनाने में जिस योग्यता और संगठन-शक्ति का परिचय दिया, उसे देखकर उनके विरोधियों को भी उनका लोहा मानना पड़ा। कौंसिलों और विशेष कर एसेम्बली मे स्वराज्य-दल वालों के आतंक के मारे सरकारी पक्ष के सदस्यों को नींद-भूख हराम

थी। जिस दिन से पं० मोतीलाल ने एसेम्वली में राष्ट्रीय माँग का प्रस्ताव पेश किया था, उस दिन से लेकर एसेम्वली छोड़ने के दिन तक एसेम्वली में उन्हीं की तूती वोलती रही। गोलमेज कॉन्फ्रेन्स का विचार भी पं० मोतीलाल नेहरू ही के मस्तिष्क की उपज है। काश कि ब्रिटिश सरकार ने उस समय पं० नेहरू की वात मान ली होती, तो आज यह दुर्दिन देखने को नसीव न होते।

मोतीलाल जी का एसेम्वली में जाने का उद्देश्य केवल छोटी-मोटी सुविधाएँ प्राप्त करना ही नहीं था वल्कि उनका लक्ष्य स्वराज्य प्राप्त करना था। सन् १९२५ में उन्होंने सुप्रसिद्ध 'राष्ट्रीय माँगें' एसेम्वली के सामने उपस्थित कीं और उन्हें दो बार सन् १९२५ और १९२९ में पास करवाया। नौकरशाही के पिटठू कहा करते थे कि जव तक हिन्दू-मुसलमानों का समझौता न होगा, तब तक स्वराज्य नहीं हो सकता। इसके उत्तर में नेहरू जी ने सर्वदल सम्मेलन का संगठन करके संपूर्ण भारतवर्ष के लिए राष्ट्रीय विधान की योजना की, जो 'नेहरू रिपोर्ट' के नाम से सुप्रसिद्ध है।

सन् १९२८ के अंत में कलकत्ता-कांग्रेस के अध्यक्ष का आसन मोतीलालजी ने ही सुशोभित किया था। इसी कांग्रेस मे भारत ने ब्रिटेन को इस बात का चैलेंज दिया था कि यदि ब्रिटेन एक वर्ष के अन्दर भारतवर्ष को पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य न दे देगा, तो कांग्रेस पूर्ण-स्वतंत्रता की घोषणा करके उसके लिए संग्राम छेड़ देगी। यह प्रायः सभी जानते हैं कि सरकार ने औपनिवेशिक स्वराज्य देने की बात नहीं मानी, और फलतः लाहौर-कांग्रेस ने पूर्ण-स्वतंत्रता की घोषणा करके सत्याग्रह-संग्राम छेड़ दिया।

गत वर्ष ११ अप्रैल को पंडित मोतीलाल नेहरू ने अपना आनन्द-भवन देश को समर्पित कर दिया। आनन्द-भवन का नया नाम 'स्वराज्य-भवन' हो गया। आजकल वही भारत की राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस का हेड-कार्टर है। १४ अप्रल सन् १९३० को राष्ट्रपति पं० जवाहरलाल

नेहरू को ६ मास के कारावास का दंड मिला। १८ अप्रैल को भारतवर्ष के डिक्टेटर महात्मा गांधी ने मोतीलालजी को कांग्रेस का अस्थायी सभापति मनोनीत किया। ३० जून को सरकार ने कांग्रेस की वर्किंग कमेटी को गैरकानूनी करार देकर उसके सभापति पं० मोतीलाल नेहरू को गिरफ्तार करके ६ मास की सजा दी। जेल में मि० जयकर और सर सप्रू ने कांग्रेस-नेताओं और सरकार में समझौता कराने की चेष्टा की; मगर कुछ फल न निकला। पं० मोतीलालजी का स्वास्थ्य पहले ही से खराब था। वे आबहवा बदलने के लिए यूरोप जाने का विचार कर रहे थे। इधर उनके ऊपर कांग्रेस के काम का भार रहा और उस पर से जेल की तकलीफें। वृद्ध शरीर एकदम जर्जरित हो गया। जब सरकार ने देखा कि पंडित जी को जेल में रखने से उनकी जान जोखिम में है, तब मजबूर होकर उन्हें ८ सितम्बर को छोड़ दिया।

मगर चारों ओर दमन का दौर-दौरा चल रहा था। पंडितजी के पुत्र, पुत्रवधू और जामाता जेल में थे, अतः आंदोलन से अलग निश्चिन्त होकर रहना उनके लिए असंभव था। वे उस बीमारी की दशा में भी आंदोलन के सम्पर्क में बने रहे। बीमारी और भी गहरी होती गई, और अंत में गत ६ फरवरी को भारतीय स्वतंत्रता का सच्चा नायक भारत को शोक में डुबाकर चल बसा!

× × × ×

पंडितजी ने राष्ट्र के लिए बहुत कुछ दिया है। उन्होंने अपने शारीरिक सुख-चैन, अपना अमूल्य समय, अपनी अलौकिक मेधा की शक्तियाँ, अपना धन, अपना मकान और अपना परिवार तक देश को अर्पण कर दिया, मगर देश के लिए उनका सबसे महान् दान—जैसा आज तक संसार के शायद ही किसी महान् पुरुष ने किया हो—है पंडित जवाहरलाल नेहरू।

मोतीलाल नेहरू

पद्मसिंह शर्मा और ब्रजमोहन वर्मा संस्मरण लिखने में सिद्धहस्त थे। शब्द-चित्र खींचने और महाविरेदार भाषा लिखने में दोनों ही आचार्य थे। वर्मा-जी के एक संस्मरण का यह नमूना सामने है। इसमें निबंध के गुण तो हैं ही, संस्मरणवाली मिठास भी है।

शब्दों का अर्थ

एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना बहुत कठिन काम है, और सच पूछिए तो ज़रा भी गहरी बातों का ठीक-ठीक अनुवाद हो ही नहीं सकता। किसी भाषा का क्या काम है ? वह हमको सोचने में मदद करती है। भाषा तो एक तरह से जमे हुए विचार हैं। उसके द्वारा हवाई ख़यालात एक मूर्ति बन जाते हैं। उसका दूसरा काम यह है कि उसके ज़रिये हम अपने विचारों का इज़हार कर सकें और उनको औरों तक पहुँचा सकें; दो या अधिक आदमियों में ख़यालात की आमदरफ्त हो। भाषा और भी कई तरह से कामों में आती है लेकिन इसमें बिलफेल हमें जाने की आवश्यकता नहीं है। एक शब्द या फ़िकरा हमारे दिमाग़ में किसी-न-किसी मूर्ति की शक्ल में आता है। मामूली सीधे-सादे शब्दों से, जैसे मेज़, कुर्सी, घोड़ा, हाथी आदि से, आसान और साफ मूर्तियाँ बनती हैं, और जब हम उनको कहते हैं, तब सुनने-वाले के दिमाग़ में भी अकसर करीब करीब वैसी ही मूर्तियाँ बन जाती हैं। इससे हम कह सकते है कि वे हमारे मानी समझ गये।

लेकिन जहाँ हम इन सीधे और आसान शब्दों से आगे बढ़े, वहाँ फ़ौरन पेचीदगी पैदा हो जाती है। एक मामूली फ़िकरा भी दिमाग़ में कई तसवीरें पैदा करता है, और यह सम्भव है कि सुननेवाले के दिमाग़ में कुछ और ही तसवीरें पैदा हों। बहुत कुछ दोनों की मानसिक शक्ति पर निर्भर है—उनकी पढ़ाई पर, उनके तजरुबे पर, उनके इल्म पर, उनकी प्रेरणाओं पर और उनके जज़बात पर। अब एक क़दम और आगे बढ़िये और ऐसे शब्द लीजिये जो Abstract (अमूर्त) और पेचीदा हैं, जैसे सत्य, सौन्दर्य, अहिंसा, धर्म, मज़हब इत्यादि। हम रोज़ सैकड़ों दफ़े इन शब्दों का प्रयोग करते हैं लेकिन अगर हमको उनके मानी पूरी तौर से समझाने पड़ें, तो हमें काफ़ी कठिनाई हो। हम यह देख सकते हैं कि ऐसे शब्द दो आदमियों के दिमाग़ में कभी एक-सी मूर्तियाँ या तसवीरें पैदा नहीं करेंगे। इसके मानी यह है कि हम अपने मानी दूसरे को नहीं समझा सके, हालाँ कि हम दोनों बात एक ही कहते हैं; पर दोनों का अर्थ अलग-अलग है। यह दिक़्क़तें बढ़ती जायँगी, जितने अधिक पेचीदा और Abstract विचार हम पेश करेंगे, और यह भी हो सकता है (और हुआ है) कि हम इसी ग़लतफ़हमी की वजह से आपस में लड़ें और एक दूसरे का सिर फोड़ें।

यह सब कठिनाइयाँ दो ऐसे आदमियों मे भी, जो एक ही भाषा के बोलनेवाले हैं, सभ्य और पढ़े हुए है और एक ही संस्कृति के पले हुए हैं, पैदा हो सकती हैं। अगर एक पढ़ा और दूसरा अनपढ़ और जाहिल हुआ, तब उनके बीच में बड़ा भारी फासला हो जाता है—और उनका एक दूसरे को पूरी तौर से समझना असम्भव हो जाता है—वे दो दुनियाओं में रहते है।

लेकिन यह सब कठिनाइयाँ छोटी मालूम होती है, जब हम इनका मुकाबला करते हैं ऐसे दो आदमियों से, जो अलग-अलग भाषायें बोलते

हैं और एक दूसरे की संस्कृति को अच्छी तरह से नहीं जानते। उनके मानसिक विचारों में, दिमागी तसवीरों में तो ज़मीन-आसमान का फ़रक है। वे एक दूसरे को बहुत कम समझते हैं। फिर आश्चर्य क्या, जब वे एक दूसरे पर भरोसा न करें, एक दूसरे से डरें या आपस में लड़ें?

एक भाषातत्त्वज्ञ (philologist) प्रोफेसर जे० एस० मेंकनज़ी ने, जिन्होंने भाषाओं पर और उनके सम्बन्ध पर बहुत ग़ौर किया है, लिखा है—

"An English man, a French man, a German and an Italian cannot by any means bring themselves to think quite alike, at least on subjects which involve any depth of sentiment; they have not the verbal means."

यह याद रखने की बात है कि एक अंगरेज़, एक फरासीसी, एक जर्मन और एक इटालियन एक ही संस्कृति की औलाद हैं और उनकी भाषाओं में बहुत क़रीब का सम्बन्ध है। फिर भी यह कहा जाता है कि वे किसी तरह से किसी गहरे विषय पर एक-सा नहीं सोच सकते, क्योंकि उनकी भाषाओं में अन्तर है। अगर यह हाल उनका है, तो एक हिन्दुस्तानी और एक अंगरेज़ का या उनकी भाषाओं का क्या कहा जाय? धोती-कुर्ता पहनने से एक अंगरेज़ हिन्दुस्तानी की तरह नहीं सोचने लगता और न कोट-पतलून पहनने और छुरी-काँटे से खाने से एक हिन्दुस्तानी यूरोप की सभ्यता को ही समझ जाता है।

जब एक दूसरे को समझने में यह कठिनाइयाँ हैं, तब बेचारा अनुवादक क्या करे? कैसे इन मुसीबतों को हल करे? पहली बात तो यह है कि वह इनको महसूस करे और यह जान ले कि अनुवाद करना सिर्फ़ कोष को देखकर लफ्ज़ी मानी देना नहीं है। उसको दोनों

भाषाओं को अच्छी तरह समझना है, और उनके पीछे जो संस्कृति है, उसको भी जानना है। उसको कोशिश करनी चाहिए कि वह अपने को भूल जाय और मूल लेखक की विचार-धाराओं में गोते खाकर फिर उन विचारों को अपने शब्दों में दूसरी भाषा में लिखे।

मेरा खयाल है कि हमारे अनुवादक लोग इस गहराई में जाने की कोशिश कम करते हैं, और ज्यादातर अखबारी तौर पर अनुवाद करते हैं। अकसर ऐसे शब्द और फ़िक़रे मुझे हिन्दी में मिलते हैं, जिनको देख कर मुझे आश्चर्य होता है। 'ट्रेड यूनियन' (Trade union) का अनुवाद मैंने 'व्यापार-संघ' पढ़ा। यह शब्दों के हिसाब से बिल्कुल सही है। लेकिन जो इस चीज़ को नहीं जानता, वह कभी नहीं समझ सकता कि व्यापार-संघ व्यापारियों का नहीं, बल्कि मज़दूरों का है। ट्रेड यूनियन शब्द के पीछे सौ बरस से अधिक का इतिहास है। जो उसको कुछ जानता है, वह समझेगा कि कैसे यह नाम पड़ा। फ्रांस में यह नाम नहीं है, न इसका अनुवाद है। वहाँ इसको syndicate कहते हैं। अगर फ्रेंच से हिन्दी में अनुवाद हो तो क्या हम उसे 'सिंडिकेट' कहेंगे या कुछ और? यह तो बिल्कुल सीधा-सा उदाहरण है। असल कठिनाई तो ज्यादा पेचीदा बातों में आती है।

दूसरी बात यह है कि अनुवादक लोग जहाँ तक हो सके, छोटे और आसान शब्दों का प्रयोग करें, जिनके कई मानी न हों, जो कि धोखा दे सकें। फिक़रे लम्बे-चौड़े न हों। दुनिया की अनेक भाषाओं में जो प्रसिद्ध साहित्य की पुस्तकें हैं उनका अनुवाद प्रायः बहुत भाषाओं में हो गया है, और बहुत अच्छी तरह से हुआ है। कोई वजह नहीं मालूम होती कि हिन्दी में भी ऐसे ही अच्छे अनुवाद क्यों न हों। मुझे तो पूरी आशा है कि जब हमारे साहित्यकार इधर ध्यान देंगे, तो यह आवश्यक कार्य भी सफल होगा। बड़ी कठिनाई तो यह है कि

हमारे विश्वविद्यालयों के बी० ए० और एम० ए० अंग्रेज़ी बहुत कम जानते हैं, और अन्य विदेशी भाषाएँ तो जानते ही नहीं।

साहित्य की मामूली किताबें अनुवादित हो सकती हैं, लेकिन धर्म और दर्शन-शास्त्र की तथा ऐसे ही Abstract विषयों की किताबों का ठीक अनुवाद करना तो असम्भव मालूम होता है। उनमें ऐसे शब्द आते हैं, जिनके बहुत से जुदा-जुदा मानी होते हैं—एक पोशाक दर्जनों आदमी पहनते हैं, उनको पहचानें कैसे ? वे एक शब्द होने पर भी एक शब्द नहीं है और तरह तरह की तसवीरें दिमाग में पैदा करते हैं—जैसे सौन्दर्य, सत्य, धर्म, मज़हब वग़ैरह। सौन्दर्य को ही लीजिए। औरत का, प्रकृति का, किसी विचार का, किसी कला का, सत्य का, फ़िक़रे का, चाल-चलन का, उपन्यास का—ऐसे ही अगणित प्रकार के सौन्दर्य कहे जा सकते है। इन सब बातों में एकता क्या है ? अगर यह कहा जाय कि जो चीज़ लोगों को पसन्द हो और उनको प्रसन्न करे, उसी में सौन्दर्य है, तो यह तो एक बिल्कुल गोल बात हो गई, फिर लोगों की राय एक-सी नहीं होती।

हर भाषा में बहुत से शब्द ऐसे गोल हैं, जिनके कई मानी हो सकते है। कुछ ऐसे हैं जो कि बिल्कुल ख़राब हो गये हैं, और जिनके ख़ास मानी रहे ही नहीं। कुछ भिखमंगे शब्द हैं जिनकी निस्बत मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा था—"Terms thrown out, so to speak, at a not fully grasped object of the speaker's consciousness." कुछ शब्द खानाबदेश (Nomads) होते हैं, जो इधर-उधर फिरते है, जिनके कोई ख़ास मानी नहीं है।

ऐसे शब्द हर भाषा में होते है, और जिन लोगों के विचार साफ़ नहीं होते, वे ख़ास तौर से इनका प्रयोग करते हैं। वे अपने दिमाग़ की कमज़ोरी को लम्बे और गोल और किसी क़दर बेमानी शब्दों में छिपाते है। जिस भाषा में ऐसे शब्दों का अधिक प्रयोग हो (मेरा मतलब इस

समय सौन्दर्य, सत्य आदि से नहीं है), उसकी शक्ति कम हो जाती है। उसके साहित्य में तलवार की तेज़ी नहीं होती, और न वह तीर की तरह से कमान को छोड़कर अपना मतलब हल करता है।

हम कोशिश कर सकते है कि इन घिसे हुए, भिखमंगे और आवारा शब्दों को हम अपने बोलने और लिखने में जहाँ तक हो सके, पनाह न दें। अपराध बेचारे शब्दों का क्या है, वे तो कम-सीखे हुए और अनुशासन-रहित दिमाग़ों के बच्चे हैं। बोलने और लिखनेवाले भाषा को बनाते हैं; लेकिन फिर उतना ही असर उस भाषा का उन नये आदमियों पर होता है, जो उसका प्रयोग करते हैं। पुरानी भाषाओं में—संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि में—शब्दों की या विचारों की ढील बहुत कम मिलती है, उनमें एक चुस्ती और हथियार की सी तेज़ी पाई जाती है, और बेकार शब्द बहुत कम मिलते हैं। इससे उनमें शान और Dignity (बड़प्पन) आ जाती है, जो कि ख़ास असर पैदा करती है। आजकल की भाषाओं मे शायद फ्रेंच सबसे अधिक साफ-सुथरी है, और फ्रेंच लोग प्रसिद्ध हैं अपने मानसिक अनुशासन (Discipline) और अपने विचारों को बहुत शुद्धता से प्रकट करने के लिए।

जो किसी क़दर निकम्मे शब्द हैं, उनका सामना तो हम इस तरह से करें, लेकिन जो हमारे ऊँचे दर्जे के abstract शब्द हैं, उनका क्या किया जाय? वे हमें प्रिय हैं, वे हमारे लिए ज़रूरी है, और अकसर हमें उभारने में वे सहायता देते हैं। लेकिन फिर भी वे गोल हैं और कभी-कभी इतने मानी रखते हैं कि बे-मानी हो जाते हैं। ईश्वर ही के खयाल को लीजिए। हर मजहब में और हर भाषा में उसकी तारीफ़ में हजारों शब्द कहे गये हैं। मालूम होता है कि इन्सान का दिमाग़ इस खयाल को समझ नहीं सका और अपनी कमजोरी छिपाने को कोष खोलकर जितने बड़े और जोरदार शब्द मिले, वे सब ईश्वर के मत्थे डाल दिए गये। उन सब शब्दों का अर्थ समझना मानसिक शक्ति के

बाहर था; लेकिन बहुत-कुछ कह और लिख देने से एक तरह का संतोष हुआ कि हमने अपना फ़र्ज़ अदा कर दिया और कम से कम ईश्वर को अब हमसे कोई शिकायत नहीं करनी चाहिए। अल्लाह के हज़ार नाम है, गोया कि नाम बढ़ाने से असलियत ज़्यादा साफ हो जाती है। God को अंग्रेजी में absolute, omnipotent, omniscient, omnipresent, perfect, unlimited, immutable, eternal इत्यादि कहते हैं। यह सब सुनकर किसी क़दर दिल सहम अवश्य जाता है; लेकिन अगर इन शब्दों पर कोई ग़ौर करने की धृष्टता करे, तो उसकी समझ में बहुत कुछ नहीं आता। मनोविज्ञान के प्रसिद्ध अमेरिकन पंडित विलियम जोन्स ने लिखा है—

"The ensemble of the metaphysical attributes imagined by the theologian is but a shuffling and matching of pedantic dictionary adjectives. One feels that in the theologian's hands they are only a set of titles obtained by a mechanical manipulation of synonyms; verbality has stepped into the place of vision, professionalism into that of life."

इसी तरह से इटालियन दार्शनिक क्रोस ने परेशान होकर sublime शब्द के मानी यह बतलाये हैं—"The sublime is every thing that is or will be so called by those who have employed or shall employ the name." इसके बाद कुछ ज़्यादा कहने की गुंजाइश नहीं रह जाती, और हर एक को इतमिनान हो जाना चाहिए।

हर सूरत से यह ऊँचे दर्जे की हवाई Sublime बातें मामूली आदमी की पहुँच के बाहर हैं। बड़े पंडित और आचार्य तय करें कि Abstract शब्दों का कब प्रयोग हो और उसका कैसे अनुवाद हो।

लेकिन फिर भी हम मामूली आदमियों को यह नहीं भूलना चाहिए कि शब्द ख़तरनाक वस्तु है, और जितना ही वह Abstract है, उतना ही वह हमको धोखा दे सकता है। और शायद सब से अधिक ख़तरनाक शब्द धर्म या मज़हब है। हर एक आदमी अपने दिल में अलग ही उनके मानी निकालता है। हर एक के मन में नई तसवीरें रहा करती हैं। किसी का ध्यान मन्दिर, मसजिद या गिरजे पर जावेगा, किसी का चन्द पुस्तकों पर या पूजा-पाठ पर, या मूर्ति पर, या दर्शनशास्त्र पर, या रिवाज पर, या आपस की लड़ाई पर, इस तरह से एक शब्द लोगों के दिमाग़ों में सैकड़ों अलग-अलग तसवीरें पैदा करेगा और उनसे तरह-तरह के विचार निकलेंगे। यह तो भाषा की कमज़ोरी मालूम होती है कि एक ही शब्द ऐसा असर पैदा करे। होना तो यह चाहिए कि एक शब्द का संबंध एक ही मानसिक तसवीर से हो। इसके मानी यह है कि धर्म या मज़हब के सौ टुकड़े हों और हर एक टुकड़े के लिए अलग शब्द हो। सुनने मे आया है कि अमेरिका की पुरानी भाषा में प्रेम करने के लिए दो सौ से अधिक शब्द थे। उन सब शब्दों का हम अब कैसे ठीक अनुवाद कर सकते हैं!

शब्दों के प्रयोग के बारे में किसी तरह महात्मा गांधी भी गुनहगार है, यो तो जो कुछ वे कहते है या लिखते हैं, वह साफ-सुथरा और बाअसर होता है। उसमें फ़िज़ूल शब्द नहीं होते और न कोई कोशिश होती है सजावट देने की। इसी सफाई में उसकी शक्ति है। लेकिन जब वे ईश्वर या सत्य या अहिंसा की चर्चा करते हैं—और वे अकसर करते हैं,—तब उस मानसिक सफाई में कमी हो जाती है। God is truth, truth is God, non-violence is truth, truth is non-violence,—ईश्वर सत्य है, सत्य ईश्वर है, अहिंसा सत्य है, सत्य अहिंसा है,—यह सब उन्होंने कहा है। इस सबके कुछ-न-कुछ मानी अवश्य होंगे; लेकिन वे साफ बिल्कुल नहीं हैं। मुझको तो इस तरह के शब्दों का प्रयोग करना उनके साथ कुछ अन्याय करना मालूम होता है।

शब्दों का अर्थ

यह विचारप्रधान निबन्ध है। इसकी गणना प्रयुक्त साहित्य में होती है। प्रयुक्त साहित्य की रोचकता और उपयोगिता का गुण रहने पर भी एक दोष खटकता है; वह है इस लेख की सामयिकता। इसमें स्थायी प्रभाव वाला तत्त्व नहीं है। तो भी इस लेख में आकर्षण है, ज्ञान है और है तथ्यप्रियता, भाषा की स्वाभाविकता, प्रतिपादन-शैली की सौम्यता और लेखक की सचाई हमें बरबस खींचती है। ऐसे सामयिक साहित्य का भी एक स्थान है। उसे पढ़ने से कुछ लोगों को अवश्य ही सुख और संतोष मिलता है।

रूप

मेरे रायबहादुर मामा ३८ वर्ष की उम्र में दूसरी शादी करके लाए थे। अपनी नई मामी से कुछ दूर पर बैठा हुआ मैं एकटक दृष्टि से उन्हें देख रहा था। उनकी बड़ी बड़ी आँखों में तरल हँसी छलछला रही थीं; गुलाब जैसे भरे हुए चेहरे से यौवन और सौन्दर्य महक महक कर फूट रहा था। खूब याद है, उन आँखों में कोई उनींदापन नहीं था, जिसे हम मादकता कहते हैं, और न चेहरे का कटाक्ष ही किसी ऐसी कोमल रेखा-भंगी पर हुआ था, जो रूप में कला की मात्रा निर्धारित करती है। एक निखरा हुआ सौन्दर्य, एक प्रबल आकर्षण केवल वहाँ था, जो आँखों को कुछ समय के लिये मानों पकड़ कर बैठ जाता था।

यह उस समय की बात है, जब मैं चौदह वर्ष का था। यौवन अपनी उमंगों के लिए भूमि तैयार कर रहा था, पर हृदय ने शैशव के कुतूहल का दामन अभी नहीं छोड़ा था। मैं मामी को देख रहा था—विस्मय से, आनन्द से। कहीं कोई टीस भी चल रही हो, तो याद नहीं;

पर इतना अब भी कह सकता हूँ कि उस समय कुछ ऐसा अनुभव हो रहा था, जैसे दो आदमियों ने मुझे कसकर पकड़ लिया हो और तीसरा गुदगुदी चला रहा हो।

विवाह खतम हो जाने के बाद अपने पिताजी के साथ मैं घर चला आया, और चन्द दिन बाद मामी भी अपने नैहर को बिदा हो गई होंगी। लेकिन इन थोड़े से दिनों में ही उनके अत्यन्त रूपवती होने की बात सारे शहर में फैल गई थी। जब तक वह ससुराल में रहीं, मुँह-दिखाई की रस्म के लिये आई हुई औरतों का वहाँ ताँता बँधा रहा। मामाजी का रसूक शहर में यों ही काफी बढ़ा-चढ़ा था, फिर कितनी ही औरतें तो केवल अपना कुतूहल शान्त करने के लिए ही वहाँ आतीं और मुँह भर भर कर तारीफ करती हुई लौटतीं।

(२)

इस प्रशंसा का कितना अंश सच्चे हृदय से निकला था और कितना स्त्रीजाति की सहज ईर्ष्या से सम्बन्ध रखता था, यह उस वक्त मैं नहीं जान सका। लेकिन बाद में वहीं देख लिया कि स्त्री स्त्री से उसी तरह मिलती है, जैसे दो नंगी तलवारें। दो साल बाद मामाजी के यहाँ फिर मेरा ऐसे ही किसी मौके पर जाना हुआ। उस वक्त भी औरतों का वहाँ खासा जमघट था। मामीजी उनकी आवभगत में अपने आपको भूली हुई थीं। किसी को वह खिला-पिला रही थीं, किसी का स्वागत कर रही थी, किसी से बिदा ले रही थीं और किसी के दुख-सुख की सुन रही थीं। लेकिन मैंने देखा, इन सबके बीच उनकी निन्दा का एक राग अविच्छिन्न रूप से उस छोटे से समाज में छिड़ा हुआ था—कहीं कानों-कानों में, कहीं स्पष्ट शब्दों में और कहीं केवल इशारों और भ्रू-नर्तन में। मामी के प्रत्येक शब्द से लेकर उनकी चाल-ढाल और हरकत तक ईर्ष्या की निहाई पर आलोचना के कड़े हथौड़े से ठोक-ठोक कर परखे जा रहे

थे। सम्भव है, उनमें से किसी एक विषय पर उनकी रायें कुछ दूर के लिए दो हो गई हों, पर उनके रूप के सम्बन्ध में सबकी यही एक धारणा थी कि चन्द रोज बाद वह पाउडर की सफेदी की तरह फीका पड़ जायगा।

मामीजी को इस सबकी खबर थी या नहीं, कुछ नहीं मालूम, लेकिन अब देखता हूँ, वह जैसे इन सब आक्षेपों का जवाब अपनी किसी हल्की सी मुसकान में, किसी कोमल सम्बोधन मे, या एक मधुर दृष्टिपात में ही चलते चलते दे जाती थीं और वह जवाब उनके प्रतिपक्षी के हृदय में गहरा पैठ कर उसे निःशस्त्र कर देता था।

अपने सौन्दर्य की शक्ति का उन्हें पूरा ज्ञान था—शायद सभी स्त्रियों को सहज रूप से थोड़ा-बहुत होता है; पर औरों को केवल उसका ज्ञान होता है, मामीजी को उसपर पूरा-पूरा नियंत्रण भी था—उसके प्रत्येक उतार-चढ़ाव पर, उसकी हलकी सी हलकी शेड पर। चित्रकार जैसे केवल एक रेखा खींच कर अपनी व्यंजना को हलकी या गहरी कर देता है, और कभी कभी चित्र के प्रभाव को बदल ही देता है, उसी प्रकार मामीजी भी एक सुरमई साड़ी पहन कर अपने रूप की टोन को कस कर एकदम ऊँचा कर सकती थीं, कभी छापे की एक सफेद धोती में ढँककर उसे मधुर मुलायम कर देती थीं और कभी किसी खास आभूषण की झलक से ही उसके प्रभाव में रंग भर सकती थीं।

यही एक रहस्य था, जिसके बल पर सौन्दर्य की उस दुनियाँ मे वह प्रतिमा होकर पूजती थीं। मैं अब उनके यहाँ अक्सर जाता-आता रहता था। बड़े हो जाने के कारण मेरे ऊपर से वह सब प्रतिबन्ध हट गये थे, जो पहले थे। आप सोचते होगे, मैं मामी के लिए ही ननिहाल जाता था। हाँ, ऐसी ही बात थी। मैं उनके रूप का पुजारी नहीं था—विद्यार्थी था। उसकी प्रत्येक रेखा का मैं अध्ययन करता था। मेरा विश्वास था कि समय की कोई काली छाया सौन्दर्य की उन किरणों को धुँधला

नहीं कर सकती। तीन चार साल बाद जब उनको लड़का हुआ, तो उनके घर में आनन्द और उत्सव की बाढ़-सी आ गई थी, पर मैं जब उन सब में शामिल होने के लिए घर से चला, तो दिल पर पत्थर-सा रख गया था। डर रहा था, समय को जहाँ पहुँचते बरसों लगते, गृहस्थ की एक साधारण सी घटना वहाँ छलाँग में ही तो नहीं पहुँच गई।

मामीजी मुझे पहचानती थीं, मेरी आँखों में अपने आपको वह जैसे पढ़ा करती थीं। उस दिन प्रसूति-गृह की देहली पर खड़े होकर जब मैंने उनकी पानी पर तैरते हुए बुलबुलों जैसी आँखों से आँखें चार करके कहा—"मामीजी, बधाई है", तो वह थोड़ा सा मुस्कराईं और फिर झेंप गईं। समझ गईं, यह बधाइयाँ उन्हें केवल पुत्र-जन्म के उपलक्ष में नहीं दी जा रही है। इनका मतलब और भी गहरा है।

रूप की दौड़ में उन्हें परास्त करने के लिए उस शहर के बड़े बड़े घरों की औरतों में उस समय तक एक जबर्दस्त गुट बन कर तैयार हो गया था। साड़ियों के नए-नए डिज़ाइन मँगवा कर, शरीर पर हीरा मोती के आभूषणों की चमक चढ़ा कर, पालिश से दमकती हुई घोड़ा गाड़ियों की खिड़कियों में से कभी बिजली की तरह झाँक कर और कभी विशाल मोटरकारों के आतंक से बाज़ार की भीड़ को चीर कर लोगों पर अपनी धाक जमाने के इन लोगों के प्रयत्न बराबर जारी रहते थे। मामी भी इन प्रदर्शनों में कभी कभी शामिल होती थीं, लेकिन इस तरह, जैसे उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी ही न हो, मानो वह ख़ुद किसी लायक ही न हों। एक करोड़पति जिस प्रकार मामूली कपड़े पहन कर लोगों के इशारों के नीचे बाज़ार में पैदल निकल जाता है, ऐसी ही कुछ उनकी सादगी थी।

एक आँखों देखी घटना मुझे इस समय याद हो आई है। एक दिन शाम को बाहर से आकर मैंने देखा कि दरवाज़े पर लैण्डो खड़ी है।

समझ गया, मामी नुमाइश देखने जा रही हैं। ऊपर पहुँचा तो क्या देखा कि एक कोच पर दस-एक साड़ियाँ बराबर बराबर रखी हैं और उनके सामने खड़ी हुई मामी उनकी तरफ ध्यान से देख रही हैं। पहले सोचा, जो बात हमेशा अनजाने ही तय हो जाया करती थी, आज उसी के लिए इतनी उधेड़बुन क्यों? और फिर पूछ उठा—"आज ऐसी क्या ख़ास बात है, मामी?"

मामी—"कल मैं कुँवर साहब के यहाँ सगाई में गई थी, मालूम है न? वहीं यह तय हो गया कि आज नुमाइश देखने चला जाय और अपनी अच्छी से अच्छी साड़ी में।"

मैं—"अच्छी से मतलब क्या कीमती का है?"

मामी—"कीमत, डिज़ाइन रंग सभी कुछ आ गया। ये बातें कहने की नहीं हुआ करतीं। कल साड़ी का किसी ने नाम तक नहीं लिया था; लेकिन किसी-न-किसी प्रकार वहाँ के वायुमंडल में यह चैलेंज गूँज गया, और सबने इसे स्वीकार कर लिया।"

मैं—"सब के स्वीकार करने से क्या मतलब? चैलेंज तो एक को ही असल में दिया गया होगा।"

मामी मुस्कराकर साड़ियों को पलटने लगीं, और मैं नीचे चला आया।

(३)

नुमाइश पहुँच कर दूर एक कोने में खड़े होकर देखा, एक मनिहार की दूकान के सामने दिवाली-सी जगमगा रही है। संख्या में वे आठ-दस के करीब होंगी। सबकी आँखों मे नुमाइश का चाव था, चेहरों पर एक मधुर उद्दीप्ति। एक के बाद दूसरी दूकान को ठहर-ठहर कर पार करती हुईं वे एक दूसरे से ऐसी सरलता से हँस-बोल रही थीं, जैसे सब एक ही क्यारी के तरह-तरह के फूल हों। आपस में मिलने के इस दुर्लभ संयोग

पर सब प्रसन्न दिखाई देती थीं। घर-द्वार की चिन्ताएँ मानों पीछे छूट गई थीं, और संसार का कोई भी विकार उनके हृदय को छू तक नहीं गया था। कौन कहता है कि उन्हें भी कोई उलझन सता रही है, या उनकी वह हँसी ज़हर के झागों की तरह उमड़ कर बाहर नहीं आ रही है। बचकर निकली हुई कोई नज़र, होठों की कोई वक्ररेखा, कभी कभी इस बात का पता भले ही दे देती हो, पर वह भी सिर्फ उन्हीं को। मेरा विश्वास है, घर से दर्पण को साक्षी करके उनमें से हर एक अपना अनिन्द्य रूप लेकर चली थी, जो यहाँ प्रकाश की तरह फीका हो गया। हर एक को मानो एक दूसरे की नज़र चाट गई। उन सबको मालूम हो गया कि कहीं कोई त्रुटि रह गई है; जो इस जीवन में पूर्ण नहीं होगी। और जब नुमाइश ख़तम कर चलने का वक्त आया, तब तो उनकी साड़ियों की चमक भी कच्चे रंगों की तरह उड़ गई। इन सब में आदि से अन्त तक जो कुछ एक जैसा बना रहा, वह थी मामी की खद्दर की एक मामूली साड़ी और उसमें ढँका हुआ उनका सौन्दर्य। मुझे नहीं मालूम, ऐसी सादगी से ऐसी पेचीदा लड़ाई अब तक किसी ने जीती हो।

(४)

मामी के बारे में अब तक मैंने जो कुछ कहा है, वह ज़रा भी बढ़ा कर नहीं कहा,—उसमें कुछ छूट भले ही गया हो। और जब इतना कहा है, तो उस लंका-कांड को भी क्यों न कह दूँ, जिसके बिना यह रामायण पूरी न होगी। दस बारह वर्ष और बाद की बात कह रहा हूँ यह। मामी उस वक्त तीस के आसपास थीं। उनके एक लड़का था, दो लड़कियाँ। दिन आए और वर्ष बनकर बीत गये। बीसों स्त्रियों पर उनके सामने यौवन आया और ढल गया, रूप आया और देखते देखते उतर गया। मामी भी बदल गईं लेकिन प्रत्येक परिवर्तन अवस्था के

अनुसार उनमें एक नई मोहिनी पैदा कर गया। इस बीच में कितने गुट उनके खिलाफ बन-बन कर टूटे, टूट-टूट कर बने; किस प्रकार ईर्ष्या और असूया की आग धधक धधक कर अपने मकानों को ही खाक कर गई, इसकी कहानी लम्बी है। इन आँखों ने सब कुछ देखा है—यौवन की आग में तपकर कुन्दन की तरह तमतमाते हुए मामी को देखा है। रूप के जल में ठंढा होकर निखरते हुए उन्हें देखा है और देखा है कि तीस वर्ष की अवस्था मे भी वह अपनी दुनियाँ की एकछत्र रानी बनी बैठी है। परन्तु जिसने यह सब कुछ देखा है, उसे एक दिन यह भी देखना बदा था कि वह निर्जीव की तरह पलंग पर पड़ी हुई हैं और उनकी तरफ आँखें उठाकर भी नहीं देखा जाता।

उन्हें देखते डर लगता था। चेचक के बड़े बड़े फफोले उनके रूप को पी पीकर जोंक की तरह फूल रहे थे। उनकी आँखे बन्द थीं। गले से बोल नहीं निकलता था। देखते ही मेरे आँसू फूट निकले। मैंने कहा—"हे ईश्वर, या तो मुझे ही उठा लो या मामी को ही।"

मैं कैसे मरता? ऐसे तो आज तक कोई नहीं मरा। और मामी··· जब तक साँस है, तब तक आस भले ही टूट जाय, पर मोह नहीं छूटता। सब कुछ भुलाकर दिन-रात उनकी सेवा में मैंने एक कर दिया। जो रूप कभी आँखों में समाता नहीं था, उसी की लाश को हाथों की इन अँगुलियों से मैंने झाड़ झाड़ कर फेंक दिया। कल-की-सी याद है जिस दिन मामी ने अपनी घायल पलक उठाकर मेरी ओर देखा था, उस समय बहुत कोशिश करने पर भी मैं अपने आँसुओं को न रोक सका। जी में आता था, मामी की चारपाई से सिर पटक कर प्राण दे दूँ।

मामा रोते थे अपनी स्त्री के लिये, भुवन—उनका चौदह वर्ष का लड़का—रोता था अपनी माँ के लिए—माँ के प्यार के लिए। इन दोनों के लिए मामी जैसी भी उठ पड़तीं उसी से वे निहाल हो जाते। लेकिन

मैं...? मैं अपने आप से पूछता तेरा आधार इतना भंगुर क्यों है ? क्या तेरा सम्बन्ध ऐसा ही निर्लिप्त नहीं हो सकता ? ठीक है। पर दो दिन पहले की मामी को मै कैसे भुला देता ! कैसे तोड़ देता मस्तिष्क के उन तन्तुओं को, जो उनकी स्मृति से टकरा कर एकदम चीख़ उठते थे।

दस पाँच स्त्रियाँ रोज उन्हें देखने आती थीं। दो चार घोड़ा-गाड़ियाँ दरवाजे पर खड़ी ही दिखाई देती थीं। बड़े आदमियों का यह भी एक प्रोग्राम था, जो कि उसी तरह पूरा किया जाता था, जैसे शादी और ज्योनार का। बहुत अच्छी पोशाक में वे आती थीं, मानो उनके साधारण रहन-सहन का स्टैन्डर्ड ही इतना ऊँचा हो। उनकी समवेदना का अभिनय भी बहुत ही ठोस और कलापूर्ण होता था। पुरानी चाल की औरतों की तरह वे आँसू नहीं बहाती थीं और न फैशन की नई पुतलियों की तरह उपेक्षा के भावों को ही बाहर निकलने देती थीं। मामी के पलंग के पास कुर्सी खींच कर जब वे उनकी दयनीय दशा को निर्वाक् और निस्पन्द होकर देखतीं, तो उनकी आँखों मे से संज्ञा को जैसे कोई छीन लेता था। असीम दुख, बर्फ की पर्त्त की तरह जमकर उनमें बैठ जाता था।

बड़े घरों की इन बातो में कमाल हासिल होता है, यह तो मै उस वक्त भी जानता था; लेकिन अब समझ रहा हूँ कि शिष्टाचार के अभिनय की उस सफलता को प्राणदान कहाँ से मिलता था, आत्मसन्तोष का वह ठोस भाव मामी की असहाय दशा से ही पैदा होता था। बहुत दिनों के बाद उनके लिये आज मैदान खाली हुआ था। उनमे से बहुतेरी तो वर्षों से पले हुए ईर्ष्या और डाह को समवेदना की गहरी आहों के साथ ही हृदय में से बाहर निकाल कर वहीं की वही हलकी हो लेती थीं।

× × × ×

मामी अच्छी हो गई। उनका कंकाल पलंग से उतर कर घर में

घूमने लगा। वह बदल गई थीं, इसलिये उन्होंने अपने चारों तरफ की दुनियाँ भी धीरे धीरे बदल डाली। उनके कमरे में घुसते ही सामने आलमारी में एक आदमक़द शीशा जड़ा हुआ था। अब वह नदारद था। उसकी जगह पर काठ का एक सादा किवाड़ लगा दिया गया था। इस आलमारी मे उनकी शृंगार-सामग्री रखी रहती थी, अब वहाँ भुवन की किताबें तरकीब से लगी हुई थीं। कमरे की दीवारों पर एक भी तसवीर नहीं थी। एक बौद्ध क्षपणक की भाँति कमरा उस घर में मूक, निस्तब्ध खड़ा होकर तपस्या-सी कर रहा था—विरूप नहीं, विकार-हीन।

मामी से दो बातें कीं, तो मालूम हुआ कि वह अब कहीं नहीं आती जाती हैं। जो कुछ हो गया उसका उन्हें अफसोस जरूर था; पर मलाल रत्तीभर नहीं। घर के काम-काज में वह अब अधिक व्यस्त रहती थीं। नौकर चाकर सब जहाँ के तहाँ बने थे, पर उनका भार अब बहुत हलका हो गया था। गृहस्थी की सारी ज़िम्मेवारियाँ मामी ने अपने ही सिर पर ले ली थीं।

लेकिन चैन तो तब मिले, जब दुनियाँ लेने दे। थोड़े दिन बाद शहर के स्पेशल मैजिस्ट्रेट दयाल बाबू के लड़के का विवाह बड़ी धूम-धाम के साथ आ पहुँचा। मामा जी के वह पुराने और अनन्य मित्र थे, इसलिए मामी के शामिल होने के लिए तक़ाज़ा भी बड़ा जबर्दस्त था। शुरुआत के कुछ दिन तो मामी ने स्वास्थ्य की दुहाई देकर निकाल दिये, पर ज्योनार के दिन उनकी एक न सुनी गई। उस दिन दयाल बाबू की स्त्री खुद आई और उन्हें अपने साथ ले गई।

मैं वहाँ पहले ही से मौजूद था। मामा जी ने अपनी मुस्तैदी का परिचय देने के लिए मुझे वहाँ पहले ही से हाथ बटाने के लिए भेज दिया था। इन्तज़ाम वहाँ क्या मै ख़ाक करता, जहाँ सब कुछ पहले ही से ज़रूरत से ज्यादा सुव्यवस्थित था। पर दयाल बाबू ने फिर भी मुझे

जनाने महकमे का निरीक्षक बना दिया और बरायनाम उसकी सारी ज़िम्मेवारी मुझे सौंप दी।

मुझे स्वप्न में भी यह आशा न थी कि मामी यहाँ आयँगी। पहले पहल जब मैंने उन्हें देखा तो मैं पसीना-पसीना हो गया। दूर एक कोने में वह बैठी थीं, शायद इस ग़रज से कि कम से कम औरतों को उनका पता लग सके, लेकिन उनके आने के थोड़ी देर बाद ही एक ख़ासी भीड़ उनके चारों तरफ़ जमा हो गई। बातें करने के लिए एक नया विषय उस समाज के हाथ लगा, और एक कोने से दूसरे कोने तक मामी के सम्बन्ध की तरह तरह की बातें आ-आकर मेरे कानों में टकराने लगीं।

झुँझला कर मैंने चारों तरफ देखा, जैसे अब तक कुछ देखा ही न था। रूप, आभूषण और नखरों का बाज़ार वहाँ खुला पड़ा था। जिसके पास रूप था, वह आभूषणों की कमी द्वारा उसे प्रकाश में लाना चाहती थी; जिसके पास आभूषण थे, वह रूप के साथ उन्हें तोल-तोल कर दिखला रही थी, और जिनके पास इन दोनों में से कुछ भी न था, उनके नख़रे लाजवाब थे। मगर इनमे से दर्द प्रायः सबके सिर में हो रहा था। बहुतेरी इनमें बारहों महीने अस्वस्थ रहती थीं। उन्हें कोई ख़ास शिकायत नही थी। एक असाधारण सुकुमारता से यह हमेशा परेशान रहती थीं।

मैं खड़ा-खड़ा देख रहा था, मामी कैसे विश्रब्ध रूप में बैठी है, किस प्रकार निःशङ्क भाव से बातचीत कर रही है, मानो उनके जीवन का वह युगान्तकारी परिवर्तन उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सका हो। लेकिन ऐसा करने मे अपनी दुर्बल आत्मा को उन्हें कितना कसना पड़ा होगा; यह किसे मालूम। वही स्त्रियाँ थी, वही जगह, वही परिचित दुनियाँ जिसे कभी वह मछली की तरह चीरती चली जाती थी। आज उसी मे पैर जमाना कितना कठिन हो गया था। उनकी आँखों की उस आहार्य प्रसन्नता के पीछे से न जाने कितने आवेग फूट

पड़ना चाहते थे, स्वर का उस समय का हलकापन हृदय पर के कितने जबर्दस्त बोझ के नीचे से निकलकर बाहर आ रहा था। मैंने कहा, मामी, इस तरह तुम कब तक रह सकोगी! क्यों तुम अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित इस विरोधी दल में इस तरह निहत्थी आकर खड़ी हो गई? ऐसा न हो मामी, आत्म-नियन्त्रण के किसी कड़े झटके से तुम्हारे शरीर के सब स्नायु-तन्तु तुम्हारी मुट्ठी में से निकल कर फैल जायँ।

वही हुआ।

पहले इधर उधर की बातें होती रहीं—शहर की, ब्याह-शादी की, मेले तमाशों की; लेकिन धीरे धीरे सिलसिला वहाँ आकर उतर आया, जो मामी के लिये एक बहुत ही नाजुक प्वाइन्ट था। शिष्टता का थोड़ा बहुत ख़याल तो सबको था। सब जानती थीं, इस मर्म को स्पर्श करना निर्दयता होगी; लेकिन इतने ज़बर्दस्त प्रतिबन्ध के नीचे भी कुतूहल कब तक दबा पड़ा रह सकता था? स्त्रियाँ शिष्ट हो सकती हैं, क्षमा कर सकती हैं और दया भी दिखला सकती हैं—पर स्त्रीत्व को साथ लेकर ही। अनादि युग से जिन भावनाओं और संस्कारों ने उनकी रग-रग में रमकर इस तत्त्व की सृष्टि की है, उन्हें वे कहाँ रख आतीं?

एक अधेड़ उम्र की स्त्री ने उस सारे समाज का ध्यान अपनी ओर केन्द्रित करते हुए कहा—"ऐसा मालूम होता है मानो बरसो में निकली हो। कितने दिन बीमार रहीं बहू?"

मामी की निगाह एक बार सामने की ओर उठी और फिर पलकों मे जा छिपी। धीमे-से स्वर में जवाब दिया—"लगभग डेढ़ महीने।"

कुछ स्त्रियों की छाती में से एक गहरी साँस उठी और धीरे से उतर कर वहाँ फैल गई। किसी ने पीछे से कहा—"कैसा गुलाब-सा रूप था, देखते आखों की भूख भागती थी, ईश्वर ने न जाने कब का बदला निकालने के लिए रख छोड़ा था।"

मामी के मुख के गहरे गड्ढों में पसीने की बूँदें झलकने लगीं। उन्हें इतनी हिम्मत नहीं हुई कि प्रतारणा के इन कड़े आघातों से बच कर एक बार रूमाल से उन्हें पोछ लें। सिर नीचा किये वह चुपचाप बैठी रहीं।

इसके बाद शुरू हो गई उनके रूप की तारीफ, जैसे मरने के बाद दुश्मन की होती है। याद नहीं किसने क्या कहा। मैं तो वहाँ से जान बूझकर हट गया था। थोड़ी देर में जब उस स्थल पर फिर पहुँचा, तो पीछे की तरफ से एक बुढ़िया जोर-जोर से कह रही थी—"सच बात तो यह है कि स्त्रियों की है बड़ी फजीहत। दुनियाँ उनका मोल करती है तोल देखकर। इसीलिये रूप और यौवन का नाज़ तो सब उठाते हैं; पर उनके बुरे दिनों का कोई भी साथी नहीं होता। वे लोग भी नहीं होते जिन्हें हम अपना समझती हैं।"

तीर को लक्ष्य तक पहुँचने में देर लगती है; लेकिन इस व्यंग को मामी के हृदय तक पहुँचने में जरा भी देर न लगी। वह सिहर उठी जैसे किसी ने भरपूर चुटकी भर ली हो। वह उठना ही चाहती थीं कि उनसे सटकर बैठी हुई एक नवोढ़ा ने पूछा—"जीजी, पहले दिनों का कोई फोटो भी तुम्हारे पास है?"

'फोटो!' दाँत पीस कर मैंने मन ही मन दुहराया। निर्जीव फोटो क्या झरने की बूँदों की तरह उमड़ते हुए उस रूप के प्रति न्याय कर सकता था? ओफ! आज जाना, दुनियाँ का प्रवाह कितने निम्न तल पर बहा करता है।

ऐसा मालूम हुआ, जैसे मामी उठना चाहती है। अपनी चादर उन्होंने सम्भाली और सामने के जमघट पर, उत्सव की उस चहल पहल पर, एक शून्यदृष्टि डालकर तत्क्षण उसे समेट लिया। मालूम होता था, उन आँखों में एक यान्त्रिक चेतना के सिवा और कुछ नहीं था। विषाद,

ग्लानि, क्षोभ जैसे विकार उसमें एक बार उतर कर ऊपर उठ नहीं सकते थे, ऐसी गहराई थी उस शून्यता में।

वह उठ दीं, घोर अपमान और लांछना की गठरी-सी बाँध कर। जिसके रूप के प्रकाश में स्त्रियों का वह क्षुद्र समाज दीपक की भाँति लाल होकर टिमटिमाने लगता था, वही मामी आज परास्त होकर जा रही थीं। वह अपने सब पैंतरे भूल गई थीं। वार करना तो दूर, वार बचाना तक भूल गई थीं।

दस-पाँच सेकंड तक वह जहाँ की तहाँ खड़ी रहीं, मानो इस प्रतीक्षा में कि अगर जमीन फट जाय, तो उसमें धँस जायँ; लेकिन ऐसा नहीं हुआ। पीठ मोड़कर जाने के लिए वह घूम लेना ही चाहती थीं कि किसी ने बगल में से उनका हाथ पकड़ कर पुकारा—"अम्मा, चलो, गाड़ी आ गई है!"

मामी ने ज़रा तिरछे होकर देखा, तो वहाँ भुवन खड़ा था। उसे देखते ही उनका सारा विषाद, सारी संचित आत्म-ग्लानि न जाने किधर उड़ गई। ख़तम होकर बुझती हुई दिए की बत्ती जिस प्रकार पास की एक दूसरी बत्ती को पाकर एकाएक जल उठती है, इसी प्रकार उनका मुँह खिल उठा और उसमें से निकल पड़ा—'अरे भुवन, तुम यहाँ कब आ गये?'

भुवन को मैंने सौ-पचास दफा भी नहीं देखा है क्या, लेकिन उन आँखों से नही जो इस समय अचानक खुल गई थीं! मामी से बिल्कुल सट कर खड़ा हुआ वह उनके कन्धे तक लगता था। गोरा, भरा हुआ वदन था, जिसके रोम-रोम से मामी की झाँई मार रही थी। माथे पर के सुनहले वाल माँग को लाँघ कर सामने गुच्छा वनकर लहरा रहे थे। जल जैसे निर्मल कपोलों में, संकोच और लज्जा वश कभी एक भँवर-सी पड़ जाती थी; कभी संध्या के वादलों की-सी लाल आभा परछाहीं की

तरह दौड़ती हुई निकल जाती थी। आज से बीस इक्कीस वर्ष पहले मामी को भी इसी तरह पहले-पहल देखा था। यही बड़ी-बड़ी तरल गम्भीर आँखें थीं; यही सरलता, ऐसा प्रबल आकर्षण, जो देखनेवालों की आँखों को मानो पकड़ कर बैठ जाता था।

बड़ी देर तक मामी अपलक नेत्रों से भुवन की तरफ देखती रही, जैसे कभी दर्पण के सामने खड़े होकर अपने को देखा करती थीं, और फिर बोलीं—"तुमने किसी से नमस्ते नहीं किया, भुवन! वह देखो, तुम्हारी बुआ बैठी हैं, वह रहीं चाची।"

भुवन ने दोनों हाथ जोड़कर अपने शर्मीले पलक उठाए और फिर गिरा लिए। सारी स्त्रियाँ मन्त्र-मुग्ध की तरह उसे देख रही थी, जैसे उनकी कोई भयानक भूल मूर्त्तिमान् होकर उनके सामने आकर खड़ी हो गई हो।

किसी ने पूछा—"कितने वर्ष का है यह?"

मामी ने कहा—"चौदह का।"

—"पढ़ता है न?"

—"हाँ, आठवीं में पढ़ता है।"

फिर सन्नाटा छा गया। उसे तोड़ते हुए मामी ने कहा—"आप सब आशीर्वाद दीजिए, यह पढ़-लिख कर सुपात्र बने।"

किसी बुढ़िया ने इसके उत्तर में धीमें से कहा—"ईश्वर करे, इसकी हजार वर्ष की आयु हो।"

रूप

सुघर अङ्गों के सुषम संस्थान को सौन्दर्य कहते हैं, और उसीके आँखों से पी जाने लायक 'पानिप' को रूप। रूप का परम विकास इसीमें है कि उसके आरम्भ उपादान अपनी-अपनी विभक्त रुचिरता रखते हुए भी समष्टिसौष्ठव की दीप्ति मे इस प्रकार छिप जायँ कि पृथक् पृथक् दृष्टि को न अटका सकें। प्रवाह है बिन्दुओं का समुदाय ही, पर प्रवाह की मोहक एकात्मता अपने किसी बिन्दु पर दृष्टि को नही जमने देती।

'रूप' के लेखक को इस तत्त्व का यथार्थ ज्ञान है। पहले ही प्रघट्टक मे उसने इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या की है।

एक तो मानव स्वभावतः मानवीय रूप की ओर आकृष्ट होता है, दूसरे मामी-भानजे का नाता पवित्र होकर भी सरस होता है। अतः 'मै' के उमङ्ग और कौतूहल ने विस्मय और आनन्द के साथ मामी के रूप और उसके प्रभाव का जो अध्ययन और वर्णन किया है वह कलाकार की 'संविधानक'-सृष्टि का उत्कृष्ट नमूना है।

सपत्ति गर्व और ईर्ष्या का विषय होती है। रूप की संपत्ति एक बड़ी सपत्ति है। फिर भी ऐसे रूप की संपत्ति का क्या कहना, जिसके विषय मे पारखी कवियों की—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।
किमिव हि मधुराणा मण्डनं नाकृतीनाम्॥

A thing of beauty is a joy for ever

—ये उक्तियाँ सवा सोलह आने चरितार्थ हो रही है। इस कहानी में लेखक ने मानो स्थान-स्थान पर इन उक्तियों के नगीने जड़ दिये हैं। ऐसे रूप पर गर्व ईर्ष्या न होना अस्वाभाविक है।

लेखक ने अपनी कहानी के लिए रूप को अध्ययन का विषय माना है, उपभोग का नहीं। उपभोग में वासना की तृप्ति का प्राधान्य होता है, उपभोग्य वस्तु का प्राधान्य नहीं। पर अध्ययन अध्येतव्य विषय के 'रोम रोम का परिज्ञान चाहता है। ऐसा परिज्ञान विषय की रमणीयता के साथ-साथ अध्येता के सयम और अनासक्ति पर बहुत कुछ अवलम्बित रहता है। इस प्रकार रूप की कोई लटक, कोई छाया, न छूटनी चाहिए। 'रूप' के विदग्ध कर्ता ने मेरे जान कुछ नहीं छोड़ा है। उसकी स्त्री-स्वभाव की अभिज्ञता और प्रासङ्गिक शब्दों से उसकी व्यञ्जना दोनों ही बारीक है।

कहानी का अन्त अद्भुत है। पूर्व संभावना से बिलकुल विलक्षण और पुनीत परिणति के कारण बिलकुल उदात्त। रमणी का संचित रूप अस्थिर और परिणाम-विरस हो सकता है पर जननी का अर्पित रूप स्थिर है, शाश्वत है। इसीलिए सदा आनन्ददायक है।

उपचार-लाञ्छित शृंगार का ऐसे सरल ढंग से वात्सल्य बन जाना साधारण घटना है। लेखक की इस कला का हम मान करते है।

भाषा भाव के इशारे पर चली है। उससे 'आहार्य' भी है, और Point Shade भी चित्रकला के कुछ अपने शब्दों की लक्षणा बड़ी ही मार्मिक हुई है। रूप की ऐसी मधुर कहानी कभी नहीं सुनी गई।

हिन्दी की उत्पत्ति

हिन्दी भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा है, यह तो एक स्वतःसिद्ध बात है। हर काम में, अपने प्रति दिन के जीवन में हम ऐसा ही देखते हैं। हिमालय के तुषारमंडित गिरिराजस्थित सरल, पीलू और चीर-वृक्ष की अरण्यावली से दक्षिण-समुद्र के पास कन्याकुमारी और सेतुबंध-रामेश्वर के नारिकेल-कुञ्जों तक, आसाम और बर्मा के अतिवृष्टिसिक्त 'सेगुन' वन और हरिद्वर्ण धान्य क्षेत्रों से अफगानिस्तान और बलूचिस्तान के दुर्गम वारिहीन मरु पर्वत तक, उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम आसमुद्र हिमाचल समग्र भारतवर्ष की तमाम देशी भाषाओं में एक हिंदी ही भारतीय जाति की विभिन्न शाखाओं के मनुष्यों में एक दृढ़ और उपयोगी मिलन शृंखला बनी है। यदि इसका कारण पूछा जाय, तो एक ही बात में हम इसका उत्तर दे सकते हैं। भारतीय सभ्यता का उत्पत्तिस्थान तथा केन्द्र गंगा और यमुना का तीरवर्ती देश आर्यावर्त्त ही है। आर्यावर्त के श्रेष्ठ अंश मध्यदेश की भाषा हिंदी है। हिंदी के प्रसार का पहला मुख्य कारण यही है कि हिंदी भारत के हृदय देश की भाषा

है। दूसरा कारण है हिंदी भाषियों की उद्यमशीलता। हिंदी जितने लोगों की स्वाभाविक मातृभाषा या घरेलू भाषा है, उसने दूने चौगुने लोगों की शिक्षा, साहित्य और सामाजिक जीवन की भाषा बनी है। सहज जन्मगत अधिकार से पूर्व पंजाब, मध्यभारत और पछाँह के जो लोग हिन्दी बोलते हैं—चाहे यह हिंदी अपने विशुद्ध भारतीय रूप में हो, चाहे अपने मिश्रित मुसलमानी रूप उर्दू में, और पंजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश और बिहार प्रान्त के जो लोग साहित्यिक और सामाजिक भाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकार कर उसे सब कामों में व्यवहार करते है, इन दोनों प्रकार के मनुष्य अपनी अपनी जीविका की फिक्र में समग्र भारतवर्ष में फैले हुए है, और दूसरे प्रान्तों के सामाजिक तथा आध्यात्मिक जीवन को आर्यावर्त के प्रभाव से इतना प्रभावान्वित कर रहे हैं कि साथ-साथ आर्यावर्त की भाषा बिना प्रयत्न किये हुए भी सुप्रतिष्ठित हो गई है। हिन्दी को यह उच्च स्थान स्वाभाविक कारणों से प्राप्त हुआ है, इसलिये जब तक आर्यावर्त भारत की संस्कृति का मूल स्थान रहेगा, तब तक हिंदी का यह आसन नहीं मिटने का।

ऐतिहासिक और भाषातत्व की भी दृष्टि से अगर देखा जाय, तो हिन्दी की व्यापकता और भारत की राष्ट्रभाषा होने के लिये एक हिंदी ही की योग्यता सब लोगों को माननी पड़ेगी।

अन्ध-तिमिराच्छादित प्राग् ऐतिहासिक युग के अवसान के साथ जिस समय वैदिक युग के अरुणिमा-मंडित ज्योतिर्मय उषःकाल में भारतीय संस्कृति के सूर्य का उदय हुआ, उस समय हमारी हिन्दी, बंगला आदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की आदि जननी वैदिक भाषा भारत में श्रेष्ठ भाषा थी। भारतीय अनार्य लोगो की अपनी-अपनी पृथक् बोलियाँ थीं, पर वैदिक भाषा के सामने इनमें से किसी को कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं मिली। वैदिकोत्तर अर्थात् संहितोत्तर काल में ब्राह्मण ग्रंथों का युग आया। पंजाब और मध्यदेश के दक्षिण और पूर्व में आर्य-

भाषा का फैलाव हुआ। स्वाभाविक परिवर्तन-धर्म के अनुसार, तथा हज़ारों और लाखों अनार्य भापियों के आर्य-भापा को ग्रहण करने के कारण वैदिक तथा ब्राह्मण युग की आर्य भाषा भी विशुद्ध नहीं रही, प्राकृतों का उद्भव होने लगा। भगवान् बुद्ध के आविर्भाव के पूर्व ही आदिम या प्राचीन आर्यभाषा प्राकृत या मध्यकालीन अवस्था में पहुँच गई। इसी समय आर्यों के गुरुकुलों में लौकिक साहित्यभाषा संस्कृत की प्रारंभिक प्रतिष्ठा हुई। पाणिनि आदि बड़े-बड़े व्याकरणकार ऋषियों ने इसका व्याकरण लिखकर इसे चिरकाल के लिए परिमार्जित किया। प्राकृतों के उद्भव होने के समय से ही, लौकिक संस्कृत प्राचीन भारत के जनगण की—विशेषतः ब्राह्मण शासित समाज की—भाषा हुई। मुहाविरे में विभिन्न प्रान्तों की आदि आर्य भाषाओं की प्रगति पृथक् पृथक् रीति से होने लगी। इसी से पृथक् पृथक् प्रान्तीय प्राकृतों की उत्पत्ति हुई। जिस संस्कृत भाषा को सारे हिन्दू संसार ने अपनी धार्मिक और संस्कृति सम्बन्धी भाषा मान लिया उसका आधार उदीच्य अर्थात् पंजाब और मध्यदेश की लौकिक बोली ही थी। भगवान् बुद्धदेव के पहले, ब्राह्मण ग्रंथों के युग में, ब्राह्मण सभ्यता का केन्द्र मध्यदेश अर्थात् कुरुपंचाल देश और उदीच्य अर्थात् मद्र, केकय, गांधार आदि देश थे। उन प्रान्तों में तथा अंतर्वेद की ब्राह्मणादिशिष्ट जातियों में व्यवहृत भाषा यह संस्कृत थी। अस्तु, संस्कृत आर्य्य सभ्यता का वाहन या मध्यम स्वरूप होकर इस सभ्यता के साथ तमाम भारतवर्ष में फैली, और भारतवर्ष के बाहर बृहत्तर भारत में—बर्मा, श्याम, कम्बोज, चंपा, मलयद्वीप, यवद्वीप, बलिद्वीप आदि में भी—इसका प्रसार पहुँचा। भारतवर्ष के इतिहास के प्रारम्भ में आर्यावर्त—मध्यप्रदेश अर्थात् हिन्दुस्तान के पछाँह की बोली संस्कृत के रूप में सारे भारतवर्ष में गृहीत हो गई। जहाँ तक पता चलता है, संस्कृत का मौखिक रूप सिर्फ पंजाब और अंतर्वेद में ही प्रचलित था।

कुछ दिनों बाद अन्यान्य प्रान्तों में जब आर्य भाषा फैली, तब इसकी अवस्था बदल गई थी। संस्कृत प्राकृत हो गई थी।

सारे उत्तर भारत में जिस समय प्राकृत या प्रादेशिक बोलियाँ प्रचलित हुईं, तब प्रान्तीय प्राकृतों मे अन्तर्वेद विशेषतया ब्रह्मर्षिदेश या कुरुपंचाल की प्राकृत शौरसेनी सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी। संस्कृत नाटकों में श्रेष्ठ सद्वंशज पात्र बात करने मे इस शौरसेनी ही का प्रयोग करते थे। इससे यह साबित होता है कि प्राकृत युग मे शौरसेनी का स्थान क्या था। गाने मे महाराष्ट्रीय प्राकृत का प्रयोग था, यह ठीक है; इसका कारण इतना ही मालूम होता है कि महाराष्ट्रीय प्राकृत में स्वर बहुत होने से वह शौरसेनी से श्रुति-मधुर मानी जाती थी; और गाने में इसीलिए शायद लोग इसे ज्यादा पसद करते थे।

महाराज अशोक के लेख में मुख्यतः तीन प्रकार की प्राकृत मिली है—उदीच्य, लाट-देशीय और प्राच्य। परंतु मध्यदेशीय प्राकृत नहीं मिली—मध्यदेश में टोपरा और मेरठ के दो खंभों पर जो लेख है, उनमें पूरब की बोली ही व्यवहार की गई है। महाराज अशोक पूरब के रहने-वाले थे, शायद इसी से उनकी प्रान्तिक बोली मध्यप्रदेश मे भी प्रयुक्त हुई। भारत के इतिहास मे सिर्फ एक ही बार पूरब की बोली ने पछाँह पर चढ़ाई की।

परंतु महाराज अशोक के समय में एक नई साहित्यिक भाषा भारत से सिंहल मे फैली—यह पालि भाषा है। पहले पंडित लोग सोचते थे कि पालि की जड़ पूरब में—मगध में—थी, क्योंकि इसका एक और नाम है 'मागधी'। अब पालि के संबंध मे पंडितो की राय बदल रही है। अब विचार है कि पालि पूरब की नहीं, बल्कि पछाँह की—मध्यदेश की ही बोली थी—शौरसेनी प्राकृत का एक प्राचीन रूप भेद थी। बुद्धदेव के उपदेश पूरब की बोली प्राच्य प्राकृत मे, जो कोसल, काशी और मगध में प्रचलित थी, उसी मे प्रकट हुए। फिर इस प्राच्य प्राकृत से और

दूसरी प्राकृतों में अनुवादित किये गए। मथुरा और उज्जैन की भाषा में जो अनुवाद हुआ, उसका नाम दिया गया 'पालि'। सिंहल में जब इस अनुवाद का प्रचार हुआ, तब वहाँ के लोग भूल से इसे 'मागधी' के नाम से पुकारने लगे, क्योंकि पालि बुद्ध-वचन थी, और भगवान् बुद्ध ने मगध में अपने जीवन का बहुत अंश बिताया था, इससे बुद्ध-वचन या पालि से मगध का संबंध सोचकर 'मागधी' नाम रखा गया। सिंहल से ब्रह्मदेश, श्याम और कम्बोज में यह पालि भाषा फैली। इस प्रकार दो हज़ार वर्ष के पहले मध्यदेश की भाषा—जिसे हम हिंदी का एक प्राचीन रूप कह सकते हैं—बहिर्भारत के बौद्धों की धार्मिक भाषा बनी। यह बात इस युग के पहले की है। ईसवी सदी के प्रारम्भ से संस्कृत के बाद उत्तर में शौरसेनी भद्र समाज में बोली जाती थी। इसका प्रभाव दूसरी प्राकृत बोलियों पर भी पड़ा। भाषा तत्त्व के विचार से ग्रियर्सन आदि पंडितों ने राजस्थान, गुजरात, पंजाब और अवध की प्राकृत बोलियों पर शौरसेनी का विशेष प्रभाव स्वीकार किया है। राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी और अवधी के विकास में शौरसेनी ने बहुत काम किया। सिर्फ प्रान्तिक प्राकृतो से इन बोलियो की उत्पत्ति नहीं हुई, ऐसा विचार होता है।

ईस्वी प्रथम सहस्र वर्षों के बीच में प्राचीन भारतवर्ष में एक नवीन राष्ट्रभाषा या साहित्यिक भाषा का उद्भव हुआ। यह अपभ्रंश भाषा थी, जो शौरसेनी प्राकृत का एक रूप थी। अपभ्रंश भाषा—यह शौरसेनी अपभ्रंश—पंजाब से बंगाल तक और नेपाल से महाराष्ट्र तक साधारण शिष्ट भाषा और साहित्यिक भाषा बनी। लगभग ईस्वी सन् ८०० से १३ या १४ सौ तक शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचार काल था। गुजरात और राजपूताने के जैनों के द्वारा इसमें एक बड़ा साहित्य बना। बंगाल के प्राचीन बौद्ध सिद्धाचार्य गण इसमें पद रचते थे, जो अंत में भोट भापा (तिब्बती) में उलथा किये गये। इसके अलावा भारत में इस

अपभ्रंश में एक विराट् लोक-साहित्य बना, जिसके टूटे-फूटे पद और गीत आदि हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण और प्राकृत पिंगल नामक छन्द-ग्रंथ में पाए जाते हैं। शौरसेनी अपभ्रंश की प्रतिष्ठा के कई कारण थे। ईस्वी प्रथम सहस्रक की अंतिम सदियों के राजपूत राजाओं की सभा में यह भाषा बोली जाती थी, क्योंकि यह भाषा उसी समय मध्यप्रदेश और उससे संलग्न प्रान्तों में आधुनिक पछाँह में—साधारणतः घरेलू भाषा के रूप में इस्तेमाल होती थी। द्वितीय कारण यह है कि इस समय गोरखपंथी आदि अनेक हिन्दू संप्रदाय के गुरु लोग जो पंजाब और हिन्दुस्तान से नवजाग्रत हिंदूधर्म की वाणी लेकर भारत के अन्य प्रदेश में गए, वे भी इसी भाषा को बोलते थे, इसमें पद आदि बनाते थे और इसी में उपदेश देते थे। उसी समय उत्तर-भारत के कनौजिया आदि ब्राह्मण बंगाल आदि प्रदेश में ब्राह्मण आचार और संस्कृति ले उपनिविष्ट हुए। इन सब कारणों से, आज से लगभग एक हजार साल आगे, जिसे हम हिंदी का पूर्व रूप कह सकते हैं, वही शौरसेनी अपभ्रंश, ठीक उसी प्रकार जैसे आजकल हिंदी राष्ट्रभाषा बनी है, एक राष्ट्रीय, साहित्यिक तथा धार्मिक भाषा हुई थी।

संस्कृत, प्राकृत और भाषा—भारत की आर्य भाषा के क्रमविकास में ये तीन पीढ़ियाँ हैं। संस्कृत आदि युग की धर्म, राष्ट्र तथा साहित्य की भाषा थी। यह संस्कृत भाषा पंजाब और मध्यदेश की प्राचीन बोली के आधार पर बनी। संस्कृत से प्राकृत का उद्भव हुआ, प्राकृतों में पालि भी है। पालि भाषा मगध से संबंध नहीं रखती, परंतु शूरसेन या मथुरा और उज्जैन से। यह मूलतः मध्यदेश ही की भाषा है, ऐसे सिद्धान्त पर आजकल पंडित लोग पहुँचे है। पालि के बाद मध्यदेश की शौरसेनी भाषा थी। प्राकृत का अंतिम रूप था अपभ्रंश। अपभ्रंश बदलती हुई हिन्दी आदि भाषाओं में परिणत हो गई। जिस समय शौरसेनी अपभ्रंश परिवर्तित होकर ब्रज भाषा (हिदी) बन रही थी, उसी समय हिन्दुस्तान

में तुर्क और ईरानी मुसलमान आये। पहले पंजाब में इनका अधिकार हुआ, और पंजाब ही में करीब सौ वर्ष उन लोगों ने राज किया। पंजाब के कुछ लोग मुसलमान बने। फिर पंजाब से खास हिन्दुस्तान पर मुसलमानों की चढ़ाई हुई और उनकी फतेह हुई। मुसलमान देहली में आए, और उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया। अफगानिस्तान के तुर्की और फारसी बोलनेवाले विदेशी मुसलमान तो थे ही, पर पंजाबी बोलनेवाले देशी मुसलमान भी इधर ज्यादा करके आने लगे। पंजाब की बोलियों का मूल शौरसेनी से कुछ अलग प्राकृत थी, परन्तु शौरसेनी का प्रभाव इनपर बहुत पड़ा। पंजाब में राज करनेवाले विदेशी मुसलमान थोड़ी बहुत पंजाबी जानते थे। देहली के आसपास कई कड़ी बोलियाँ प्रचलित थीं, और उनका पंजाबी से कुछ संयोग था। हिन्दुस्तान में आकर पंजाबी पर जाटू (बांगरू) मेवाड़ी, व्रज भाषा प्रभृति बोलियों का असर कुछ तो अवश्य पड़ा। प्राचीन पंजाबी का आदिम रूप देहली में कुछ बदल गया। भाषा के व्याकरण में बहुत सा पंजाबीपन रह गया, परन्तु स्थानीय बोली के व्याकरण के अनुसार भी रूप आ गए। भाषा को हिंदी या हिन्दुस्तानी नाम मिला। शब्द विशेष करके व्रज आदि प्रान्तिक भाषाओं से लिये जाने लगे। इस प्रकार उदीच्य और मध्यप्रदेश अर्थात् पंजाब और हिन्दुस्तान के पश्चिमी प्रांत की भाषाएँ मिलकर एक नवीन रूप में प्रकट हुई। साधारणतः हिन्दुस्तानी मुगलों के बदौलत सारे भारतवर्ष में फैल गई। व्रज भाषा आदि प्राचीन और साहित्यिक बोलियों के साथ-साथ यह भाषा हिन्दू-साहित्य में भी व्यवहृत होने लगी। अंत में इस कलकत्ते शहर में अंगरेज पंडितों की चेष्टा से गद्य साहित्य की भाषा खड़ी बोली हिंदी ही हो गई। इस समय हिंदी की प्रतिष्ठा बढ़ती जाती है—उत्तर भारत की संस्कृतिमूलक प्रगति का एक प्रधान वाहन या साधन या माध्यम बनकर इस भाषा की जय सर्वत्र हो रही है।

ऐतिहासिक आलोचना से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उदीच्य और मध्यदेश—पंजाब और पछाँह—विशेष करके मध्यदेश मे—भारतीय आर्य-सभ्यता ने अपनी विशेषताएँ प्राप्त कीं, और इन प्रांतों की भाषा युग-युग में सर्वजनगृहीत और सर्वजन-समादृत हुई। संस्कृत, पाली, शौरसेनी प्राकृत, शौरसेनी अपभ्रंश, ब्रजभाषा; फिर शौरसेनी प्रभावयुक्त पंजाब की बोली, हिन्दुस्तान में आकर शौरसेनी की दुहिता स्थानीय ब्रज आदि बोलियो से मिल-जुलकर हिन्दुस्तानी या हिंदी बनी। इस प्रकार हिंदी को वर्तमान मर्यादा मिली। मध्यदेश की भाषा की प्रतिष्ठा भारत के इतिहास की एक प्रधान और साधारण बात है। काल की गति से मूल आर्यभाषा ने संस्कृत, पाली, शौरसेनी अपभ्रंश इत्यादि रूप बदलते-बदलते आख़िर हिंदी का रूप ग्रहण किया।

प्राचीन काल में भारतीय-सभ्यता-विशिष्ट वस्तुएँ यानी हिंदू-सभ्यता में जो कुछ श्रेष्ठ वस्तुएँ हैं उन सबका उद्भव आर्यावर्त ही में हुआ। मध्य काल में जब मुसलमान सभ्यता आई, तब हिन्दू सभ्यता से उसका मिश्रण आर्यावर्त मे हुआ। आर्यावर्त की भाषा हिंदी में अरबी, फारसी, और तुर्की का शब्दभंडार इस मिश्रण का फल है। इस मिश्रण से भारतीय सभ्यता ने नवीन रूप पाया।

प्राचीन काल के धर्म राष्ट्र तथा साहित्य की भाषाओं के साथ हिंदी का संबंध विचार करने से हिंदी का इतना प्रचार स्वाभाविक ही मालूम होगा। ऐतिहासिक कारण और हिंदी भाषा की नानामुखी कर्मशक्ति के सिवा हिंदी में ऐसे कुछ गुण हैं जिनसे यह एक श्रेष्ठ भाषा कही जा सकती है। हिंदी जिनकी मातृभाषा है, जिन्होंने इस भाषा को अपनाया है, उनकी राय क्या होगी, इसका पता हमें नहीं, पर एक महाराष्ट्रीय मित्र ने अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट की कि "हिंदी में जो गुण है, उनमें से एक यह है कि हिंदी 'मर्दानी जबान' है।" मैं बंगाली होकर

अपने महाराष्ट्रीय मित्र की इस राय का पूरा समर्थन करता हूँ। आधुनिक हिंदी के ओज गुण के कई कारणों में इसकी संयुक्त व्यंजन-वाहुल्य एक प्रधान कारण है। 'उनका' 'देखके' 'चलता' 'हाथ मे' 'मन में' इत्यादि साधारण पद में संयुक्त वर्ण से शब्दोच्चारण में ज़ोर आ जाता है— शब्द पर धक्का सा देकर संयुक्त ध्वनि इसे जाग्रत और उद्यमपूर्ण बना देती है। मेरी मातृभाषा के पदसमूह इतने ज़ोरदार नहीं होते। विशेषकर साहित्यिक बंगला में स्वरवाहुल्य के कारण मिठास आती है, पर वैसा ज़ोर नहीं रहता, जैसे 'उहार' या 'ओर', 'देखिया' या 'देखे', 'चलिते छे' (चालू घरेलू बंगला में संयुक्त व्यंजन आ गया है—'चल् छे'), 'हाते', 'मने' इत्यादि। पुरानी हिदी में हलंत उच्चारण बहुत ही कम होता था, सब स्वर वर्ण उच्चारण किये जाते थे। इससे ओजशक्ति कुछ कम होती थी। पर स्वरवर्ण के पूर्ण उच्चारण होने के कारण एक मनोहर मधुरता से भरा हुआ गाम्भीर्य आ जाता था। विशेषतः ध्रुपद आदि गाने में तानसेन प्रमुख संगीतकारों की वाणी से इस बात का प्रमाण मिलेगा। हिंदी उच्चारण में और एक विशेष गुण है। इसमे सब ध्वनि प्रयत्न के साथ सुस्पष्ट उच्चारण की जाती है। बंगला आदि दूसरी भाषाओं में बहुधा अस्पष्ट उच्चारण की कुरीति चली है। इसी से 'नाइहर' या 'नैहर', 'बहनोई', 'अखाड़ा', 'बनवाई', 'कन्हैया', 'रखवाल', 'मौसी', 'सौंप' आदि शब्द के बंगला प्रतिरूप बन गये 'नायेर', 'बोनाइ', 'आखड़ा', 'वानी', 'कानाइ', 'राखाल', 'मासी', 'संप' इत्यादि।

उच्चारण के अलावा हिदी की शब्द-संपत्ति इसका एक और गुण है। प्राकृत से प्राप्त अनगिने शब्द हिदी में विद्यमान हैं, मानो इतने प्राकृतज शब्दों का संरक्षण दूसरी किसी आर्यभाषा में हो ही नहीं सका। देहात में सहस्रों उपयोगी प्राकृत शब्द मिल सकते हैं, जो साहित्य में लाने के लायक है। प्राकृतज शब्द छोड़िये, तो देखिये हिन्दी संस्कृत के समग्र अभिधान की अधिकारिणी बनी है। संस्कृत शब्दों को हम

सम्भाव्य हिंदी की बदौलत फारसी-अरबी-अभिधान से भी हिंदी अपना खजाना अदा कर सकती। प्राकृतज या विशुद्ध हिंदी, संस्कृत और फारसी—इन तीन प्रकार के शब्दो की मिठास या मिष्टता या शीरीनी हिंदी की शक्ति तथा गौरव बढ़ा रही है। संस्कृत फारसी के शब्द भंडार हिंदी के लिए खुले रहने से हिंदी किसी की परवाह नहीं करती। सामाजिक और गृहस्थ जीवन की सब बाते केवल प्राकृतज शब्दों से ही हिंदी मे अच्छी तरह से बोली जा सकती है। यह सिद्धान्त 'ठेठ हिंदी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' में श्री हरिऔध जी ने प्रमाणित किया है।

हिंदी के इतने गुण होते हुए भी, इसे मातृभाषा रूप में लाभ करने का जन्म सौभाग्य जिसको नहीं मिला, उसके लिए हिंदी का व्याकरण कठिनाइयों से भरा हुआ होता है। एक तो मुश्किल है हिंदी का लिंग-विचार। सुनते हैं इसमें श्रेष्ठ हिंदी विद्वानों का भी एक मत नहीं होता। हिंदी की इस स्वतन्त्रता ने इस विषय में भाषा को अराजकता में डाल दिया है। 'भात' पुंलिंग शब्द है और 'दाल' स्त्रीलिंग, 'पुस्तक' स्त्रीलिंग और 'ग्रन्थ' और 'कागज' पुंलिंग। 'अग्नि, मृत्यु, वायु'—इन सबको इस कलियुग में हिंदी में स्त्रीत्व की प्राप्ति हुई है। हिंदी अच्छी तरह से अगर सीखना चाहते है, तो संस्कृत व्याकरण को भूल जाइये। इसके ऊपर शब्द रूप मे मौलिक रूप और सामान्य रूप, और 'का' और 'के' का दुरतिक्रमणीय हंगामा। लिंग विभ्राट और शब्दरूप की कठिनाई से बेचारे हिंदी-शिक्षार्थी जब किंकर्तव्य-विमूढ हो जाते है, तब क्रियापद के कर्मणि और भावे-प्रयोग आकर उसे खतम कर देते हैं।

हिंदी के व्याकरण को कुछ सहज सा और तर्कशास्त्र सम्मत बनाने की आवश्यकता है। हमारा सिद्धान्त यह है कि भविष्य काल का राजा King Demos या 'गण महाराज' इतनी सूक्ष्मता नहीं मानेगा। 'इनकलाब' जब सचमुच जिन्दा होगा और मजदूर तथा किसान जब

भाषा के सुधार का काम खुद ही अपने हाथ में ले लेंगे, तब चालू और बाज़ारू, गँवार और देहाती तथा खड़ी बोली और पड़ी बोली सब एकाकार होकर एक नई गणभाषा बन जायगी।

गणतन्त्र के अनुकूल हिंदी का एक रूप अब भी विद्यमान है। इस कलकत्ता महानगरी में नई शैली के हिंदी गद्य साहित्य का पहले प्रचार हुआ, पर यहाँ अनपढ़ जो लोग हिंदी बोलते हैं, उसे हिंदी के गण-तान्त्रिक रूप के सिवा क्या कहूँ? कलकतिया बंगाली दो जबाने जानते हैं; एक अपनी मादरी ज़बान बंगला, और दूसरे कलकत्ते की बाज़ारू हिंदी। बचपन से अपनी मातृ-भाषा के साथ-साथ हमें इसका व्यवहार करना पड़ता है। मैं इस टूटी-फूटी हिंदी के स्वरूप की कुछ आलोचना किसी और सभा में कर चुका हूँ। इस स्वरूप की मौलिक विशेषता यह है कि व्याकरण के नियम, शब्द धातु आदि के रूप, प्रत्यय प्रभृति जितने कम व्यवहार किये जा सकें सिर्फ उतने ही व्यवहार में लाये जायँ और स्वतन्त्रतापूर्वक बंगला शब्द और वाक्य रीति का प्रयोग हो। इस कलकतिया हिंदी को कलकत्ते के उड़िया, मैथिल, बिहारी आदि सब प्रवासियों ने अपनाया है, क्योंकि इन्हीं के हाथ शुद्ध हिंदी बिगड़कर इसका संगठन हुआ। सीखने से भूलना अधिक कठिन है। इधर शुद्ध हिंदी के साथ परिचय होने का मौका नहीं मिलता, उधर जिन्दगी-भर बाज़ारू हिंदी के सिवा दिन का काम नहीं चलता;—हम करें क्या?

हिंदी की उत्पत्ति और प्रसार तथा इसके प्रादेशिक रूप आदि विषयों पर गवेषणात्मक विराट् ग्रंथ लिखा जा सकता है। मैं इस बारे मे और कुछ कहना नहीं चाहता। अन्त में एक बात कहकर इसे समाप्त करूँगा।

जिसकी शक्ति और जिसका सौभाग्य हो उसे नम्र होना चाहिए। हिंदी भाषियों के उद्यम और उनकी कर्मशीलता ही नहीं बल्कि उनकी नागरिकता और सौजन्य, उनकी संस्कृति और मानसिक उत्कर्ष हिंदी-

प्रचार के प्रबल कारणों में हैं। भारत के लोगों ने हिंदी को 'राष्ट्रभाषा' मान लिया है; बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, तामिल इत्यादि घरेलू भाषा या प्रादेशिक भाषा हो सकती है, पर एकता-विधायिनी भाषा और भारत के संयुक्त राष्ट्र की माध्यम हिंदी ही हो सकती है. इसे आज अधिकांश लोग मानते हैं। शुद्ध हिंदी बोलना सहज नहीं, रातोंरात शुद्ध हिंदी सीखना भी कठिन है। बहुत से लोग टूटी-फूटी बोलने में शरमाते हैं। अशक्यता हेतु यदि कोई किसी राष्ट्र या धर्म संबंधिनी सभा में हिंदी में व्याख्यान दे सके, पर हिंदी से अपना प्रेम प्रकाश करे तो उससे धैर्य के साथ व्यवहार करना उचित होगा, और यह गंगातीर की आर्य सभ्यता के सौजन्य के अनुसार ही है। पर ऐसी अवस्था में 'हिन्दी' 'हिन्दी' पुकार कर बेचारे को यदि तंग किया जाय, और उसे अंग्रेजी में या अन्य किसी प्रान्तीय भाषा में बोलने नहीं दिया जाय तो वह हिंदी के प्रसार के अनुकूल नहीं बल्कि विपरीत होगा। हमें आत्म-परीक्षा करनी चाहिए। अनजान से Linguistic Imperialism या भाषागत साम्राज्यवाद के पुरोहित हम न बनें—जुल्म या बलात्कार से हिंदी प्रचार की चेष्टा नहीं होनी चाहिए।

खैर, हिंदी के जो गुण और कठिनाइयाँ हों, सो हों; पर यह सबको मानना पड़ेगा कि दुनिया के अव्वल दरजे की अन्तर्जातीय भाषाओं में हिंदी का स्थान है। अंग्रेजी, उत्तर चीनी, जर्मन, रूस, स्पेनिश, फरांसी, अरबी, फारसी, मालय आदि भाषाओं में हिंदी का नाम करना चाहिए। संख्या के विचार से अंग्रेजी और उत्तर चीनी के नीचे हिंदी का स्थान है; श्रुति माधुर्य, जोर, कार्यशक्ति आदि में हिंदी एक अनोखी भाषा है। ऐसी भाषा हमारा गौरव स्थल है।

मैं हिंदी से बड़ा प्रेम रखता हूँ। यूरोप-प्रवास के समय फ्रान्स या जर्मनी में कहीं किसी भारतीय छात्र को दूर से मैं देखता, तो उससे मिलने जाता और सबसे पहिले हिंदी में उससे प्रश्न करता—क्या भाई,

हिन्दुस्तानी हो ? जिससे वात करता, अगर वह उत्तर भारतीय होता, तो हिंदी ही में मुझसे वात करता, और यदि वह दक्षिणी होता, तो भाव से मेरी बात समझ लेता और यदि हिंदी नहीं जानता तो अंग्रेजी मे माफी माँगता। अपने मित्र और छात्रों में मैं हिंदी भाषा और साहित्य का गुण-गान किया करता हूँ। कवीर जी के पद और तुलसी जी की रामायण को तो मैंने नित्य पाठ्य-ग्रन्थ सा वना रखा है। वहुत दिनों से इन दोनों विश्व-साहित्य के मुकुट-मणियों का पाठ किया करता हूँ।

बंगाल में हिंदी का प्रचार हो, बंगाली सज्जन भी हिंदी भाषा और साहित्य से परिचय प्राप्त कर पार्थिव और आध्यात्मिक लाभ उठावें, यह मै सर्वान्तःकरण से चाहता हूँ। वंगाल की राजधानी कलकत्ते से हिंदी का संयोग खूब घनिष्ठ है। यदि कलकत्ते को हिंदी की आधुनिक गद्य-शैली की जन्मभूमि कहा जाय, तो कुछ अत्युक्ति न होगी। हमारी वंगाली जाति के लिए यह बड़े अफ़सोस की वात है कि हिंदी ऐसी भाषा से वे यथोचित शक्ति और आनन्द को प्राप्त नहीं कर सके। इसके कारण निर्धारण होने चाहिए। रोग का निदान और कारण मिलने से इलाज ठीक हो सकता है। एक कारण मेरे विचार मे तो यह है कि इधर हिंदी के उच्च शिक्षित सज्जनों का बहुत कम शुभागमन होता है। विहार और संयुक्त प्रान्त के पूरब के जो आम लोग रोजी के लिए इधर आते हैं, वे स्वयं शुद्ध हिंदी नहीं बोल सकते,—उनकी व्यवहृत खिचड़ी बोली, साहित्यिक और शुद्ध हिंदी के प्रचार का प्रधान अन्तराय होता है।

पर अवसर अब शुभ है। बंगाल की शिक्षित जनता में हिंदी का आदर होने के लिए कांग्रेस से कुछ मदद मिल सकती है। कालेजों से भी बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। निर्दिष्ट हिंदी परीक्षा में उत्तीर्ण

होने से यदि दस-बीस आर्थिक पारितोषिक कालेजों के लड़कों को दिए जायँ, तो बहुत से नवयुवक इस ओर आकृष्ट होंगे। हिंदी प्रचार के सब साधन विशेष समिति में विचार किए जा सकते हैं। बंगाल में हिंदी प्रचार के लिए सम्मेलन की ओर से जो प्रयत्न किया जाय, उसका मैं पूरी तौर से समर्थन करूँगा। हिंदी-साहित्य सम्मेलन ने इस विषय में जो शुभ कामना प्रकट की, उसके लिए मै हार्दिक कृतज्ञता प्रकाश करता हूँ।

हिन्दी की उत्पत्ति

सप्रयोजन साहित्य को आधुनिक आलोचक 'प्रयुक्त साहित्य' कहते हैं। कुछ सत महात्मा और प्रचारक 'प्रयुक्त साहित्य' को ही ऊँचा साहित्य मानते हैं। यद्यपि तटस्थ और विदग्ध हृदय शुद्ध साहित्य को ही महत्त्व देता है पर प्रयुक्त और सप्रयोजन साहित्य का उपकार भी न्यून नहीं होता।

यह निबंध प्रयुक्त साहित्य के अन्तर्गत है। इसमें भाषा विज्ञान के यशस्वी लेखक डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने हिंदी भाषा का इतिहास लिख कर उसके राष्ट्रभाषा होने के दावे को स्वतःसिद्ध माना है। अतः ज्ञातव्य बातें तो इसमें आदि से अंत तक भरी पड़ी हैं पर देखना है इसकी भाषा और शैली को। जिस गुण के कारण यह लेख निबंध माना गया है। जैसी हिंदी 'राष्ट्रभाषा' हो सकती है वैसी ही भाषा इसकी है। अहिंदी प्रांत के विद्वान् ऐसी ही भाषा में साहित्यिक व्यवहार चला सकते हैं। बाजारू काम के लिये कामचलाऊ भाषा आपसे आप बना-बिगड़ा करती है पर वह राष्ट्रभाषा नहीं कही जाती। अन्त में विद्वान् लेखक ने यह भी बता दिया है कि जब समय आवेगा तब खड़ी, पड़ी, बाजारू, गवारू आदि सभी प्रकार की

भाषाएँ मिलकर एकाकार हो जाएँगी। शैली इसकी बोधानुग और यत्र तत्र यत्न सिद्ध लाक्षणिक भी है। पढ़ने में मन लगता है। विद्यालयों के साधारण विद्यार्थी को ऐसी ही सौम्य और शास्त्रीय शैली का अनुकरण करना चाहिए।

साहित्यिक लेख न होने से इनमें आत्मीय राग का अभाव है। ऐसा निबंध विषयप्रधान होता है। उसमें निश्छद्म तथा रागद्वेषरहित बातें कही जाती हैं। पर साथ ही एक बात देखना अत्यावश्यक है। वह है लेखक की प्रामाणिकता। यदि लेखक आप्त और मर्मज्ञ है तो उसके लेख की महत्ता और बढ़ जाती है। इस निबंध के कर्त्ता भाषाविज्ञान के आचार्य और कलकत्ता विश्वविद्यालय के अध्यापक हैं।

निबंध में स्थायी प्रभाव होना चाहिए। वह भी इसमें है। यद्यपि इस लेख में सामयिक हिंदी का समर्थन है पर इसकी ऐतिहासिक और तार्किक पद्धति ऐसी उपादेय है कि यह विवेचन भावी विद्यार्थियों के लिए भी महत्त्व का होगा।

हिंदी और हिंदुस्तानी *

आज इस विज्ञ और कर्मकुशल समाज के वीच जो अपनी भाषा और उसमें साहित्य की गति-विधि का निरीक्षण करके दोनों का मार्ग स्वच्छ और परिष्कृत करने के लिए इस पुण्य-भूमि पर एकत्र हैं, मेरा हृदय एक अपूर्व आनन्द का अनुभव भी करता है और रह रह कर संकोच से दवता भी है। संकोच का कारण है—जो स्थान मुझे यहाँ दिया गया है उससे यही प्रकट होता है कि आप लोग मुझसे अपने पवित्र प्रयत्न और शुभ अनुष्ठान में कुछ सहायता पहुँचने की आशा रखते हैं। पर अपनी शक्ति और योग्यता पर दृष्टि रखते हुए उस आशा के किसी अंश की भी पूर्त्ति की संभावना मुझे नहीं दिखाई पड़ रही है। इस विचित्र परिस्थिति में मुझे संतोष इसी बात का है कि मैं उपहास का पात्र होकर भी ऐसे विद्वानों और कर्मवीरों के संसर्ग से बहुत कुछ ज्ञान, बहुत कुछ उत्साह प्राप्त करूँगा।

हम सब लोग यहाँ यह समझने के लिए एकत्र हैं कि हमारा साहित्य किस दशा में है, उसमें किन किन बातों का अभाव है, उसकी कौन-कौन

---

* फैजाबाद के प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन में पठित भाषण।

प्रवृत्तियाँ उत्कर्ष की ओर ले जानेवाली हैं और कौन कौन अपकर्ष की ओर तथा वर्त्तमान समय मे वह किस रूप मे हमारे जीवन को सरस सबल और समृद्ध करने में सहायक हो सकता है।

साहित्य किसी जाति की रक्षित वाणी की वह अखंड परंपरा है जो उसके जीवन के स्वतंत्र स्वरूप की रक्षा करती हुई जगत् की गति के अनुरूप उत्तरोत्तर उसका अन्तर्विकास करती चलती है। उसके भीतर प्राचीन के साथ नवीन का इस मात्रा में और इस सफाई के साथ मेल होता चलता है कि उसके दीर्घ इतिहास में कालगत विभिन्नताओं के रहते हुए भी यहाँ से वहाँ तक एक ही वस्तु के प्रसार की प्रतीति होती है। जब कि साहित्य व्यक्त वाणी या वाग्विभूति का संचित भंडार है तब पहले भाषा ही पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। व्यक्त वाणी का यह संचय असभ्य जातियों में तो केवल मौखिक रहता है, पर सभ्य जातियों में पुस्तकों के भीतर हिफाज़त के साथ बंद रखा जाता है। मौखिक अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकता, पर पुस्तकस्थ होकर हज़ारों वर्ष तक चला चलता है।

साहित्य की अखंड दीर्घ परंपरा सभ्यता का लक्षण है। यह परंपरा शब्द की भी होती है और अर्थ की भी। शब्द-परंपरा भाषा को स्वरूप देती है और अर्थ-परंपरा साहित्य का स्वरूप निर्दिष्ट करती है। ये दोनों परंपराएँ अभिन्न होती हैं। इन्हें एक ही परंपरा के दो पक्ष समझिए। किसी देश की शब्द-परंपरा अर्थात् भाषा कुछ काल तक चलकर जो अर्थ-विधान करती है वही उस देश का साहित्य कहलाता है। कुछ काल तक लगातार चलते रहने से शब्द-परंपरा या भाषा को भी एक विशेष स्वरूप प्राप्त हो जाता है और अर्थ-परंपरा या साहित्य को भी। इस प्रकार दोनों के स्वरूपों का सामंजस्य रहता है। इस सामंजस्य मे यदि बाधा पड़ी तो साहित्य देश की प्राकृतिक जीवन-धारा से विच्छिन्न हो जाएगा और जनता के हृदय का स्पर्श न कर सकेगा।

यदि अर्थ-परंपरा का स्वरूप वनाए रखकर शब्द-परंपरा का स्वरूप बदल जायगा तो परिणाम होगा "कोयल का नगमा" और "महात्माजी के अलफाज़"। यदि शब्द-परंपरा स्थिर रखकर अर्थ-परंपरा या वस्तु-परंपरा वदली जाएगी तो आपके सामने "स्वर्ण अवसर" आएगा, "हृदय के छाले" फूटेंगे और "दुपट्टे फाड़े जाएँगे।"

भाषा या साहित्य के विशिष्ट स्वरूप प्राप्त करने का अभिप्राय यह नहीं है कि उसमें बाहर से आए हुए नए शब्द और नई नई वस्तुएँ न मिलें। उसमें नए-नए शब्द भी बराबर मिलते जाते हैं और नए-नए अर्थों या वस्तुओं की योजना भी होती जाती है, पर इस मात्रा में और इस ढब से कि उसका स्वरूप अपनी विशिष्टता वनाए रहता है। हम यह बराबर कह सकते है कि वह इस देश का, इस जाति का और इस भाषा का साहित्य है। गंगा एक क्षीण धारा के रूप में गंगोत्तरी से चलती है, मार्ग में न जाने कितने नाले, न जाने कितनी नदियाँ उसमें मिलती जाती हैं, पर सागर-संगम तक वह 'गंगा' ही कहलाती है, उसका 'गंगापन' बना रहता है।

हमारे व्यावहारिक और भावात्मक जीवन से जिस भाषा का संबंध सदा से चला आ रहा है वह पहले चाहे जो कुछ कही जाती रही हो अब हिन्दी कही जाती है। इसका एक-एक शब्द हमारी सत्ता का व्यंजक है, हमारी संस्कृति का संपुट है, हमारी जन्मभूमि का स्मारक है, हमारे हृदय का प्रतिविब है, हमारी बुद्धि का वैभव है। देश की जिस प्रकृति ने हमारे हृदय मे रूप-रंग भरा है उसी ने हमारी भाषा का भी रूप-रंग खड़ा किया है। यहाँ के वन, पर्वत, नदी, नाले, वृक्ष, लता, पशु, पक्षी सब इसी हमारी बोली मे अपना परिचय देते हैं और अपनी ओर हमे खींचते हैं। इनकी सारी रूप-छटा, सारी भाव-भंगी हमारी भाषा मे और हमारे साहित्य में समाई हुई है। यह वही भाषा है जिसकी धारा कभी संस्कृत के रूप मे वहती थी, फिर प्राकृत और

अपभ्रंश के रूप में और इधर हज़ार वर्ष से इस वर्त्तमान रूप में—जिसे हिंदी कहते हैं—लगातार बहती चली आ रही है। यह वही भाषा है जिसमे सारे उत्तरीय भारत के बीच चन्द और जगनिक ने वीरता की उमंग उठाई; कबीर सूर और तुलसी ने भक्ति की धारा बहाई; बिहारी देव और पद्माकर ने शृंगार-रस की वर्षा की, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र ने आधुनिक युग का आभास दिया और आज आप व्यापक दृष्टि फैलाकर सम्पूर्ण मानव जगत् के मेल में लानेवाली भावनाएँ भर रहे हैं। हजारों वर्ष से यह दीर्घ परंपरा अखंड चली आ रही है। ऐसी भव्य परंपरा का गर्व जिसे न हो वह भारतीय नही।

हमारा गर्व यह सोचकर और भी बढ़ जाता है कि यह परम्परा इतनी प्रबल और शक्तिशालिनी सिद्ध हुई कि इधर सौ वर्ष से—अर्थात् ॲंगरेज़ी राज्य के पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने के पीछे इसे बंद करने के तरह तरह के प्रयत्न कुछ लोगों के द्वारा समय समय पर होते आ रहे हैं, पर यह अपना मार्ग निकालती चली आ रही है। इस विरोध का मूल हमारे उन मुसलमान भाइयो की निर्मूल आशंका है जो अपनी भाषा और अपने साहित्य को विदेशी साँचे मे ढालकर अपने लिए अलग रखना चाहते हैं। यदि वे अपनी भाषा और अपने साहित्य की एक अलग परंपरा रखना चाहते है तो हमारे लिए यह प्रसन्नता की बात है। इधर अपनी भाषा की छटा, अपने साहित्य की विभूति हमारे सामने रहेगी, उधर उनके साहित्य के चमत्कार से भी हम अपना मनोरंजन करेंगे। यही मौका उन्हें भी रहेगा। मनोरंजन के क्षेत्र एक से दो रहें तो और अच्छी बात है। यही स्थिति मुसलमानी अमलदारी में रही है। दिल्ली और दक्खिन के बादशाह फारसी कविता का भी आनन्द लेते थे और परंपरागत हिन्दी कविता का भी। फ़ारसी के स्थान पर जब उर्दू की शायरी होने लगी तब भी यही बात रही। अनेकरूपता

का नाम ही संसार है। सौन्दर्य्य की विभूति अनेक रूपों में प्रकट होती है। सहृदय उन सब में आनन्द का अनुभव करते हैं। अकबर की बात छोड़ दीजिए जो आप कभी कभी हिन्दी में कविता करता था। औरंगजेब तक के दरबार में जाकर हिंदी-कवियों का कविता सुनाना प्रसिद्ध है। रहीम, रसखान, गुलाम नबी इत्यादि का नाम हिंदी के अच्छे कवियों में है।

यहीं तक नहीं अपनी धार्मिक भावनाओं की व्यंजना के लिए भी मुसलमान यहाँ की परंपरागत भापा को बराबर काम में लाते थे। हमारे हिंदी-काव्य के इतिहास में सूफी कवियों का एक वर्ग ही अलग है, जिसके अन्तर्गत, कुतबन, जायसी, उसमान, नूरमुहम्मद इत्यादि दर्जनों कवि हुए हैं। उन्होने हमारी ही प्यारी बोली में हमारे काव्यो की पदावली में, जिसमें संस्कृत का पुट बराबर रहता आया है, प्रेम कहानियाँ लिखी हैं।

यह देखना चाहिए कि हमारी भापा और हमारे साहित्य में वह कौन-सी वस्तु है, जो अब हमारे मुसलमान भाइयों को नापसन्द है। इधर उनकी ओर से जो लेख आदि निकल रहे हैं उनसे पता चलता है कि भाषा में न पसंद आनेवाली वस्तु हैं संस्कृत के शब्द और साहित्य में भारतीय दृश्य, भारतीय रीति-नीति और भारतीय इतिहास-पुराणों के प्रसंग। इस सम्बन्ध में हमारा नम्र निवेदन यह है कि जिस देश का साहित्य होगा उस देश की परंपरागत, भाषा, उस देश के प्राकृतिक स्वरूप, रीति-नीति, कथा प्रसंग आदि से वह कैसे दूर रह सकता है?

अब थोड़ा यह भी देखिए कि पुराने मुसलमान भाइयों ने अपने वर्ग के लिए एक अलग साहित्य निर्माण करने में उसका क्या स्वरूप रक्खा था, और कितने दिनों तक वह स्वरूप वे बनाए रहे। हिंदी में थोड़े से, अरबी फारसी शब्द मिलाकर अपने साहित्य के लिए जो भापा उन्होंने ग्रहण की, वह रेखता कहलाती थी। जो हिदी उन्होंने ली

थी वह केवल व्यवहार और बोलचाल की हिंदी न थी, परंपरागत काव्यों और गीतों की हिंदी भी थी, जिसमें बहुत चलते संस्कृत शब्दों के साथ-साथ ठेठ घरेलू शब्द भी रहते थे।

यह तो हुई कविता और साहित्य की बात। सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि सर्वसाधारण मुसलमान जनता में इसलाम के धार्मिक सिद्धांतों के प्रचार के लिए चार सौ वर्ष पहले जिस भाषा का प्रयोग वे अपनी किताबों में करते थे, उसमें यहाँ के धार्मिक और दार्शनिक पुस्तकों में आनेवाले इन्द्रिय विकार आदि शब्द तक भी कभी कभी लाते थे—

(१) सराहना नेवाजनां खुदा को बहुत कि वह पालनहारा है आलम का (शरह मरग़बुल कल्ब-शाह मीराँजी, बीजापुरी सन् १४९५ के पहले)।

(२) सवाल—यह तन अलाधा (अलहद:) बल्कि सतंतर (स्वतंत्र) विकार रूप दिखाता है। एक तिल क़रार नहीं ज्यों मरकट रूप।

जवाब—ऐ आरिफ़ ! ज़ाहिर तनके फ़ेल से गुजऱ्या व बातिन करतब विषै ? दूसरा तन सो भी कि इस इन्द्रियन का विकार व चेष्टा करनहारा······सुख दुख भोगनहारा। जेता विकार रूप वही दूसरा तन···। यह तन फ़हम सूँ गुजऱ्या तो गुन उसका क्यों रहे ?

(कलामतुल हकायक़, शाह बुरहानुद्दीन बीजापुरी सन् १५८२)।

उर्दू के इतिहास के लेखक उर्दू का उत्थान बीजापुर और गोलकुण्डा की दक्खिनी रियासतों से मानते हैं। वहाँ शीया मुसलमानों की अधिक बस्ती थी। इससे इमामहुसैन की कथा को लेकर दक्खिनी उर्दू कवियों ने कई मसनवियों या प्रबन्ध-काव्यों की रचना की। इनमे से एक का नाम है 'करबल-कथा' (करबला की कथा)। यह कथा शब्द भला आजकल उर्दू में कभी जगह पा सकता है ? शृंगार की प्रेम-कहानियों

की रचना भी दक्खिनी उर्दू में बहुत कुछ हुई है। जैसे 'वजही' की 'मसनबी कुतुब-मुश्तरी' जिसकी पद्य-रचना का रूप देखिए—

न भुइँ पर बसे वह न असमान में।
रहा शद उसी नार के ध्यान में।
भुलाई चंचल धन वो यों शाह कों।
कि लुभवाए ज्यों कहरुबा काह कों।
लगा शाह उसासाँ भरन आह मार।
कि नज़दीक ना है व गुनवंत नार।

'वजही' की ग़ज़ल का नमूना यह है—

पिउ अपनेकों आज मैं निस सपने देखी सोयकर।
जब पिउ चलिया सेंति सेज तब सोते उट्ठी रोयकर॥
ना पूछूँ बहमन जोयसी कब मिलना पिउ सों होयसी॥

'वजही' का रचना-काल सन् १६०० से १६२५ तक माना जाता है। इसके उपरांत सन् १६५० के लगभग 'नसरती' का समय आता है, जो कुछ दिनों तक तो दक्खिनी शायरी की उपर्युक्त परंपरा पर चला पर आगे चलकर वह 'हिन्दवीपन' को वहुत कुछ दूर हटाकर फ़ारसी रूप देने में लगा। अपना यह प्रयत्न उसने स्पष्ट स्वीकार किया है और कहा है "दखिन के शायरों की मै रविशपर शेर बोल्या नहीं" एक स्थान पर और कहता है—"मआनी की सूरत की है आरसी। दखिन का किया शेर जूँ फारसी॥ फ़साहत में गर फारसी खुश कलाम॥ धरे फ़ख्र हिंदी वचन पर मुदाम॥ मै इस दो हुनर के खुलासों को पा। किया शेर ताज़ः दोनों फन मिला॥" नसरती ने जो रास्ता दिखलाया उसपर कुछ लोग धीरे धीरे चलने लगे, पर दक्खिनी शायरी की देशी परंपरा कुछ दिनों तक चलती रही। सन् १६९१ ई० में अफ़ज़ल ने हिंदी-गीत-काव्य परंपरा के अनुसार 'बारहमासा' लिखा जिसकी भाषा इस ढंग की है—

सखी रे ! चैत रितु आई सुहाई ।
अजहुँ उम्मीद मेरी बर न आई ।
रहे हैं भँवर फूलों के गले लाग ।
मेरे सीनः जुदाई की लगी आग ।
सखी दिन रैन मुझ नागिन डसत है ।
फिरूँ दौरी तमामै जग हँसत है ।

सन् १७०० के पीछे वली ने और दक्खिनी शायरों के समान कुछ दिनों तक हिंदीपन को रहने दिया । उसकी उन रचनाओं में हिंदी-काव्य-परंपरा के कुछ शब्द भारतीय कथा-प्रसंगों के कुछ संकेत, प्रेम व्यापार में स्त्री-पुरुष का भेद आदि कुछ बातें बनी रहीं । जैसे—

इस रैन अँधेरी में मत भूल पड़ूँ तिससूँ ।
टुक पाँव के बिछुवों की आवाज़ सुनाती जा ॥
मुझ दिल के कबूतर को पकड़ा है तेरी लट ने ।
यह काम धरम का है टुक इसको छुड़ाती जा ॥
तुझ मुख की परस्तिश में गई उम्र मेरी सारी ।
ऐ बुत की पुजनहारी इस बुत को पुजाती जा ॥
मुख बात बोलता हूँ शिकवः तेरे कपट का ।
तुझ नैन देखने को दिल ठांठ कर चुका था ॥

पीछे शाह सादुल्लाह गुलशन ने 'वली' को हिदायत की कि "ये इतने फ़ारसी के मज़मून जो बेकार पड़े हैं, इन्हें काम में ला ।" फिर तो वली ने अपना रुख़ ही पलट दिया और वे इस तरह के कलाम सामने लाने लगे—

जब सनम को ख़याले बाग़ हुआ ।
तालिबे नश्शए फ़राग़ हुआ ।

फ़ौज उश्शाक़ देख हर जानिब।
नाज़नीं साहबे दिमाग़ हुआ।
अश्क सूँ तुझ लबां की सुरख़ी के।
जिगर लाल दाग़ दाग़ हुआ।

पहले के दक्खिनी शायर तो देव की श्रुति-रुचि के अनुसार जगह को 'जाघा' और 'अलहद:' को 'अलाधा' तक लिखते थे। फ़ारसी शब्दो के बहुवचन आदि हिंदी-व्याकरण के अनुसार रखते थे, पर वली ने 'आशिक़' का बहुवचन अरबी के क़ायदे पर 'उश्शाक़' रक्खा है और फ़ारसी समास के ढंग पर नशए-फ़राग़ और 'साहबे दिमाग़' लाए है। वली सन् १७०० ई० में दिल्ली आए। क़ायम ने सन् १७२० में वली के दीवान का दिल्ली पहुँचना लिखा है।

यहाँ से अब दिल्ली के शायरों की परंपरा उर्दू साहित्य में चली है। सन् १७०० ई० दिल्ली में हातिम नाम के एक शायर थे। इन्होंने फिर हिंदी के शब्दों की छँटाई की; जिसका वर्णन उन्होंने आप ही इस प्रकार किया है—

"लस्सान अरबी व ज़बान फ़ारसी कि करीबुलफ़हम व कसीरुल इस्तअमाल बाशद व रोज़मर्रा देहली कि मिर्ज़ायाने हिंद व फसीहाने रिंद दर महावर: दारंद मंज़ूर दाश्त:। सिवाए आँ ज़बान हिंदवी कि ऑरा भाखा गोयंद मौकूफ़ करद:।"

तात्पर्य्य यह कि हातिम ने अरबी फ़ारसी के शब्द ला लाकर रखे और हिंदी या भाषा के शब्दो को निकाल फेका। अरबी फ़ारसी के बीच हिंदी के वे ही-शब्द और मुहाविरे रहने पाए जिन्हें शाहज़ादे सरदार लोग दरबार में बोलते थे। इस प्रकार उर्दू एक दरबारी भाषा भर रह गई। इतना होने पर भी इनकी कविताओं में भारतीय कथा-प्रसंगों के संकेत पाए जाते हैं—

खुदा के नूर का मथकर समुन्दर।
यही चौदह रतन काढ़े हैं बाहर॥
अगर फ़हमीदः हिकमत आशना है।
इसी नुसख़े में चौदह विद्या है॥

हातिम ही के समय में उर्दू के महाकवि 'सौदा' हुए हैं। जो पहले हिंदीपन से सटी हुई शायरी ही नहीं सर्व-साधारण में प्रचलित हिंदी भाषा की कविता भी करते थे और अच्छी करते थे। कुछ उद्धृत किए बिना आगे नहीं बढ़ते बनता। सौदा की हिंदी ग़ज़ल—

निकल के चौखट से घर की प्यारे जो पट की ओझल ठिठक रहा है।
सिमट के घट से तेरे दरस को नयन में जी आ अटक रहा है।
अगिन ने तेरे विरह की जब से झुलस दिया है कलेजा मेरा।
हिये की धड़कन मैं क्या बताऊँ यूँ कोयला सा चटक रहा है।
जिन्हों की छाती से पार बरछी हुई है रन में वो सूरमा है,
पड़ा वो सावन्त मन में जिसके विरह का काँटा खटक रहा है।
मुझे पसीना जो तेरे मुख पर दिखाई दे है तो सोचता हूँ,
य क्योंकि सूरज की जोत आगे हर एक तारा छटक रहा है।
हिलोर यों लेती ओस की बूँद लग के फूलो की पंखड़ी से,
तुम्हारे कानों में जिस तरह से हर एक मोती लटक रहा है।
कही जो लग चलने साथ देता हो इस तरह का कटर है पापी,
न जानूँ पेड़ी की धूल मैं हूँ जो मुझसे मुल्ला भटक रहा है।
कभू लगा है न आते जाते जो बैठकर टुक इसे निकालूँ,
सजन! जो काँटा है तुझ गली का सो पग में मेरे अटक रहा है।
कोई जो मुझसे य पूछता होय क्यों तू रोता है कह तो हमसे,
हर एक आँसू मेरे नयन का जगह जगह सिर पटक रहा है।
गुनी हो कैसा ही ध्यान जिसका तेरे गुनों से लगा है प्यारे,
ग्यान परबत भी है जो उसका तो छोड़ उसको सटक रहा है।

जो बाट मिलने की होय उसका पता बता दो मुझे सिरीजन,
तुम्हारी बटियों में आज बरसो से यह बटोही भटक रहा है।
जो मैंने 'सौदा' से जाके पूछा तुझे कुछ अपने भी मन की सुध बुध,
य रोके मुझसे कहा किसी की लटक में लटकी लटक रहा है।
सौदा के हिन्दी दोहे—

कारी रैन डरावनी घर तें होइ निरास।
जंगल मे जा सो रहे कोऊ आस न पास॥
बैरी पहुँचे आइके तेरी देहली पास।
बेग ख़बर लो या नबीं! अब पत की नहिं आस॥
खीझ खीझ चहुँ ओर से पड़े वह ज़ालिम टूट।
बेबों को डरपाय के ले गये घर को लूट॥
कहै हरम सर पीट कर खोकर अपनी लाज।
माटी में तू रल गयो दीन दुनी के लाज॥
खोयौ तैंने नीर बिन नबी के मन को चैन।
ज़ालिम तेरे हाथ से प्यासो गयो हुसैन॥

उक्त दोहे मरसियों में आ गए हैं। उन्हीं में से अलग किए गए हैं। सौदा की पहेलियों की भाषा हिन्दी है पर उनकी और सब रचनाएँ हातिम की ही सरणी पर चलती हैं। उर्दू की शायरी में जो थोड़ा बहुत हिन्दीपन लुका छिपा था, वह लखनऊ जाने पर नासिख़ के हाथ से दूर किया गया। फिर तो वह हिन्दी से ऐसी हटी कि उसने अपना एक दायरा ही अलग कर लिया। उस दायरे से जगत, चंचल, नार, गुन, अक़ास, धरम, धन, करम, दया, बीर, बली ऐसे शब्द एकदम निकाल बाहर हुए। इसी प्रकार वस्तुओं मे न कमल और न भँवरे रह गए न बसन्त और कोकिल, न वर्षाऋतु रह गई न सावन की हरियाली; न भीम और अर्जुन रह गए न कर्ण और भोज। इस प्रकार यहाँ की परंपरा-

गत भाषा के आधे हिस्से से और परंपरागत साहित्य के सर्वांश से अर्थात् देश के सामान्य जीवन से उर्दू दूर हटा दी गई। जबरदस्ती जान बूझकर हटाई गई, आप से आप नहीं हटी।

उर्दू के इस रूप में आने का परिणाम यह हुआ कि अपना प्रसार करने की स्वाभाविक शक्ति उसमें न रह गई। वह अपने को बनाए रखने के लिए मक़तबों और सरकारी दफ्तरों की मुहताज हो गई। यह बात अङ्गरेज़ी अमलदारी के प्रतिष्ठित हो जाने पर हमारे नवशिक्षित मुसलमान भाइयों को स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगी और वे उसकी रक्षा और प्रसार के कृत्रिम साधनों का अवलम्बन करने में लगे। मुसलमानी अमलदारी में सरकारी दफ्तर फारसी में थे। अतः ईस्ट इण्डिया कंपनी ने भी कुछ दिनों तक सरकारी दफ्तरों की ज़बान फारसी ही रहने दी पर पीछे अधिकारियों को यह बात खटकने लगी, कि दफ्तरों की भाषा सर्वसाधारण की भाषा से बिलकुल अलग है। उनका ध्यान देश की प्रचलित भाषा की ओर गया। सन् १८३६ ई० में हमारे संयुक्त प्रदेश के सदर बोर्ड से एक इश्तहारनामा निकला जो इस प्रकार था—

इश्तहारनामः बोर्ड सदर—

पच्छाह के सदर बोर्ड के साहबों ने यह ध्यान किया है कि कचहरी के सब काम पारसी जबान में लिखा पढ़ा होने से सब लोगों को बहुत हर्ज पड़ता है और बहुत कलप होता है, और जब कोई अपनी अर्जी अपनी भाषा में लिख के सरकार में दाखिल करने पावे तो बड़ी बात होगी। सब को चैन आराम होगा इसलिए हुक्म दिया गया है कि सन् १२४४ की कुवार बदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर बोर्ड में हो सो अपना अपना सवाल अपनी हिन्दी की बोली में और पारसी के नागरी अच्छरन मे लिख के दाखिल करे कि डाक पर भेजे और सवाल

जौन अच्छरन में लिखा हो तौने अच्छरन में और हिन्दी बोली में उस पर हुक्म लिखा जायगा। मिती २९ जुलाई सन् १८३६ ई०।

खेद की बात है कि यह व्यवस्था चलने न पाई। मुसलमान भाइयों की ओर से इस बात का घोर प्रयत्न हुआ कि दफ्तरों में हिन्दी घुसने न पाए, उर्दू चलाई जाय। अन्त में सन् १८३७ ई० से उर्दू दफ्तरों की भाषा कर दी गई। इसके उपरान्त जब सर्वसाधारण की शिक्षा के लिए सरकार की ओर से जगह जगह मदरसे खुलने की बात उठी और सरकार ने यह निश्चय किया कि संस्कृत की [illegible] दी जाय और हिन्दी भाषा का पढ़ना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक कर दिया जाय, तब भी मुसलमान भाइयों की ओर से विरोध खड़ा किया गया और सन् १८४८ में उनकी प्रेरणा से कम्पनी की सरकार ने यह आज्ञा निकाली "हिन्दी ज़बान का इल्म तमाम तुलबा के लिए लाज़िम क़रार देना जो मुल्क की सरकारी और दफ़्तरी ज़बान नहीं है, हमारी राय में दुरुस्त नहीं। अलावः इसके मुसलमान तुलबा जिनकी

थे, यह उन्हीं की ज़बान से सुनिए। वे फ़रमाते हैं—"चूँकि यह ज़बान ख़ास बादशाही बाज़ारों में मुरव्वज थी इस वास्ते इसको ज़बान उर्दू कहा करते थे। और बादशाही अमीर उमरा इसको बोलते थे। गोया हिन्दुस्तान के मुसलमानों की यह ज़बान थी।" इस प्रकार उर्दू को उन्होंने केवल दरबारी अमीर उमरा और मुसलमानों की ज़बान तसलीम किया है।

मुसलमान किस तरह पहले अपने मज़हब की तालीम के लिए थोड़ी अरबी फ़ारसी मिली एक ख़ास ढंग की हिन्दी काम में लाए, फिर धीरे धीरे हिन्दीपन निकालते निकालते बिल्कुल एक विदेशी ढाँचे की भाषा गढ़कर अपने लिखने की भाषा एकदम अलग कर ली, यह बात अब स्पष्ट हो गई होगी। मुहम्मदशाह के समय तक इस नई गढ़ी हुई भाषा का, जो पीछे उर्दू कहलाई, साहित्य-रचना के लिए प्रचार न हो सका था, इसका आभास हिन्दी के सूफ़ी कवि नूरमुहम्मद ने अपनी उस पुस्तक में दिया है जो उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'इन्द्रावती' के पीछे लिखी। पुस्तक का नाम है 'अनुरागबाँसुरी'। * नूरमुहम्मद के समय से मुसलमान देश की प्रचलित भाषा हिन्दी से किनारा खींचने लगे थे और मुसलमानों के लिए फ़ारसी में रचना करना ही जायज़ समझने लगे थे। 'इन्द्रावती' लिखने पर उन्हें उनके मुसलमान भाइयों ने यह कहकर फटकारना शुरू किया कि "तुम मुसलमान होकर हिन्दी में क्यों लिखने गये" इसी से बेचारे को 'अनुराग-बाँसुरी' मे अपनी सफ़ाई इन शब्दों में देनी पड़ी—

जानत है वह सिरजन हारा। जो कछु है मन मरम हमारा॥
हिन्दू-मग पर पाँव न राखेउँ। का जौ बहुतै हिन्दी भाखेउँ॥

---

* यह पुस्तक अप्रकाशित है।

जिसे उर्दू कहते हैं उसका उस समय साहित्य में कोई स्थान न था, यह नूरमुहम्मद के इस कथन से साफ़ झलकता है—

† कामयाब कहँ कौन जगावा। फिर हिन्दी भाखै पर आवा॥
छाँड़ि पारसी कंद नवातैं। अरुझाना हिन्दी-रस बातैं॥

जनता से अपने को बिल्कुल अलग दिखाने के लिए मुसलमानों ही अपने लिए विदेशी ढाँचे की एक अलग भाषा और साहित्य खड़ा किया, यह इतनी प्रत्यक्ष बात है कि किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। उर्दू की प्राचीनता दिखाने के लिए दक्खिनी शायरों की जो लंबी सूची सामने लाई गई है, उसमें कोई हिंदू भी है? शायद एक या दो। और जाने दीजिए 'आवे हयात' ही उठा लीजिए। उसमें सब के सब शायर मुसलमान ही तो हैं! अब और सबूत क्या चाहिए? इतने पर भी न जाने किस मुँह से यह कहा जाता है कि हिंदुओं और मुसलमानों के मेल से उर्दू पैदा हुई। मेल से पैदा हुई चीज़ की यही सूरत होती है?

आज सब से बढ़कर खेद तो तब होता है जब कोई कानूनपेशा हिंदू, पेट के पीछे जिसके घराने का लगाव देश की परंपरागत संस्कृति और साहित्य से बिल्कुल टूट गया हो, जिसकी प्रारंभिक शिक्षा केवल फारसी तथा अदालती भाषा उर्दू की हुई हो, किसी जलसे या मुशायरे में उर्दू को हिंदू-मुसलिम कल्चर के मेल से वजूद में आई हुई एक मुश्तरकः ज़बान बताने लगता है। हम पूछते हैं कि जब तुम 'हिंदू कल्चर' से कोसों दूर पड़ गए हो तब उसका मेल कहाँ और कितना है, यह क्या पहचान सकते हो? बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात इत्यादि के साहित्य की कुछ खबर है? जब तुम ऐसे कूप-मंडूक हो कि अपने तंग घेरे के बाहर नज़र ही नहीं फैला सकते, तब इस रोशनी के ज़माने मे

---

† नूरमुहम्मद फारसी की रचनाओं में अपना तखल्लुस 'कामयाब' रखते थे।

चुप क्यों नहीं रहते ? साहित्य की जो देश-व्यापक परंपरा बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात आदि और प्रांतों में चली आ रही है, वही परंपरा तो हिंदी की भी है—अर्थ-परंपरा भी और शब्द-परंपरा भी। इसी अर्थ-परंपरा और शब्द-परंपरा से इस देश की दस बारह करोड़ जनता परिचित है। इसी को वह अपना समझती आई है। जिसने उर्दू नहीं पढ़ी है उसे ज़रा अपनी 'मुश्तरकः आम-फ़हम' में कोई 'सयासी तक़रीर' सुनाइए तो पता लगे। हमें सबसे बढ़कर क्षोभ उस समय हुआ था जब हिंदुस्तानी के किसी जलसे में एक साहब यह फ़रमा गए थे कि "मैं तुलसी और कबीर को समझ लेता हूँ पर आजकल की हिन्दी बहुत कम समझ पाता हूँ"। इस प्रलाप का भी कहीं ठिकाना है ? जो आजकल के साहित्य की भाषा नहीं समझता वह भला तुलसी की भाषा क्या समझेगा ? संस्कृत शब्दों की परंपरा सूर, तुलसी आदि की रचनाओं में चली आई थी वही आजकल भी चली आ रही है।

जिस प्रकार 'हिन्दवीपन' निकाल निकाल कर एक विदेशी ढाँचे की भाषा खड़ी करने का क्रमबद्ध इतिहास है उसी प्रकार उस भाषा को सब के गले मढ़ने के लिए हिन्दी को दूर रखने के घोर प्रयत्न का भी ख़ासा इतिहास है जो उस समय से शुरू होता है जब देश का पूरा शासन अँगरेज़ों के हाथ में आया। इन दोनों इतिहासों का संक्षेप में उल्लेख करके अब मैं वर्त्तमान परिस्थिति पर आता हूँ। अब तक शिक्षा का लक्ष्य अधिकतर सरकारी नौकरी रहा है। अतः इस बात का प्रयत्न बराबर होता रहा है कि दफ्तरों में हिंदी न घुसने पाए। दफ़्तरों की भाषा जब तक उर्दू रहेगी तब तक झख मार कर लोगों को अपने बच्चों को उर्दू की शिक्षा देनी पड़ेगी और यह कहने का मौक़ा रहेगा कि उर्दू पढ़े-लिखे लोगों की भाषा है। अगर दफ्तरों की भाषा होना ही प्रचलित भाषा होने का प्रमाण है तब तो फ़ारसी भी, जो

कई सौ वर्ष तक दफ़्तरों की भाषा रही है, देश की प्रचलित भाषा मानी जानी चाहिए।

जिस समय उर्दू के साथ साथ—उसे हटाकर नहीं—हिंदी को भी स्थान दिलाने के लिए सर ऐंटनी मैकडानल के समय में आन्दोलन उठा उस समय भी पूरा विरोध मुसलमानों की ओर से खड़ा किया गया। अदालतों से ही नहीं शिक्षा पद्धति से भी हिन्दी को हटाने के प्रयत्न बराबर होते रहे हैं, यह दिखाया जा चुका है। अब आजकल की परिस्थिति देखिए। जो लोग राजनीतिक दृष्टि से हिन्दू-मुसलिम एकता अत्यन्त आवश्यक समझते हैं वे एक बीच का रास्ता पकड़ कर 'हिन्दुस्तानी' लेकर उठे हैं। इस हिन्दुस्तानी का समर्थन कुछ उदार समझे जानेवाले मुसलमान और उर्दू की गोद में पले हिन्दू भी कर रहे हैं। हम भोली भाली जनता को इस 'हिन्दुस्तानी' से सावधान करना अत्यन्त आवश्यक समझते हैं। जो हिन्दुस्तानी इन लोगों के ध्यान में है वह थोड़ी छनी हुई उर्दू के सिवा और कुछ नहीं है। उर्दू के सब लक्षण—जैसे वाक्य-रचना की फारसी शैली, अरबी-फ़ारसी के अप्रचलित मुंशी-फ़हम शब्द, अरबी-फारसी क़ायदे के बहुवचन उसमें वर्तमान रहेंगे तब तो वह 'हिन्दुस्तानी' कहलाएगी, अन्यथा नहीं।

साहित्य, विज्ञान, दर्शन इत्यादि के काम की हिन्दुस्तानी नहीं हो सकती, यह तो इसके समर्थक भी स्वीकार करते हैं। हमारा कहना है कि साधारण बोलचाल और व्यवहार के लिए भी जिस प्रकार की 'हिन्दुस्तानी' हमारे उर्दू-परस्त दोस्तों के ध्यान में है वह चलनेवाली नही है। साधारण लिखा पढ़ी और व्यवहार में भी वही भाषा चल सकती है जिसमें ठेठ हिन्दी शब्दों के अतिरिक्त जैसे सब प्रकार के लोगों द्वारा बोले जानेवाले अरबी फ़ारसी के शब्द आएँ, वैसे ही संस्कृत के भी। पर क्या भूल कर भी प्रचलित से प्रचलित संस्कृत शब्द, जिसे गाँवों मे बसनेवाली अपढ़ जनता तक बराबर बोलती आ रही है—हिन्दु-

स्तानी में कभी स्थान पा सकता है ? जहाँ एक भी ऐसा शब्द आया कि हमारे मेहरबान दोस्तों को 'भाखापन' की गंध आने लगेगी।

साधारण लिखा-पढ़ी अदालती व्यवहार तथा बोलचाल के लिए यदि एक सच्ची सामान्य भाषा 'हिन्दुस्तानी' के नाम से ग्रहण कर ली जाय तो कोई हर्ज नहीं। पर उस हिन्दुस्तानी में जिस प्रकार अरबी-फ़ारसी के ऐसे चलते शब्द आएँ जैसे—

ज़रूर, क़ाबू, इख़्तियार, दावा, वक्त, सलाह, क़ायदा, क़ानून, हिम्मत, हैरान, सिफ़ारिश, अरजी, नरम, गरम, मुलायम, ग़रीब, अमीर, इज्ज़त, कसूर, माफ़, मरज़ी, ग़रज, किफ़ायत, नफ़ा, नुक़सान, तकाज़ा, उम्र, दरवाजा, रंज, गुस्सा, किस्सा, तनख़ाह, तदबीर, पेशा, साल, शकल, सूरत, ऐब, हुनर, हाजिर, सवाल, जवाब, सज़ा, मुनासिब, सही, ग़लत, मंजूर।

उसी प्रकार नित्य बोले जानेवाले ऐसे संस्कृत के शब्द भी आएँ जैसे—

विद्या, परीक्षा, ज्ञान, धर्म, अधर्म, पाप, पुण्य, अपराध, न्याय, अन्याय, उपाय, युक्ति, कला, आकाश, पृथ्वी, क्षमा, दया, माया, प्रेम, प्रीति, क्रोध, ईर्षा, शोच, चिन्ता, सुख, दुःख, सम्पत्ति, विपत्ति, शरण, चरण, धन, मान, मर्य्यादा, प्रतिष्ठा, कृपा, बन्धन, नाश, रक्षा, वस्तु, सन्तोष, औषध, वश, भोगविलास, आनन्द, पर्वत, जल, धारा, स्नान, ध्यान, शीत, ताप, शोभा, सुन्दरता, तेज, प्रताप, बल, पराक्रम, पौरुष, वीरता, शरीर, देह, कोमल, सुकुमार, शुद्ध, अशुद्ध, पवित्र, इच्छा, अक्षर, वाणी, कंठ, अर्थ, मनोरथ, कामना इत्यादि।

है ऐसी आशा ? यदि नहीं तो ऐसी हिन्दुस्तानी को दूर से नमस्कार !

हिन्दी और हिन्दुस्तानी

भाषण सदा प्रयुक्त साहित्य में आता है। सदा उसका निश्चित प्रयोजन रहता है किसी विषय का प्रतिपादन। उसकी प्रतिपादन-शैली ही उसका प्राण होती है और भाषा की सरलता उसका शृङ्गार। इस भाषण की शैली और भाषा दोनों ही सौम्य हैं। शुक्लजी के निबन्ध-सम्बन्धी सभी गुण इसमें हैं। पर सरलता इसकी विशेषता है। शुक्लजी समास-शैली में गंभीर भाषा लिखते हैं पर यहाँ शैली भी 'व्यास' है और भाषा भी टकसाली व्यवहार की है। शुक्लजी आलोचना और इतिहास के दृष्टिकोण से मार्मिक विचार प्रकट किया करते हैं। यहाँ भी यही हुआ है, पर बातें इस ढंग से आई हैं कि हिन्दी का साधारण श्रोता भी उन्हें समझ लेता है। साहित्य, भाषा, हिन्दी, हिन्दुस्तानी आदि की परिभाषाएँ ऐसे रूप में आई हैं कि जो चाहे उन्हें जान सकता है।

'छनी हुई उर्दू' को हिन्दुस्तानी कहना वक्ता ने अनुचित माना है, इसीसे हिंदी और उर्दू दो भाषाएँ रखना ही अच्छा है। यदि व्यवहार में आनेवाली जनता की भाषा जिसमें फ़ारसी और संस्कृत सभी के चलते शब्द आ जाते हैं, हिन्दुस्तानी मानी जाय तो अवश्य मानी जा सकती है।

दो मसजिदें

आजकल समाचार-पत्रों में लाहौर की शहीदगंज मसजिद की प्रतिदिन कुछ-न-कुछ चर्चा होती रहती है। शहर में काफ़ी खलबली मची हुई है, दोनों तरफ़ मज़हबी जोश दीखता है। एक-दूसरे पर हमले होते है, एक-दूसरे की बदनीयती की शिकायते होती हैं, और बीच में एक पंच की तरह अंगरेज़ी हुकूमत अपनी ताकत दिखलाती है। मुझे न तो वाकयात ही ठीक-ठीक मालूम है कि किसने यह सिलसिला पहले छेड़ा था, या किसकी गलती थी, और न इसकी जाँच करने की मेरी कोई इच्छा ही है। इस तरह के धार्मिक जोश में मुझे बहुत दिलचस्पी भी नही है; लेकिन दिलचस्पी हो या न हो पर जब वह दुर्भाग्य से पैदा हो जाय, तो उसका सामना करना ही पड़ता है। मै सोचता था कि हम लोग इस देश में कितने पिछड़े हुए हैं कि अदना-अदना-सी बातों पर जान देने पर उतारू हो जाते है; पर अपनी गुलामी और फाकेमस्ती सहने को तैयार रहते हैं।

इस मसजिद से मेरा ध्यान भटककर एक दूसरी मसजिद की तरफ़ पहुँचा। वह एक बहुत प्रसिद्ध ऐतिहासिक मसजिद है, और करीब चौदह सौ वर्ष से उसकी तरफ लाखों-करोड़ों निगाहें देखती आई हैं। वह इस्लाम से भी पुरानी है, और उसने अपनी इस लम्बी ज़िन्दगी में न जाने कितनी बातें देखी हैं। उसके सामने बड़े-बड़े साम्राज्य गिरे, पुरानी सल्तनतों का नाश हुआ, धार्मिक परिवर्तन हुए। खामोशी से उसने यह सब देखा, और हर क्रांति और तबादले पर उसने अपनी भी पोशाक बदली। चौदह सौ वर्ष के तूफानों को इस आलीशान इमारत ने बरदास्त किया; बारिश ने उसको धोया, हवा ने अपने बाजुओं से उसको रगड़ा; मिट्टी ने उसके बाज़ हिस्सों को ढँका। बुजुर्गी और शान उसके एक-एक पत्थर से टपकती है। मालूम होता है, उसकी रग-रग और रेशे-रेशे में दुनियाँ भर का तजुर्बा इस डेढ़ हजार वर्ष ने भर दिया है। इतने लम्बे ज़माने तक प्रकृति के खेलों और तूफानों की बरदास्त कठिन थी; लेकिन उससे भी अधिक कठिन था मनुष्य की हिमाक़तों और वहशतों को सहना। पर उसने यह भी सहा। उसके पत्थरों की ख़ामोश निगाहों के सामने साम्राज्य खड़े हुए और गिरे। मज़हब उठे और बैठे; बड़े से बड़े बादशाह, खूबसूरत-से-खूबसूरत औरतें, लायक से लायक आदमी चमके और फिर अपना रास्ता नाप कर ग़ायब हो गये। हर तरह की वीरता उन पत्थरों ने देखी और देखी हर प्रकार की नीचता और कमीनापन। बड़े और छोटे, अच्छे और बुरे, सब आये और चल बसे; लेकिन वे पत्थर अभी क़ायम हैं। क्या सोचते होंगे वे पत्थर, जब वे आज भी अपनी ऊँचाई से मनुष्यों की भीड़ों को देखते होंगे—उनके बच्चों का खेल, उनके बड़ों की लड़ाई, फ़रेब और बेवकूफ़ी। हजारों वर्ष में इन्होंने कितना कम सीखा! कितने दिन और लगेंगे कि इनको अक्ल और समझ आये?

समुद्र की एक पतली-सी बाँह एशिया और यूरोप को वहाँ अलग करती—एक चौड़ी नदी की भाँति वासफोरस बहता है और दो दुनियाओं को जुदा करता है। उसके युरोपियन किनारे की छोटी छोटी पहाड़ियों पर वाइजेन्टियेम की पुरानी बस्ती थी। बहुत दिनों से वह रोमन साम्राज्य में थी, जिसकी सरहद ईस्वी की शुरू की शताब्दियों में ईराक़ तक थी; लेकिन पूरब की ओर से इस साम्राज्य पर अकसर हमले होते थे। रोम की शक्ति कुछ कम हो रही थी, और वह अपनी दूर-दूर की सरहदों की ठीक तरह रक्षा नहीं कर सकता था। कभी पश्चिम और उत्तर में जर्मन वहशी (जैसा कि रोमन लोग उन्हें कहते थे) चढ़ आते थे, और उनका हटाना मुश्किल हो जाता था। तो कभी पूरब में ईराक की तरफ से या अरब से एशियाई लोग हमले करते और रोमन फ़ौजों को हरा देते थे।

रोम के सम्राट् कान्सटेन्टाइन ने यह फैसला किया कि अपनी राजधानी पूरब की ओर ले जाय, ताकि वह पूर्वी हमलों से साम्राज्य की रक्षा कर सके। उसने वासफोरस के सुन्दर तट को चुना और वाइजेन्टियेम की छोटी पहाड़ियों पर एक विशाल नगर की स्थापना की। ईस्वी की चौथी सदी ख़तम होनेवाली थी, जब कान्सटेन्टिनोपल (उर्फ कुस्तुन्तुनिया) का जन्म हुआ। इस नवीन प्रवन्ध से रोमन साम्राज्य पूरब में जरूर मज़बूत हो गया, लेकिन अब पश्चिम की सरहद और भी दूर पड़ गई। कुछ दिन वाद रोमन साम्राज्य के दो टुकड़े हो गये—एक पश्चिमी साम्राज्य और दूसरा पूर्वी साम्राज्य। कुछ वर्ष बाद पश्चिमी साम्राज्य को उसके दुश्मनों ने ख़तम कर दिया; लेकिन पूर्वी साम्राज्य एक हजार वर्ष से अधिक और कायम रहा और वाइजेन्टाइन साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध रहा।

सम्राट् कान्सटेन्टाइन ने केवल राजधानी ही नहीं वदली,

परन्तु उससे भी बड़ा एक परिवर्तन किया। उसने ईसाई धर्म स्वीकार किया। उसके पहले ईसाइयों पर रोम में बहुत सख्तियाँ होती थीं। जो उनमें से रोम के देवताओं को नहीं पूजता था, या सम्राट् की मूर्ति का पूजन नहीं करता था, उसको मौत की सजा मिल सकती थी। अक्सर उसे मैदान में भूखे शेरों के सामने फेक दिया जाता था। यह रोम की जनता का एक बहुत प्रिय तमाशा था। रोम में ईसाई होना एक बहुत खतरे की बात थी। वे तो बाग़ी समझे जाते थे। अब एकाएक जमीन आसमान का फर्क हो गया। सम्राट् स्वयं ईसाई हो गया, और ईसाई धर्म सबसे आदरणीय समझा जाने लगा। अब बेचारे पुराने देवताओं के पूजनेवाले मुश्किल में पड़ गये, और बाद के सम्राटों ने तो उनको बहुत सताया। केवल एक सम्राट् फिर ऐसे हुए (जूलियन) जो ईसाई धर्म को तिलांजलि देकर फिर देवताओं के उपासक बन गये; परन्तु तब ईसाई धर्म बहुत ज़ोर पकड़ चुका था, इसलिए बेचारे रोम और ग्रीस के प्राचीन देवताओं को जंगल की शरण लेनी पड़ी, और वहाँ से भी वे धीरे-धीरे ग़ायब हो गये।

इन पूर्वी रोमन साम्राज्य के केन्द्र कुस्तुन्तुनियाँ में सम्राटों की आज्ञा से बड़ी-बड़ी इमारतें बनीं, और बहुत जल्द वह एक विशाल नगर हो गया। उस समय यूरोप में कोई भी दूसरा शहर उसका मुक़ाबला नहीं कर सकता था—रोम भी बिलकुल पिछड़ गया था। वहाँ की इमारतें एक नई तर्ज़ की बनीं, एक नई भवन बनाने की कला का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें मेहराब, गुम्बज, बुर्जियाँ, खम्भे इत्यादि अपनी ही तर्ज़ के थे, और जिसके अन्दर और खम्भों वगैरह पर बारीक़ मोज़ाइक (पच्चीकारी) का काम होता था। यह इमारती कला बाजेन्टाइन कला के नाम से प्रसिद्ध है। छठी सदी में कुस्तुन्तुनिया में एक आलीशान केथीड्रल (बड़ा-

गिरजा) इस कला का बनाया गया, जो सांक्टा सोफ़िया या सेन्ट-सोफ़िया के नाम से मशहूर हुआ।

पूर्वी रोमन साम्राज्य का यह सब में बड़ा गिरजा था, और सम्राटों की यह इच्छा थी कि वह बेमिसाल बने और अपनी शान और ऊँचे दर्जे की कला मे साम्राज्य के योग्य हो। उनकी इच्छा पूरी हुई, और यह गिरजा अब तब वाइजेन्टाइन कला की सबसे बड़ी फ़तह समझा जाता है। बाद में ईसाई धर्म के दो टुकड़े हुए (हुए तो कई लेकिन दो बड़े टुकड़ों का ज़िक्र है) और रोम और कुस्तुन्तुनिया में धार्मिक लड़ाई हुई। वे एक दूसरे से अलग हो गए। रोम का विशप (बड़ा पादरी) पोप हो गया और वह यूरोप के पश्चिमी देशों में बड़ा माना जाने लगा, लेकिन पूर्वी रोमन साम्राज्य ने उसको नहीं माना, और वहाँ का ईसाई फ़िरका अलग हो गया। यह फिरका ऑर्थोडाक्स चर्च कहलाने लगा, या अक्सर ग्रीक चर्च भी कहलाता था, क्योंकि वहाँ की बोली ग्रीक हो गई थी। ऑर्थोडाक्स चर्च रूस और उसके आस-पास भी फैला था।

सेंट सोफिया का केथीड्रल ग्रीक चर्च (धर्म) का केन्द्र था, और नौ सौ वर्ष तक वह ऐसा ही रहा। बीच में एकाएक रोम के पक्षपाती ईसाई (जो आये थे मुसलमानों से क्रूसेड्स—जेहाद लड़ने) कुस्तुन्तुनिया पर टूट पड़े, और उस पर उन्होंने क़ब्ज़ा भी कर लिया, लेकिन वे जल्द ही निकाल दिए गए।

आखिर में जब पूर्वी रोमन साम्राज्य एक हजार वर्ष से अधिक चल चुका था और सेंट-सोफिया की अवस्था भी लगभग नौ सौ वर्ष की हो रही थी, तब एक नया हमला हुआ, जिसने उस पुराने साम्राज्य का अन्त कर दिया। पंद्रहवीं सदी मे ओस्मानली तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर फ़तह पाई। नतीजा यह हुआ कि वहाँ का जो सबसे बड़ा ईसाई

केथीड्रल था, वह अब सबसे बड़ी मसजिद हो गई। सेंट सोफ़िया का नाम आया सुफ़ीया हो गया। उसकी यह नई ज़िन्दगी भी लम्बी निकली—सैकड़ों वर्षों की एक तरह से वह आलीशान मसजिद एक ऐसी निशानी बन गई, जिस पर दूर-दूर से निगाहें आकर टकराती थीं और बड़े-बड़े मनसूबे गाँठती थीं। उन्नीसवीं सदी में तुर्की साम्राज्य कमज़ोर हो रहा था और रूस बढ़ रहा था। रूस इतना बड़ा देश होते हुए भी एक बन्द देश था। उसके साम्राज्य भर में कोई ऐसा खुला बन्दरगाह नहीं था जो सर्दियो में बर्फ से खाली रहे और काम आ सके, इसलिए वह कुस्तुन्तुनिया की ओर लोभभरी आँखों से देखता था। इससे भी अधिक आकर्षण आध्यात्मिक और सांस्कृतिक था। रूस के ज़ार (सम्राट्) अपने को पूर्वी रोमन सम्राटों के वारिस समझते थे, और उनकी पुरानी राजधानी को अपने क़ब्ज़े में लाना चाहते थे। दोनो का मज़हब वही आर्थोडाक्स ग्रीक चर्च था, जिसका नामी गिरजा सेंट-सोफ़िया था। रूस को यह असह्य था कि उसके धर्म का सबसे पुराना और प्रतिष्ठित गिरजा मसजिद बना रहे। उसके ऊपर जो इस्लाम की निशानी हिलाल या अर्द्ध-चन्द्र था, उसके बजाय ग्रीक क्रास होना चाहिए।

धीरे-धीरे उन्नीसवीं सदी मे ज़ारों का रूस कुस्तुन्तुनिया की ओर बढ़ता गया। जब करीब आने लगा, तब यूरोप की और शक्तियाँ घबराईं। इंगलैंड और फ्रांस ने रुकावटें डालीं, लड़ाई हुई, रूस कुछ रुका। लेकिन फिर वही कोशिश जारी हो गई, फिर वही राजनीतिक पेंच चलने लगे। आख़िरकार सन् १९१४ की बड़ी लड़ाई आरम्भ हुई, और उसमे इंगलैंड, फ्रांस, रूस और इटली में खुफिया समझौते हुए। दुनिया के सामने तो ऊँचे सिद्धान्त रखे गये आज़ादी के और छोटे देशों की स्वतन्त्रता के; लेकिन परदे के पीछे गिद्धों की तरह लाश के इन्तज़ार मे उसके बँटवारे के मनसूबे निश्चित किये गये।

पर यह मनसूबे भी पूरे नहीं हुए। उस लाश के मिलने के पहले

ज़ारों का रूस ही ख़तम हो गया। वहाँ क्रांति हुई, और हुकूमत और समाज दोनों का ही उलटफेर हो गया। बोल्शेविकों ने तमाम पुराने खुफिया समझौते प्रकाशित कर दिये, यह दिखाने को कि यह यूरोप की बड़ी-बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियाँ कितनी धोकेबाज़ हैं। साथ ही इस बात की घोषणा की कि वे (बोल्शेविक) साम्राज्यवाद के विरुद्ध हैं, और किसी दूसरे देश पर अपना अधिकार नहीं जमाया चाहते। हर एक जाति को स्वतन्त्र रहने का अधिकार है।

यह सफाई और नेकनीयती पश्चिम की विजयी शक्तियों को पसंद नही आई। उनकी राय में खुफिया सन्धियों का ढिंढोरा पीटना शराफत की निशानी नहीं थी। खैर, अगर रूस की नई हुकूमत नालायक है, तो कोई वजह न थी कि वे अपने अच्छे शिकार से हाथ धो बैठे। उन्होंने—ख़ासकर अंग्रेज़ों ने—कुस्तुन्तुनिया पर क़ब्ज़ा किया। ४८६ वर्ष बाद इस पुराने शहर की हुकूमत इस्लामी हाथों से निकलकर फिर ईसाई हाथों में आई। सुलतान-ख़लीफा ज़रूर मौजूद थे, लेकिन वे एक गुडूडे की भाँति थे; जिधर मोड़ दिये जायँ, उधर ही घूम जाते थे। आया सुफीया भी हस्बमामूल खड़ी थी और मसज्दि थी; लेकिन उसकी वह शान कहाँ, जो आजाद वक्त मे थी, जब स्वयं सुलतान उसमें जुमे को नमाज़ पढ़ने जाते थे!

सुलतान ने सिर झुकाया, ख़लीफा ने ग़ुलामी तसलीम की; लेकिन चन्द तुर्क ऐसे थे, जिनको यह स्वीकार न था। उनमे से एक मुस्तफा कमाल था, जिसने ग़ुलामी से बग़ावत को बेहतर समझा।

इस अरसे मे कुस्तुन्तुनिया के एक और वारिस और हकदार पैदा हुए—ये ग्रीक लोग थे। लड़ाई के बाद ग्रीस को मुफ्त मे बहुत सी ज़मीन मिली, और वह पुराने पूर्वी रोमन साम्राज्य का स्वप्न देखने लगा। अभी तक रूस रास्ते में था, और तुर्की तो मौजूद ही था। अब रूस

मुकाबले से हट गया, और तुर्क लोग हारते हुए परेशान पड़े हुए थे। रास्ता साफ़ मालूम होता था। इंगलैंड और फ्रांस के बड़े आदमियों को भी राज़ी कर लिया गया, फिर दिक्कत क्या ?

लेकिन एक बड़ी कठिनाई थी। वह कठिनाई थी मुस्तफ़ा कमाल-पाशा। उसने ग्रीक हमले का मुकाबिला किया और अपने देश से ग्रीक फ़ौजों को बुरी तरह हराकर निकाला। उसने सुलतान ख़लीफ़ा को, जिसने अपने मुल्क के दुश्मनों का साथ दिया था, एक गद्दार (देशद्रोही) कहकर निकाल दिया। उसने मुल्क से सल्तनत और खिलाफत दोनों का सिलसिला ही मिटा दिया। उसने अपने गिरे और थके हुए मुल्क को हज़ार कठिनाइयों और दुश्मनों के सामने खड़ा किया और उसमें फिर नई जान फूँक दी। उसने सबसे बड़े परिवर्तन धार्मिक और सामाजिक किये। स्त्रियों को परदे के बाहर खींचकर जाति में सबसे आगे रखा। उसने धर्म के नाम पर कट्टरपने को दबा दिया और सिर नहीं उठाने दिया। उसने सबमें नई तालीम फैलाई—हज़ार वर्ष पुराने रिवाजों और तरीक़ों को ख़तम किया।

पुरानी राजधानी कुस्तुन्तुनिया को भी उसने इस पदवी से उतार दिया। डेढ़ हजार वर्ष में वह दो बड़े साम्राज्यों की राजधानी रही थी। अब राजधानी एशिया में अंगोरा नगर हो गया—एक छोटा सा शहर लेकिन तुर्कों की नई शक्ति का एक नमूना। कुस्तुन्तुनिया का नाम भी बदल गया—वह इस्ताम्बूल हो गया।

और आया सूफिया ? उसका क्या हशर हुआ ? वह चौदह सौ वर्ष की इमारत इस्ताम्बूल में खड़ी है, और जिन्दगी के ऊँच-नीच को देखती जाती है। नौ सौ वर्ष तक उसने ग्रीक धार्मिक गाने सुने और अनेक सुगंधियों को, जो ग्रीक पूजा में रहती हैं, सूँघा। फिर चार सौ अस्सी

वर्ष तक अरबी अजान की आवाज़ उसके कानों में आई और नमाज पढ़नेवालों की कतारें उसके पत्थरों पर खड़ी हुईं।

और अब ?

एक दिन कुछ महीनों की बात है,—इसी साल १९३५ में गाज़ी मुस्तफा कमालपाशा (जिनको अब ख़ास ख़िताब और नाम आता तुर्क का दिया गया है) के हुक्मसे आया सूफ़िया मसजिद नहीं रही। बगैर किसी धूम-धाम के वहाँ के होजा लोग (मुसलिम मुल्ला वगैरह) हटा दिये गये और अन्य मसजिदों में भेज दिये गये। अब यह तय हुआ कि आया सूफ़िया बजाय मसजिद के एक म्यूज़ियम (संग्रहालय) हो—ख़ासकर बाइजेन्टाइन कलाओं का। बाइजेन्टाइन ज़माना तुर्कों के आने के पहले का ईसाई ज़माना था। तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर कब्ज़ा १४५२ ई० में किया था। उस समय से समझा जाता है कि बाइजेन्टाइन कला खतम हो गई, इसलिए अब आया सूफिया एक प्रकार से फिर ईसाई ज़माने को वापस चली गई—मुस्तफ़ा कमाल के हुक्म से !

आजकल वहाँ ज़ोरों की खुदाई हो रही है। जहाँ-जहाँ मिट्टी जम गई थी, हटाई जा रही है, और पुराने मोज़ाइक्स निकल रहे हैं। बाइ-जेन्टाइन कला के जाननेवाले अमेरिका और जर्मनी से बुलाये गये है, और उन्हीं की निगरानी में काम हो रहा है। फाटक पर संग्रहालय की तख़्ती लटकती है, और दरबान बैठा है। उसको आप अपना छाता छड़ी दीजिए, उनका टिकट लीजिए और अंदर जाकर इस प्रसिद्ध पुरानी कला के नमूने देखिये। और देखते देखते इस संसार के विचित्र इतिहास पर विचार कीजिए; अपने दिमाग़ को हजारों वर्ष आगे-पीछे दौड़ाइए; क्या क्या तसवीरें, क्या क्या तमाशे, क्या क्या जुल्म, क्या क्या अत्याचार आपके सामने आते है। उन दीवारों से कहिये कि वे आपको अपनी कहानी सुनावें, अपने तजरुबे आपको दे दे। शायद कल और

परसों जो गुज़र गये, उन पर ग़ौर करने से हम आज को समझें; शायद भविष्य के परदे को भी हटा कर हम झाँक सकें।

लेकिन वे पत्थर और दीवारें खामोश हैं। उन्होंने एतवार की ईसाई पूजा बहुत देखीं और बहुत देखीं जुमे की नमाजें। अब हर दिन की नुमाइश है उनके साये में। दुनिया बदलती रही; लेकिन वे कायम हैं। उनके घिसे हुए चेहरे पर कुछ हल्की मुसकराहट सी मालूम होती है, और धीमी आवाज़ सी कानों में आती है—'इन्सान भी कितना बेवक़फ़ और जाहिल है कि वह हज़ारों वर्ष के तजरुबे से नहीं सीखता और बार बार वही हिमाकतें करता है।'

दो मसजिदें

प्रतिभा, श्रुत और अभ्यास के योग से सच्चा साहित्य उत्पन्न होता है। प्रतिभा प्रगट होती है संकल्पात्मक अनुभूति में, श्रुत और अभ्यास पीछे उसे अभिव्यक्त करके संवेदनीय और व्यवहार्य बनाते हैं। वाल्मीकि ने एक शिकारी को शिकार करते देखा। वे ध्यानस्थ थे—हृदय की पवित्र भूमि में। उन्हें शोक हुआ पर उस शोक का संबंध उस एक शिकारी से नहीं था प्रत्युत उसका संबंध शिकारी मात्र से था। इसी से उन्हें संकल्पात्मक अनुभूति हुई। उसी अनुभूति को उनके विशाल 'श्रुत' और कला के अभ्यास ने महाकाव्य बना दिया—इतिहास की पाषाण मूर्ति को काव्य का दुकूल पहना दिया।

जवाहरलाल नेहरू स्वाधीनता का ध्यान कर रहे थे—हृदय की पवित्र भूमि में विचर रहे थे। देखा कि सामने शहीदगंज मज़हबी शिकारियों का शिकार हो रहा है। उन्हें एक वेदना हुई—संकल्पात्मक अनुभूति हुई। तीव्र अनुभूति ने उनकी शिक्षा और कला के ढाँचे में ढलकर एक निबंध का रूप पाया। इसमें उनकी बहुश्रुतता

का पूरा प्रमाण है। कैसे सरल और सीधे ढंग से उन्होने 'आया सोफिया' का इतिहास सुना दिया है। इस निबध की शैली और भाषा जैसी स्वाभाविक, सरल, सौम्य और भावों के साथ बहनेवाली है उसीसे लेखन कला का अभ्यास ज्ञात पड़ जाता है। वर्णन तो ऐसा अद्भुत है कि आया सोफिया के पत्थर भी सजीव होकर बोल उठे है। सच्ची बात तो यह है कि यह दो मस्जिदो का नहीं—दो मनोभावों का वर्णन है। और वह भी हृदय की कलम से लिखा गया है।

अन्तिम वाक्य में समस्त निबन्ध को अन्तरात्मा का निचोड़ है। कोई कलाकार कदाचित् उसे स्वतः ध्वनित होने के लिए छोड़ देता और इससे अधिक मार्मिक शब्दों में उपसहार उपस्थित करता पर स्पष्ट वक्ता लेखक ने सब कुछ जो उसे कहना था—कह दिया।

इस ऐतिहासिक कहानी में निबध के सभी गुण विद्यमान हैं। ज्ञातव्य और विचारणीय बाते भरी पड़ी हैं। कहने का ढंग अनूठा है। भाषा नमूने की हिन्दुस्तानी है। व्यंग्य शुरू से आखीर तक हँस रहा है। सोफिया की पूरी कहानी तो व्यञ्जक है ही 'लाश के मिलने के पहले' 'शराफत की निशानी' 'बगैर किसी धूमधाम के' 'हर दिन की नुमाइश' आदि के समान न जाने कितने शब्दों मे से हृदय की उबाल निकल रही है। लेखक का आत्मीय राग तो कोई अनाड़ी भी सुन सकता है। यह निबंध उनकी आत्मकथा का एक टुकड़ा सा लगता है। और निबध का सबसे बड़ा लक्षण जो प्रभाव है उसकी भी इसमें कमी नहीं।

'ऊँह'

ईश्वर इस 'ऊँह' से बचाए। जिसकी ज़बान पर आया, उसको तबाह किया; जिस घर में घुसा, उसका सत्यानाश किया और जिस राष्ट्र में फैला, उसमें गधे के हल चलवा दिये। सबूत चाहिए तो संसार का इतिहास उठा कर देख लो, इस 'ऊँह' ने संसार के क्या-क्या रंग बदले हैं। जनरल 'ग्रूश' को नैपोलियन आज्ञा देता है कि अंग्रेज़ों की फौज के पीछे अभी पहुँच जाओ और पौ फटने से पहिले उसके पृष्ठभाग पर दबाव डालो। सामने से मैं आक्रमण करता हूँ। 'ब्लूशर' के आने से पहिले इस फ़ौज को रगड़ डालेंगे। जनरल 'ग्रूश' 'ऊँह' कर देता है। सबेरे नौ बजे 'ब्रेकफास्ट' (प्रातराश) से फ़ारिग होकर रवाना होता है। 'वाटरलू' की लड़ाई न सिर्फ यूरोप का, बल्कि सारी दुनियाँ का नक़शा बदल देती है।

हिन्दोस्तान मे भी 'ऊँह' का कुछ कम ज़ोर नहीं रहा है। नादिर-शाह चढ़ा चला आ रहा है। मोहम्मद शाह बादशाह रंगरेलियाँ मना

रहे हैं, पता लगता है कि नादिर लाहौर तक आ गया। बादशाह सलामत 'ऊँह' कर देते हैं। लीजिए, इनकी एक 'ऊँह' से दिल्ली लुट जाती है, खजाना खाली हो जाता है।

मरहठे बढ़ते आ रहे हैं। दिल्ली पर कब्ज़ा करके 'गंजपुरा' लूट लेते हैं। अहमदशाह अबदाली को ख़बर होती है। वह बदला लेने चलता है। 'होलकर' और 'सेंधिया' दोनों मिलकर 'भाऊ' को समझाते हैं कि तोपखाना यहीं छोड़ दो, हलके फुलके होकर मुकाबला करो। आमने-सामने की लड़ाई 'अबदाली' से मुश्किल है। 'भाऊ' 'ऊँह' कर देता है। इस 'ऊँह' का नतीजा यह निकलता है कि हिन्दोस्तान की सल्तनत का जो ख़याल मरहठों का था, वह पानीपत की लड़ाई से स्वप्न हो जाता है।

पहले तो जो कुछ था, वह था; आजकल इस 'ऊँह' का बड़ा ज़ोरजोरा है। यही वजह है कि यहाँ के इन्तज़ाम का ऊँट किसी करवट नहीं बैठता, उधर प्रजा की माँग-पुकार पर गवर्नमेंट ने 'ऊँह' की और इधर इस 'ऊँह' का जवाब बम से मिला। ज़रा गवर्नमेंट के शासन पर प्रजा ने 'ऊँह' की, और इस 'ऊँह' पर मशीनगन की गोलियाँ बरस गईं। प्रजा की हालत देखो तो यहाँ भी इस 'ऊँह' के नतीजे मौजूद हैं। मुसलमान-मुसलमान में झगड़ा, हिन्दू-हिन्दू में झगड़ा, हिन्दू-मुसलमान में झगड़ा, उत्तर-दक्खिन में झगड़ा, पूरब-पश्चिम में झगड़ा, यहाँ तक कि ज़मीन-आसमान में झगड़ा। अगर यहाँ 'ऊँह' का कुछ अरसे यों ही ज़ोर रहा, तो 'स्वराज्य' मिलना क्या 'गुलामी' भी नसीब होनी मुश्किल है।

देश के बाद अब सभाओं की दशा देखो, तो वहाँ भी यही रङ्ग दिखाई देगा। मेम्बर हैं कि बने ठने गद्देदार कुर्सियों पर विराजमान हैं। स्पीकर (वक्ता) जोश में बहकर कहीं से कहीं निकले जा रहे हैं। मेम्बरों ने थोड़ी देर यह असम्बद्ध भाषण सुना और 'ऊँह' कहकर आँखें बन्द कर लीं। लीजिए, इनके लिए तो सभा की कार्रवाई

समाप्त हो गई। जो सदस्य जरा आँखें खोले बैठे हैं, वे ब्लाटिंग पर फूल-पत्ते या गधे और आदमियों के चित्र बना रहे हैं। कोई इन भले आदमियों से पूछे कि महाशय; यहाँ आप सोने और चित्र बनाने आये हैं, या राष्ट्र के लिए कुछ काम करने ? वोट लेने का वक्त आया और उन्होंने बेसोचे-समझे पक्ष या विपक्ष में हाथ उठा दिये। उनको न यह मालूम करने की जरूरत की इस विषय पर क्या विवाद हुआ और न यह जानने की आवश्यकता कि परिस्थिति के अनुसार समर्थन करना चाहिये या विरोध। यह तो सिर्फ 'ऊँह' करने और हाथ उठाने आये थे। इस कर्तव्य को पूरा कर दिया। अब सभा वाले जानें, उनका काम जाने। सभा की समाप्ति पर इन लोगों से पूछो तो निःसन्देह नब्बे फी-सदी 'ऊँह' से जवाब देंगे, जिसका अर्थ यह हुआ कि सभा व्यर्थ, वक्ता बेवकूफ और सुननेवाले गधे !

विद्यार्थियों को देखो, तो 'ऊँह' का ज़ोर सबसे अधिक इन्हीं मे पाओगे। साल-भर खेल-कूद में गँवा दिया। परीक्षा का समय आया, तो 'ऊँह' कर दी, यानी कल से पढ़ेंगे, आख़िर यह 'ऊँह' यहाँ तक खींचा कि परीक्षा आ गई। फेल हुए। फेल होने पर भी 'ऊँह' कर दी। यह 'ऊँह' बहुत ही सारगर्भित है। इसका एक अर्थ तो यह है कि बाप जीते हैं, खाने-पीने और उड़ाने को मुफ्त मिलता है। अगर वह भी मर गये तो जायदाद मौजूद है। कर्ज़ा देने को साहूकार तय्यार हैं। फिर पढ़-लिखकर अपना समय क्यों नष्ट करें। दूसरा मतलब यह कि अभी हमारी उम्र ही क्या है, सिर्फ अठारह वर्ष की है। अगर मिडिल के इम्तहान मे दो चार बार फेल ही हो चुके, तो क्या हर्ज है ? तीस साल की उम्र तक भी इन्ट्रेन्स पास कर लिया, तो सिफारिश के बल पर कहीं-न-कहीं चिपक ही जायँगे, या कम से कम विलायत जाने का कर्ज़ा तो ज़रूर मिल जायगा, और जरा कोशिश की तो बाद में माफ भी हो सकेगा।

इस फेल होने पर इधर इन्होंने 'ऊँह' की और उधर माँ-बाप ने 'ऊँह' की। इस दशा में माँ और बाप की 'ऊँह' का दूसरा अभिप्राय है, अर्थात् यह कि 'बच्चा' अभी फेल हुआ है, दिल टूटा हुआ है। जरा कुछ कहा तो कहीं ऐसा न हो कि रो रोकर जान हलाकान कर ले या कहीं जाकर डूब मरे। बस, इस 'ऊँह' ने 'साहबजादे' की शिक्षा की इति श्री कर दी।

घरवाली की 'ऊँह' सबसे ज्यादा भयानक होती है। किसी दासी पर रुष्ट हो रही हैं। वह बराबर जवाब दिये जाती है। यह 'ऊँह' करके चुप हो जाती हैं। लीजिए, नौकर शेर हो गये। घर का सारा प्रबंध अस्त-व्यस्त, इनके अधिकार छिन गये। घर के शासन का सूत्र नौकरों के हाथ में चला गया। कोई चीज चोरी हो गई। घर की मालिकिन ने इधर उधर ढूंढ़ा। कुछ थोड़ा बहुत हल्ला भी मचाया। आखिर 'ऊँह' करके बैठ गई। अब क्या है ? पिटारी में से कत्था छालियाँ गायब, कैसबक्स में से रुपये पैसे गायब, संदूकों में से कपड़े गायब, शनैः शनैः सारे घर का सफाया हो गया। बच्चों ने कोयलों से दीवारों पर लकीरें खींचीं, दरवाजों पर पेन्सिल से कीड़े-मकोड़े बनाए। पहले तो श्रीमती जी कुछ थोड़ी बहुत बिगड़ीं, फिर 'ऊँह' करके चुप हो गईं। अब जाकर देखो, तो थोड़े दिनों में सारा मकान भाँति भाँति की चित्रकारी से 'अजन्ता की गुफाओं' को मात कर रहा है !

अब रहे स्वामी, सो इनकी 'ऊँह' सबसे ज्यादा तेज है। श्रीमती जी किसी बात पर बिगड़ीं, यह 'ऊँह' करके बाहर चले गए। अब न तो इनकी कोई प्रतिष्ठा नौकरों में रही और न श्रीमती की दृष्टि में। रसोई बनानेवाली ने पंद्रह दिन में दस रुपये की लकड़ियाँ जला दीं। मालिक को क्रोध आया और क्यों न आता, परिश्रम की कमाई इस तरह जलती देख कर क्यों दिल न जले। कुछ बड़बड़ाए, घरवाली की तरफ सहायता की दृष्टि से देखा। उन्होने 'ऊँह' कर दी। मिसरानी

जी (रोटी बनानेवाली) ने यह रंग देख दूसरे पखवाड़े में बीस रुपये की लकड़ियाँ फूँक दीं।

पर यह बात भी है कि दम्पति की यह 'ऊँह' कभी-कभी वह काम कर जाती है, जो चाणक्य जैसे नीति-निपुण मंत्री भी नहीं कर सकते। श्रीमती को क्रोध आया। पति ने 'ऊँह' कर दी। चलो लड़ाई का खातमा हुआ। पतिदेव किसी बात पर बिगड़े, देवीजी ने 'ऊँह' कर दी, उनका क्रोध शान्त हो गया। यदि 'ऊँह' की जगह जवाब दिया जाता, तो पतिदेव को घर छोड़ना और श्रीमती को अपने मायके जाना पड़ता। हिन्दुस्तान के बहुत से घराने इस 'ऊँह' ही ने बचा रखे हैं।

प्रत्येक विषय के दो पक्ष होते हैं, जय या पराजय, और इन दोनों दशाओं में 'ऊँह' हानिकारक सिद्ध होती है। पराजय पर जिसने 'ऊँह' की उसने मानो अपनी हार को हार ही न समझा। ऐसी दशा में वह अपनी दशा सुधारने की क्या चेष्टा करेगा ? जिसने विजय पर 'ऊँह' की, उसने मानो अपने साहस और पराक्रम की कद्र नहीं की। वह आज नहीं डूबा, तो कल डूबेगा। दुनियाँ में वे लोग कुछ कर सकते है, जो जीत को जीत और हार को हार समझें। अब रहे ये 'ऊँह' वाले जो बेपरवाही और उपेक्षा से विजय और पराजय को बराबर समझते है, जिनकी दृष्टि में हार और जीत में कोई भेद ही नहीं, उनका बस, ईश्वर ही मालिक है।

यह उचित प्रतीत होता है कि अन्त में इस 'ऊँह' के क्रमविकास पर भी कुछ प्रकाश डाला जाय, और यह बताया जाय कि यह पहले क्या था और क्या से क्या हो गया। हमलोग पुरुषार्थ रहित प्रारब्ध के अनुयायी हो गए है, और इस प्रारब्धवाद से हमको यह लाभ हुआ कि कोई जिम्मेदारी या उत्तरदायित्व हम पर बाकी नहीं रहा, इसलिए हमारी कोशिश हमेशा यह रही है कि इस भोगवाद या प्रारब्ध के

जितने विभाग बढ़ाए जा सकें, उतने बढ़ा दें। पहले हमने इस भोगवाद को संतोष, ईश्वर की मर्जी और निरीहता इन तीन सीढ़ियों तक पहुँ-चाया था, पर जब इससे भी हमारी तृप्ति न हुई, तो चौथा दर्जा 'ऊँह' का निकाला। भोगवाद के कैवल्य का यह अन्तिम सोपान है। हमारे साहस की प्रशंसा करनी चाहिए कि हम इस आखिरी सीढ़ी को भी तय कर चुके हैं। अगर ज़माने की यही हालत रही, तो थोड़े दिनों में इस 'ऊँह' से भी कोई ऊँचा स्थान ढूँढकर वहाँ पहुँचने की कोशिश करेंगे, और ईश्वर ने चाहा, तो सफल होंगे।

मेरी ओर से कोई हिन्दुस्तान के लीडरों को सुना दे कि स्वराज्य प्राप्त करना है, तो पहले अपने भाइयों में से इस 'ऊँह' को निकालो। यह कर सके, तो हिन्दुस्तान ही क्या सारा संसार तुम्हारा है। यह नहीं हो सकता, तो व्यर्थ चीख़-चीख़ कर क्यों अपना गला फाड़ते हो। हम 'ऊँह' कर देंगे और तुम चीख़ते-चीख़ते मर जाओगे।

"ऊँह"

जब कवि अपने हृदय में लगी हुई कोई भी बात कहता है—चाहे वह नीति की हो अथवा कुनीति की हो, बुद्धि की हो अथवा हृदय की—वह काव्य बन जाती है। 'ऊँह' भी ऐसी ही कवि के हृदय में लगी हुई बात है। यद्यपि उसमें आदि से अन्त तक खुला उपदेश भरा है तथापि उसका जन्म कवि-हृदय से हुआ है इससे वह पाठक के हृदय में घर कर जाती है। यदि हृदयस्पर्शिता काव्य की कसौटी है तो 'ऊँह' अवश्य ऊँचा साहित्य है—वर्गीकर्त्ता आलोचक चाहे उसे प्रयुक्त साहित्य कहें अथवा शुद्ध। साहित्य के तीनों गुण उसमें हैं—वस्तु, रीति और हृदय छूने की शक्ति। साहित्य में 'ऊँह' का नाम सुनकर पाठक भी ऊँह कर देता है। निबंध का नाम है 'ऊँह'। सुनते ही विद्यार्थी भी ऊँह कर देता है। पर जब कवि इतिहास, समाज, परिवार आदि के अनुभव से रँगे हुए चित्र दिखाता है तो हर एक का मन 'ऊँह' की ओर दौड़ने लगता है। इस निबंध में एक से एक बढ़कर दस चित्र खींचे गए हैं। पीछे से उस्ताद ने ज्ञान भी गुथा है। यह भी भोले चित्रकार के लिए स्वाभाविक है। इसीसे

उसमें भी व्यग्य और विनोद की एक धीमी ध्वनि है। अन्त में तो लेखक ने लिखा है कि अपने भाइयों में से ऊँह को निकालो। पर उसकी भाषा और शैली कहती है कि वह स्वयं ऊँह की झाँकी पर ऐसा दीवाना है कि उसके भविष्य का स्वप्न देख रहा है। 'हम ऊँह कह देंगे और तुम चीखते-चीखते मर जावोगे'। यह उपदेश नहीं, चित्र है, इसीसे तो प्यारा लगता है।

एक निबंध में इस चित्र-शैली ने न जाने कितनी स्वतंत्र कहानियाँ अंकित कर दी हैं। नेपोलियन और नादिर की ही नही, हमारी मधुर गृहस्थी की रंगीन कहानियाँ भी। मुहाविरेदार हिन्दुस्तानी ऐसी ज़िन्दादिल है कि एक बार पढना शुरू कर देने पर पढ़नेवाला कभी 'ऊँह' नहीं कर सकता।

और हृदय छूने की शक्ति तो इसमें है ही, नहीं तो इस नीतिमय निबंध को उर्दू से हिन्दी में उल्था करने की जरूरत क्या थी, इसको साहित्य के क्षेत्र में स्थान देने की आवश्यकता क्या थी। इसकी हृदयग्राहिता और सर्वप्रियता ही तो इसका सर्वस्व है। एक बात और है पौरुषेय निबन्ध के सभी गुण इसमें हैं। आदि से अन्त तक इसमें वक्ता की मधुर वाणी सुन पड़ती है। आत्मीय राग के सामने विषय और विचार गौण हो गये हैं। शीर्षक का विस्मयबोधक नाम भी इसका सबूत है। देशकाल की छाया रहने पर भी इसमें प्रभाव की गंभीरता और स्थिरता है, यह सामयिक नहीं स्थायी साहित्य है।

गुण्डा

१

वह पचास वर्ष से ऊपर था। तब भी युवकों से अधिक बलिष्ठ और दृढ़ था। चमड़े पर झुर्रियाँ नहीं पड़ी थीं। वर्षा की झड़ी में, पूस की रातों में, कड़कती हुई जेठ की धूप में, नंगे शरीर घूमने में वह सुख मानता था। उसकी चढ़ी मूँछें बिच्छू के डंक की तरह, देखनेवालों की आँखों में चुभती थीं। उसका साँवला रङ्ग, साँप की तरह चिकना और चमकीला था। उसकी नागपुरी धोती का लाल रेशमी किनारा दूर से भी ध्यान आकर्षित करता। कमर में बनारसी सेल्हे का फेंटा, जिसमें सीप की मूठ का बिछुआ खुँसा रहता। उसके घुँघराले बालों पर सुनहले पल्ले के साफे का छोर उसकी चौड़ी पीठ पर फैला रहता। ऊँचे कन्धे पर टिका हुआ चौड़ी धार का गँड़ासा, यह थी उसकी धज! पञ्जों के बल जब वह चलता, तो उसकी नसें चटाचट बोलती थीं। वह गुण्डा था।

ईसा की अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में वही काशी नहीं रह गई थी, जिसमे उपनिषद् के अजातशत्रु की परिषद् में ब्रह्मविद्या सीखने के लिये विद्वान् ब्रह्मचारी आते थे। गौतम बुद्ध और शंकराचार्य के

धर्म-दर्शन के वाद-विवाद, कई शताब्दियों से लगातार मन्दिरों और मठों के ध्वंस और तपस्वियों के वध के कारण प्रायः बन्द-से हो गये थे। यहाँ तक कि पवित्रता और छूआछूत में कट्टर वैष्णव-धर्म भी उस विच्छृंखलता में, नवागन्तुक धर्मोन्माद में, अपनी असफलता देखकर काशी में अघोर रूप धारण कर रहा था। उसी समय समस्त न्याय और बुद्धिवाद को शस्त्र-बल के सामने झुकते देखकर, काशी के विच्छिन्न और निराश नागरिक जीवन ने, एक नवीन सम्प्रदाय की सृष्टि की। वीरता जिसका धर्म था। अपनी बात पर मिटना, सिंह वृत्ति से जीविका ग्रहण करना, प्राणभिक्षा माँगनेवाले कायरों तथा चोट खाकर गिरे हुए प्रति-द्वन्द्वी पर शस्त्र न उठाना, सताये हुए निर्बलों को सहायता देना और प्रत्येक क्षण प्राणों को हथेली पर लिए घूमना, उनका बाना था। उन्हें लोग काशी में गुण्डा कहते थे।

जीवन की किसी अलभ्य अभिलाषा से वञ्चित होकर जैसे प्रायः लोग विरक्त हो जाते हैं, ठीक उसी तरह किसी मानसिक चोट से घायल होकर, एक प्रतिष्ठित जमींदार का पुत्र होने पर भी नन्हकूसिंह ने बहुत सा रुपया खर्च करके जैसा स्वाँग खेला था, उसे काशी वाले बहुत दिनों तक नहीं भूल सके। वसन्त ऋतु में यह प्रहसन-पूर्ण अभिनय खेलने के लिये उन दिनों प्रचुर धन, बल, निर्भीकता और उच्छृङ्खलता की आवश्यकता होती थी। एक बार नन्हकूसिंह ने भी एक पैर में नूपुर, एक हाथ में तोड़ा, एक आँख में काजल, एक कान में हजारों के मोती तथा दूसरे कान में फटे हुए जूते का पल्ला लटका कर, एक हाथ में जड़ाऊ मूठ की तलवार, दूसरा हाथ भूषणों से लदी हुई अभिनय करनेवाली प्रेमिका के कन्धे पर रखकर गाया था—

'कहीं बैंगनवाली मिले तो बुला देना।'

प्रायः बनारस के बाहर की हरियालियों में, अच्छे पानी वाले कुओं पर, गङ्गा की धारा में मचलती हुई डोंगी पर, वह दिखलाई पड़ता था।

कभी-कभी जुआखाने से निकल कर जब वह चौक में आ जाता, तो काशी की रँगीली वेश्याएँ मुस्कराकर उसका स्वागत करतीं और उसके दृढ़ शरीर को सस्पृह देखतीं। वह तमोली की ही दूकान पर बैठकर उनके गीत सुनता, ऊपर कभी नहीं जाता था। जुए की जीत का रुपया मुट्ठियों में भर-भर कर, उनकी खिड़की में वह इस तरह उछालता कि कभी-कभी समाजी लोग अपना सिर सहलाने लगते, तब वह ठठाकर हँस देता। जब कभी लोग कोठे के ऊपर चलने के लिये कहते, तो वह उदासी की साँस खींचकर चुप हो जाता।

वह अभी बन्सी के जुआ-खाने से निकला था। आज उसकी कौड़ी ने उसका साथ न दिया। सोलह परियों के नृत्य में उसका मन न लगा। मन्नू तमोली की दूकान पर बैठते हुए उसने कहा—"आज सायत अच्छी नहीं रही मन्नू !"

"क्यों मालिक ! चिन्ता किस बात की है। हम लोग किस दिन के लिये हैं। सब आप ही का तो है।"

"अरे बुद्धू ही रहे तुम ! नन्हकूसिंह जिस दिन किसी से लेकर जुआ खेलने लगे, उसी दिन समझना वह मर गये। तुम जानते नहीं कि मैं जुआ खेलने कब जाता हूँ। जब मेरे पास एक पैसा नहीं रहता; उस दिन नाल पर पहुँचते ही जिधर बड़ी ढेरी रहती है उसी को बदता हूँ और फिर वही दाँव आता भी है। बाबा कीनाराम का यह वरदान है !"

"तब आज क्यों मालिक ?"

"पहिला दाँव तो आया ही, फिर दो-चार हाथ बदने पर सब निकल गया, तब भी लो, यह पाँच रुपये बचे है। एक रुपया तो पान के लिए रख लो और चार दे दो मलूकी कथक को कह दो कि दुलारी से गाने के लिए कह दे। हाँ वही एक गीत—विलमि विदेस रहे।"

नन्हकूसिंह की बात सुनते ही मलूकी, जो अभी गाँजे की चिलम

पर रखने के लिये अँगारा चूर कर रहा था, घबराकर उठ खड़ा हुआ। वह सीढ़ियों पर दौड़ता हुआ चढ़ गया। चिलम को देखता ही ऊपर चढ़ा, इसीलिए उसे चोट भी लगी; पर नन्हकूसिंह की भृकुटी देखने की शक्ति उसमें कहाँ। उसे नन्हकूसिंह की वह मूर्ति न भूली थी। जब इस पान की दूकान पर जुये-खाने से जीता हुआ, रुपये से भरा तोड़ा लिये वह बैठा था। दूर से बोधीसिंह की बारात का बाजा बजता हुआ आ रहा था। नन्हकू ने पूछा—"यह किसकी बारात है?"

"ठाकुर बोधीसिंह के लड़के की।"—मन्नू के इतना कहते ही नन्हकू के ओठ फड़कने लगे। उसने कहा—"मन्नू! यह नहीं हो सकता। आज इधर से बारात न जायगी। बोधीसिंह हमसे निपट कर तब बारात इधर से ले जा सकेंगे।"

मन्नू ने कहा—"तब मालिक मैं क्या करूँ?"

नन्हकू गड़ाँसा कंधे पर से और ऊँचा करके मलूकी से बोला "मलुकिया देखता है अभी, जा ठाकुर से कह दे, कि बाबू नन्हकूसिंह आज यहीं लगाने के लिए खड़े हैं। समझ कर आवें, लड़के की बारात है।"

मलुकिया काँपता हुआ ठाकुर बोधीसिंह के पास गया। बोधीसिंह और नन्हकू से पाँच वर्ष से सामना नहीं हुआ है। किसी दिन नाल पर कुछ बातों में ही कहा-सुनी होकर, बीच-बचाव हो गया था। फिर सामना नहीं हो सका था। आज नन्हकू जान पर खेलकर अकेले खड़ा है। बोधीसिंह भी उस आन को समझते थे। उन्होंने मलूकी से कहा जा बे, कह दे कि हमको क्या मालूम कि बाबू साहब वहाँ खड़े है। जब वह हैं ही, तो दो समधी जाने का क्या काम है। बोधीसिह लौट गये और मलूकी के कन्धे पर तोड़ा लाद कर बाजे के आगे नन्हकूसिंह बारात लेकर गये, ब्याह में जो कुछ लगा खर्च किया। ब्याह कराकर तब दूसरे दिन इसी दूकान तक आकर रुक गये। लड़के को और उसकी बारात को उसके घर भेज दिया।

मलूकी को भी दस रुपया मिला था उस दिन। फिर नन्हकूसिंह की बात सुनकर बैठे रहना और यम को न्योता देना एक ही बात थी। उसने जाकर दुलारी से कहा—हम ठेका लगा रहे हैं, तुम गाओ तब तक बल्लू सारंगीवाला पानी पीकर आता है।

'बाप रे! कोई आफत आई है क्या बाबू साहब? सलाम।'—कहकर दुलारी ने खिड़की से मुस्कराकर झाँका था कि नन्हकूसिंह उसके सलाम का जवाब देकर, दूसरे एक आनेवाले को देखने लगे।

हाथ में हरौती की पतली-सी छड़ी, आँखों में सुरमा, मुँह में पान, मेंहदी लगी हुई लाल दाढ़ी, जिसकी सफेद जड़ दिखलाई पड़ रही थीं, कुब्बेदार टोपी, छकलिया अँगरखा और साथ में लैसदार परतलेवाले दो सिपाही! कोई मौलवी साहब हैं। नन्हकू हँस पड़ा। नन्हकू की ओर बिना देखे ही मौलवी ने एक सिपाही से कहा—"दुलारी से कह दो कि आज रेजीडेण्ट साहब की कोठी पर मुजरा करना होगा, अभी चले, देखो तब तक हम जानअली से कुछ इत्र ले रहे हैं।"

सिपाही ऊपर चढ़ रहा था और मौलवी दूसरी ओर चले थे कि नन्हकू ने ललकार कर कहा—"दुलारी! हम कब तक यहाँ बैठे रहें! क्या अभी सारङ्गिया नहीं आया क्या?"

दुलारी ने कहा—"वाह बाबू साहब! आप ही के लिए तो मैं यहाँ आ बैठी हूँ। सुनिए न। आप तो कभी ऊपर······" मौलवी जल उठा। उसने कड़क कर कहा—"चोबदार! अभी वह सूअर की बच्ची उतरी नहीं। जाओ कोतवाल के पास मेरा नाम लेकर कहो कि मौलवी अलाउद्दीन कुबरा ने बुलाया है। आकर इसकी मरम्मत करे। देखता हूँ तो जब से नवाबी गई, इन काफिरों की मस्ती बढ़ गई है।"

कुबरा मौलवी! बापरे—तमोली अपनी दूकान सम्हालने लगा। पास ही एक दूकान पर बैठकर ऊँघता हुआ बजाज चौंक कर सिर मे

चोट खा गया। इसी मौलवी ने तो महाराज चेतसिंह से साढ़े तीन सेर चींटी के सिर का तेल माँगा था। मौलवी अलाउद्दीन कुबरा! बाजार में हलचल मच गई। नन्हकूसिंह ने मन्नू से कहा—"क्यों चुपचाप बैठोगे नहीं?"

दुलारी से कहा—"वहीं से बाई जी! इधर-उधर हिलने का काम नहीं। तुम गाओ। हमने ऐसे घसियारे बहुत से देखे हैं। अभी कल रमल के पासे फेंक कर अधेला-अधेला माँगता था, आज चला है रोब गाँठने।"

अब कुबरा ने घूमकर उसकी ओर देखकर कहा—"कौन है यह पाजी!"

"तुम्हारे चाचा बाबू नन्हकूसिंह!" के साथ ही पूरा बनारसी झापड़ पड़ा। कुबरा का सिर घूम गया। लैस के परतले-वाले सिपाही दूसरी ओर भाग चले और मौलवी साहब चौंधिया कर जानअली की दूकान पर लड़खड़ाते, गिरते-पड़ते, किसी तरह पहुँच गये।

जानअली ने मौलवी से कहा—"मौलवी साहब! भला आप उस गुण्डे के मुंह लगने गये। यह तो कहिए कि उसने गँड़ासा नहीं तौल दिया।" कुबरा के मुँह से बोली नहीं निकल रही थी। उधर दुलारी गा रही थी—'......विलमि विदेस रहे......' गाना पूरा हुआ, कोई आया गया नहीं। तब नन्हकूसिंह धीरे धीरे टहलता हुआ, दूसरी ओर चला गया। थोड़ी देर में एक डोली रेशमी परदे से ढँकी हुई आई। साथ में एक चोबदार था। उसने दुलारी को राजमाता पन्ना की आज्ञा सुनाई।

दुलारी चुपचाप डोली पर जा बैठी। डोली धूल और संध्या काल के धुएँ से भरी हुई बनारस की तङ्ग गलियों से होकर शिवालय घाट की ओर चली।

२

श्रावण का अन्तिम सोमवार था। राजमाता पन्ना शिवालय में बैठ-कर पूजन कर रही थीं। दुलारी बाहर बैठी कुछ अन्य गानेवालियों के साथ भजन गा रही थी। आरती हो जाने पर फूलों की अञ्जलि बिखेर कर पन्ना ने भक्ति-भाव से देवता के चरणों में प्रणाम किया। फिर प्रसाद लेकर आते ही उन्होंने दुलारी को देखा। उसने खड़ी होकर हाथ जोड़ते हुए कहा—"मैं पहले ही पहुँच जाती। क्या करूँ, वह कुबरा मौलवी निगोड़ा आकर रेजीडेएट की कोठी पर ले जाने लगा। घण्टों इसी झंझट में बीत गया सरकार!"

"कुबरा मौलवी! जहाँ सुनती हूँ उसी का नाम। सुना है कि उसने यहाँ भी आकर कुछ......"—फिर न जाने क्या सोच कर बात बदलते हुए पन्ना ने कहा—"हाँ, तब फिर क्या हुआ? तुम कैसे यहाँ आ सकी?"

"बाबू नन्हकूसिह उधर से आ गये। मैंने कहा—सरकार की पूजा पर मुझे भजन गाने को जाना है। और यह जाने नहीं दे रहा है। उन्होंने मौलवी को ऐसा झापड़ लगाया कि उसकी हेकड़ी भूल गई। और तब जाकर मुझे किसी तरह यहाँ आने की छुट्टी मिली।"

"कौन नन्हकूसिह?"

दुलारी ने सिर नीचा कर के कहा—"अरे क्या सरकार को नहीं मालूम? बाबू निरंजनसिह के लड़के! उस दिन, जब मैं बहुत छोटी थी, आपकी बारी मे झूला झूल रही थी, जब नवाब का हाथी बिगड़ कर आ गया था, बाबू निरंजनसिह के कुँवर ने ही तो उस दिन हम लोगों की रक्षा की थी।"

राजमाता का मुख उस प्राचीन घटना को स्मरण करके न जाने क्यो विवर्ण हो गया। फिर अपने को सँभाल कर उन्होंने पूछा—"तो बाबू नन्हकूसिह उधर कैसे आ गये?"

दुलारी ने मुस्कराकर सिर नीचा कर लिया। दुलारी राज-माता पन्ना के पिता के जमींदारी में रहनेवाली वेश्या की लड़की थी। उसके साथ ही कितनी बार झूले हिंडोले अपने बचपन में पन्ना झूल चुकी थी। वह बचपन से ही गाने में सुरीली थी। सुंदरी होने पर चंचल भी थी। पन्ना जब काशिराज की माता थीं तब दुलारी काशी की प्रसिद्ध गानेवाली थी। राजमहल में उसका गाना-बजाना हुआ ही करता। महाराज बलवन्तसिंह के समय से ही संगीत पन्ना के जीवन का आवश्यक अंग था। हाँ, तब प्रेम दुःख और दर्द-भरी विरह कल्पना के गीत की ओर अधिक रुचि थी। अब सात्विक भावपूर्ण भजन होता था। राजमाता पन्ना का वैधव्य से दीप्त शान्त मुख-मंडल कुछ मलिन हो गया।

बड़ी रानी की सापत्न्य-ज्वाला बलवन्तसिंह के मर जाने पर भी नहीं बुझी। अन्तःपुर कलह का रंगमंच बना रहता, इसी से प्रायः पन्ना काशी के राजमंदिर में आकर पूजा-पाठ में अपना मन लगातीं। रामनगर में उनको चैन नहीं मिलता। नई रानी होने के कारण बलवन्तसिंह की प्रेयसी होने का गौरव तो उन्हें था ही, साथ में पुत्र उत्पन्न करने का सौभाग्य भी मिला, फिर भी असवर्णता का सामाजिक दोष उनके हृदय को व्यथित किया करता। उन्हें अपने ब्याह की आरम्भिक चर्चा का स्मरण हो आया।

छोटे से मंच पर बैठी, गंगा की उमड़ती हुई धारा को पन्ना अन्यमनस्क होकर देखने लगीं। उस बात को, जो अतीत में एक बार, हाथ से अनजान में खिसक जानेवाली वस्तु की तरह गुप्त हो गयी हो, सोचने का कोई कारण नहीं। उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं; परन्तु मानव-स्वभाव हिसाब रखने की प्रथा के अनुसार कभी-कभी कह ही बैठता है कि "यदि वह बात हो गई होती तो" ठीक उसी तरह पन्ना भी राजा बलवन्तसिंह द्वारा बलपूर्वक रानी बनाई जाने के पहले की एक संभावना को सोचने लगी थीं, सो भी बाबू नन्हकूसिंह का नाम सुन लेने पर।

गेंदा मुँहलगी दासी थी। वह पन्ना के साथ उसी दिन से है, जिस दिन से पन्ना बलवन्तसिंह की प्रेयसी हुई। राज्य-भर का अनुसन्धान उसी के द्वारा मिला करता। और उसे न जाने कितनी जानकारी भी थी। उसने दुलारी का रंग उखाड़ने के लिये कुछ कहना आवश्यक समझा।

"महारानी! नन्हकूसिंह अपनी सब जमींदारी स्वाँग, भैंसों की लड़ाई, घुड़दौड़ और गाने-बजाने में उड़ाकर अब डाकू हो गया है। जितने खून होते हैं, सब में उसी का हाथ रहता है। जितनी......" उसे रोक कर दुलारी ने कहा—"यह झूठ है। बाबू साहब के ऐसा धर्मात्मा तो कोई है ही नहीं। कितनी विधवाएँ उनकी दी हुई धोती से अपना तन ढँकती हैं। कितनी लड़कियों की ब्याह-शादी होती है। कितने सताये हुए लोगों की उनके द्वारा रक्षा होती है।"

रानी पन्ना के हृदय में एक तरलता उद्वेलित हुई। उन्होंने हँसकर कहा—"दुलारी, वे तेरे यहाँ आते है न? इसी से तू उनकी बड़ाई...।"

"नहीं सरकार! शपथ खाकर कह सकती हूँ कि बाबू नन्हकूसिंह ने आज तक कभी मेरे कोठे पर पैर नहीं रखा।"

राजमाता न जाने क्यों इस अद्भुत व्यक्ति को समझने के लिए चञ्चल हो उठी थीं। तब भी उन्होंने दुलारी को आगे कुछ न कहने के लिए तीखी दृष्टि से देखा। वह चुप हो गई। पहले पहर की शहनाई बजने लगी। दुलारी छुट्टी माँग कर डोली पर बैठ गई। तब गेंदा ने कहा—"सरकार! आजकल नगर की दशा बड़ी बुरी है। दिनदहाड़े लोग लूट लिये जाते है। सैकड़ों जगह नाल पर जूए में लोग अपना सर्वस्व गँवाते हैं। बच्चे फुसलाये जाते हैं। गलियों में लाठियाँ और छुरे चलने के लिए टेढ़ी भौंहें कारण बन जाती है। इधर रेजीडेण्ट साहब से महाराज की अनबन चल रही है।" राजमाता चुप रहीं।

दूसरे दिन राजा चेतसिंह के पास रेजीडेण्ट मार्कहेण्ड की चिट्ठी

आई। जिसमें नगर की दुर्व्यवस्था की कड़ी आलोचना थी। डाकुओं और गुण्डों को पकड़ने के लिए, उन पर कड़ा नियन्त्रण रखने की सम्मति भी थी। कुबरा मौलवी वाली घटना का उल्लेख था। उधर हेस्टिंग्ज़ के आने की भी सूचना थी। शिवालय घाट और रामनगर में हलचल मच गई। कोतवाल हिम्मतसिंह पागल की तरह, जिसके हाथ में लाठी, लोहाँगी, गँड़ासा, बिछुआ या करौली देखते उसी को पकड़ने लगते।

एक दिन नन्हकूसिंह सुम्भा के नाले के संगम पर ऊँचे से टीले की घनी हरियाली में अपने चुने हुए साथियों के साथ दुधिया छान रहे थे। गंगा में उनकी पतली डोंगी बड़ की जटा से बँधी थी। कथकों का गाना हो रहा था। चार उलाँकी एक्के कसे-कसाये खड़े थे।

नन्हकूसिंह ने अकस्मात् कहा—"मलूकी! गाना जमता नहीं है। उलाँकी पर बैठ कर जाओ, दुलारी को बुला लाओ।" मलूकी वहाँ मजीरा बजा रहा था। दौड़ कर एक्के पर जा बैठा, आज नन्हकूसिंह का मन उखड़ा था। बूटी कई बार छानने पर भी नशा नहीं। एक घण्टे में दुलारी सामने आ गई। उसने मुस्कराकर पूछा—"क्या हुक्म है बाबू साहब!"

"दुलारी! आज गाना सुनने का मन हो रहा है।"

"इस जंगल में क्यों?" उसने सशंक हँसकर कुछ अभिप्राय से पूछा।

"तुम किसी तरह का खटका न करो।" नन्हकूसिंह ने हँस कर कहा।

"यह तो मैं उस दिन महारानी से भी कह आई।"

"क्या किससे?"

"राजमाता पन्ना देवी से"—फिर उस दिन गाना नहीं जमा। दुलारी ने आश्चर्य से देखा कि तानों में नन्हकूसिंह की आँखें तर हो जाती हैं।

गाना-बजाना समाप्त हो गया था। वर्षा की रात में झिल्लियों का स्वर उस झुरमुट में गूँज रहा था। मन्दिर के समीप ही छोटे से कमरे में नन्हकूसिह चिन्ता में निमग्न बैठा था। आँखों में नींद नहीं। और सब लोग तो सोने लगे थे, दुलारी जाग रही थी। वह भी कुछ सोच रही थी। आज उसे, अपने को रोकने के लिये कठिन प्रयत्न करना पड़ रहा था; किन्तु असफल होकर वह उठी और नन्हकूसिह के समीप धीरे-धीरे चली आई। कुछ आहट पाते ही चौंक कर नन्हकू ने पास ही पड़ी हुई तलवार उठा ली। तब हँस कर दुलारी ने कहा—"बाबू साहब! यह क्या? स्त्रियों पर भी तलवार चलाई जाती है?"

छोटे-से दीपक के प्रकाश में वासनाभरी रमणी का मुख देखकर नन्हकू हँस पड़ा। उसने कहा—"क्यों बाई जी! क्या इसी समय जाने की पड़ी है। मौलवी ने फिर बुलाया है क्या?" दुलारी नन्हकू के पास बैठ गई। नन्हकू ने कहा—"क्या तुमको डर लग रहा है?"

"नहीं, मैं कुछ पूछने आई हूँ।"

"क्या?"

"क्या,······यही कि···कभी तुम्हारे हृदय में···।"

"उसे न पूछो दुलारी! हृदय को बेकार ही समझ कर तो उसे हाथ में लिये फिर रहा हूँ। कोई कुछ कर देता—कुचलता—चीरता—उछालता! मर जाने के लिए सब कुछ तो करता हूँ; पर मरने नहीं पाता।"

"मरने के लिये भी कहीं खोजने जाना पड़ता है! आपको काशी का हाल क्या मालूम! न जाने घड़ी भर में क्या हो जाय। क्या उलट-पुलट होनेवाला है! बनारस की गलियाँ जैसे काटने दौड़ती है!"

"कोई नई बात इधर हुई है क्या?"

"कोई हेस्टिंग्ज साहब आया है। सुना है कि उसने शिवालय घाट पर तिलंगो की कम्पनी का पहरा बैठा दिया है। राजा चेतसिंह और

राजमाता पन्ना वहीं हैं। कोई-कोई कहता है कि उनको पकड़ कर कलकत्ता भेजने......"

"क्या पन्ना भी......रनवास भी वहीं है"—नन्हकू अधीर हो उठा था।

"क्यों बाबू साहब, आज रानी पन्ना का नाम सुन कर आपकी आँखों में आँसू क्यों आ गये?"

सहसा नन्हकू का मुख भयानक हो उठा। उसने कहा—"चुप रहो, तुम इसको जानकर क्या करोगी।" वह उठ खड़ा हुआ। उद्विग्न की तरह न जाने क्या खोजने लगा। फिर स्थिर होकर उसने कहा—"दुलारी! जीवन में आज यह पहला ही दिन है कि एकान्त रात में एक स्त्री मेरे पलँग पर आकर बैठ गई है। मैं चिरकुमार अपनी एक प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिये सैकड़ों असत्य अपराध करता फिर रहा हूँ। क्यों? तुम जानती हो? मैं स्त्रियों का घोर विद्रोही हूँ और पन्ना!...किन्तु उसका क्या अपराध! अत्याचारी बलवन्तसिंह के कलेजे मे बिछुआ मैं न उतार सका। किन्तु पन्ना! उसे पकड़कर गोरे कलकत्ते भेज देंगे। वही......।"

नन्हकूसिंह उन्मत्त हो उठा था। दुलारी ने देखा, नन्हकू अन्धकार में ही वट-वृक्ष के नीचे पहुँचा और गंगा की उमड़ती हुई धारा में डोंगी खोल दी—उसी घने अन्धकार में। दुलारी का हृदय काँप उठा।

३

१६ अगस्त सन् १७८१ को काशी डाँवाडोल हो रही थी। शिवालय घाट में राजा चेतसिंह लेफ्टिनेण्ट इस्टाकर के पहरे में थे। नगर में आतंक था। दूकानें बन्द थीं। घरों में बच्चे अपनी माँ से पूछते थे—"माँ, आज हलुए वाला नहीं आया।" वह कहती—"चुप बेटे!" सड़कें सूनी पड़ी थीं। तिलङ्गों की कम्पनी के आगे-आगे

कुबरा मौलवी कभी-कभी, आता-जाता दिखाई पड़ता था। उस समय खुली हुई खिड़कियाँ भी बन्द हो जाती थीं। भय और सन्नाटे का राज्य था। चौक में चिथरूसिंह की हवेली अपने भीतर काशी की वीरता को बंदी किये कोतवाली का अभिनय कर रही थी। इसी समय किसी ने पुकारा—

"हिम्मतसिंह !"

खिड़की में से सिर निकाल कर हिम्मतसिंह ने पूछा—"कौन ?"

"बाबू नन्हकूसिंह !"

"अच्छा, तुम अब तक बाहर ही रहे ?"

"पागल ! राजा कैद हो गये हैं। छोड़ दो इन सब बहादुरों को ! हम एक बार इनको लेकर शिवालय घाट पर जायँ।"

"ठहरो"—कह कर हिम्मतसिंह ने कुछ आज्ञा दी, सिपाही बाहर निकले। नन्हकू की तलवार चमक उठी। सिपाही भीतर भागे। नन्हकू ने कहा—"नमकहरामो ! चूड़ियाँ पहन लो।" लोगों के देखते-देखते नन्हकूसिंह चला गया। कोतवाली के सामने फिर सन्नाटा हो गया।

नन्हकू उन्मत्त था। उसके थोड़े से साथी उसकी आज्ञा पर जान देने के लिए तुले थे। वह नहीं जानता था कि राजा चेतसिंह का क्या राजनैतिक अपराध है। उसने कुछ सोच कर अपने थोड़े से साथियों को फाटक पर गड़बड़ मचाने के लिए भेज दिया। इधर अपनी डोंगी लेकर शिवालय की खिड़की के नीचे धारा काटता हुआ पहुँचा। किसी तरह निकले हुए पत्थर में रस्सी अटका कर, उस चञ्चल डोंगी को उसने स्थिर किया और बन्दर की तरह उछल कर खिड़की के भीतर हो रहा। उस समय वहाँ राजमाता पन्ना और युवक राजा चेतसिंह से बाबू मनियारसिंह कह रहे थे—"आपके यहाँ रहने से, हम लोग क्या करें यह

समझ में नहीं आता। पूजा-पाठ समाप्त करके आप रामनगर चली गई होतीं, तो यह······"

तेजस्विनी पन्ना ने कहा—"अब मैं रामनगर कैसे चली जाऊँ?"

मनियारसिंह दुःखी होकर बोले—"कैसे बताऊँ? मेरे सिपाही तो बन्दी हैं।"

इतने में फाटक पर कोलाहल मचा। राज-परिवार अपनी मंत्रणा में डूबा था कि नन्हकूसिंह का आना उन्हें मालूम हुआ। सामने का द्वार बन्द था। नन्हकूसिंह ने एक बार गङ्गा की धारा को देखा—उसमें एक नाव घाट पर लगने के लिए लहरों से लड़ रही थी। वह प्रसन्न हो उठा। इसी की प्रतीक्षा में वह रुका था। उसने जैसे सबको सचेत करते हुए कहा—"महारानी कहाँ हैं?"

सबने घूमकर देखा—एक अपरिचित वीरमूर्ति! शस्त्रों से लदा हुआ पूरा देव!

चेतसिंह ने पूछा—"तुम कौन हो?"

"राजपरिवार का एक बिना दाम का सेवक हूँ!"

पन्ना के मुँह से हलकी-सी साँस निकल कर रह गई। उसने पहचान लिया। इतने वर्षों के बाद! वही नन्हकूसिंह!

मनियारसिंह ने पूछा—"तुम क्या कर सकते हो?"

"मैं मर सकता हूँ! पहले महारानी को डोंगी पर बिठाइए। नीचे दूसरी डोंगी पर अच्छे मल्लाह हैं, फिर बात कीजिए।" मनियारसिंह ने देखा जनानी ड्योढ़ी का दरोग़ा राज की एक डोंगी पर चार मल्लाहों के साथ खिड़की से नाव सटा कर प्रतीक्षा में है। उन्होंने पन्ना से कहा—"चलिए, मैं चलता हूँ।"

"औ···"—चेतसिंह को देखकर, पुत्र-वत्सला ने संकेत से एक प्रश्न किया, उसका उत्तर किसी के पास न था। मनियारसिंह ने कहा—

"तब मैं यहीं ?" नन्हकू ने हँस कर कहा—"मेरे मालिक, आप नाव पर बैठें। जब तक राजा भी नाव पर न बैठ जायँगे, तब तक सत्रह गोली खाकर भी नन्हकूसिंह जीवित रहने की प्रतिज्ञा करता है।"

पन्ना ने नन्हकू को देखा। एक क्षण के लिए चारों आखें मिलीं, जिनमें जन्म-जन्म का विश्वास ज्योति की तरह जल रहा था। फाटक बलपूर्वक खोला जा रहा था। नन्हकू ने उन्मत्त होकर कहा—"मालिक! जल्दी कीजिए।"

दूसरे क्षण पन्ना डोंगी पर थी और नन्हकूसिंह फाटक पर इस्टाकर के साथ।

चेतराम ने आकर एक चिट्ठी मनियारसिंह के हाथ में दी।

लेफ्टिनेन्ट ने कहा—"आपके आदमी गड़बड़ मचा रहे है। अब मैं अपने सिपाहियों को गोली चलाने से नही रोक सकता।"

"मेरे सिपाही यहाँ कहाँ है साहब ?" मनियारसिंह ने हँसकर कहा। बाहर कोलाहल बढ़ने लगा था।

चेतराम ने कहा—"पहले चेतसिंह को कैद कीजिये।"

"कौन ऐसी हिम्मत करता है ?" कड़ककर कहते हुए बाबू मनियार-सिह ने तलवार खींच ली। अभी बात पूरी न हो सकी थी कि कुबरा मौलवी वहाँ पहुँचा। यहाँ मौलवी साहब की क़लम नहीं चल सकती थी, और न ये बाहर ही जा सकते थे। उन्होंने कहा—"देखते क्या हो चेतराम!"

चेतराम ने राजा के ऊपर हाथ रखा ही था कि नन्हकू के सधे हुए हाथ ने उसकी भुजा उड़ा दी। इस्टाकर आगे बढ़े, मौलवी साहब चिल्लाने लगे। नन्हकूसिह ने देखते-देखते इस्टाकर और उसके कई साथियो को धराशायी किया। फिर मौलवी साहब कैसे बचते!

नन्हकूसिंह ने कहा—"क्यों, उस दिन के झापड़ ने तुझको समझाया नहीं ? ले पाजी!"—कहकर ऐसा साफ जनेवा मारा कि कुबरा ढेर

हो गया। कुछ ही क्षणों मे यह भीषण घटना हो गई, जिसके लिये अभी कोई प्रस्तुत न था।

नन्हकूसिंह ने ललकार कर चेतसिंह से कहा—"आप देखते क्या हैं? उतरिये डोंगी पर!"—उसके घावों से रक्त के फुहारे छूट रहे थे। उधर फाटक से तिलंगे भीतर आने लगे थे। चेतसिह ने खिड़की से उतरते हुए देखा कि बीसों तिलंगों की संगीनो के बीच वह अविचल खड़ा होकर तलवार चला रहा है। नन्हकू के चट्टान सदृश शरीर से गैरिक की तरह रक्त की धारा बह रही है। गुंडे का एक-एक अंग कट कर वहीं गिरने लगा। वह काशी का गुंडा था।

शतरंज के खिलाड़ी

वाजिदअली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब, सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफीम की पीनक ही के मजे लेता थे। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में, कला-कौशल मे, उद्योग-धन्धों मे, आहार-व्यवहार में, सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विषय-वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलावत्तू और चिकन बनाने मे, व्यवसायी सुरमे, इत्र, मिस्सी और उबटन का रोज़गार करने में लिप्त थे। सभी की आँखो मे विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को खबर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरो की लड़ाई के लिये पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन मे मस्त थे।

यहाँ तक कि फकीरों को पैसे मिलते, तो वे रोटियाँ न लेकर अफ़ीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश, गंजीफा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचार-शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है, ये दलीलें ज़ोर के साथ पेश की जाती थीं (इस संप्रदाय के लोगों से दुनियाँ अब भी ख़ाली नहीं है)। इसलिये अगर मिर्ज़ा सज्जादअली और मीर रौशनअली अपना अधिकांश समय बुद्धि तीव्र करने में व्यतीत करते थे, तो किसी विचारशील पुरुष को क्या आपत्ति हो सकती थी? दोनो के पास मौरूसी जागीरें थीं, जीविका की कोई चिंता न थी; घर में बैठे चखौतियाँ करते थे। आख़िर और करते ही क्या! प्रातःकाल दोनों ही मित्र नाश्ता करके बिसात बिछाकर बैठ जाते, मुहरे सज जाते, और लड़ाई के दाँव-पेंच होने लगते। फिर ख़बर न होती थी कि कब दोपहर हुई, कब तीसरा पहर, कब शाम। घर के भीतर से बार-बार बुलावा आता—खाना तैयार है। यहाँ से जवाब मिलता—चलो, आते हैं, दस्तरख़्वान बिछाओ। यहाँ तक कि बावरची विवश होकर कमरे ही में खाना रख जाता था, और दोनो मित्र दोनो काम साथ-साथ करते थे। मिर्ज़ा सज्जादअली के घर मे कोई बड़ा-बूढ़ा न था, इसलिये उन्ही के दीवानख़ाने में बाज़ियाँ होती थीं; मगर यह बात न थी कि मिर्ज़ा के घर के और लोग उनके इस व्यवहार से ख़ुश हों। घरवालों का तो कहना ही क्या, महल्लेवाले घर के नौकर-चाकर तक नित्य द्वेष-पूर्ण टिप्पणियाँ किया करते थे—बड़ा मनहूस खेल है। घर को तबाह कर देता है। ख़ुदा न करे, किसी को इसकी चाट पड़े। आदमी दीन, दुनियाँ, किसी के काम का नहीं रहता, न घर का न घाट का। बुरा रोग है। यहाँ तक कि मिर्ज़ा की बेगम साहबा को इससे इतना द्वेष था कि अवसर खोज-खोजकर पति को लताड़ती थीं। पर उन्हें इसका अवसर मुश्किल से मिलता था। वह सोती ही रहती थीं, तब तक उधर बाज़ी बिछ जाती थी। और

रात को जब सो जाती थीं, तब कहीं मिर्ज़ाजी भीतर आते थे। हाँ, नौकरों पर वह अपना गुस्सा उतारती रहती थीं—क्या पान माँगे है ? कह दो, आकर ले जायं। खाने की भी फुर्सत नहीं है ? ले जाकर खाना सिर पर पटक दो; खायँ, चाहे कुत्ते को खिलावें। पर रू-ब-रू वह भी कुछ न कह सकती थीं। उनको अपने पति से उतना मलाल न था जितना मीर साहब से। उन्होंने उनका नाम मीर बिगाड़ू रख छोड़ा था। सायद मिर्ज़ाजी अपनी सफ़ाई देने के लिये सारा इल्ज़ाम मीर साहब ही के सिर थोप देते थे।

एक दिन बेगम साहबा के सिर में दर्द होने लगा। उन्होंने लौंड़ी से कहा—"जाकर मिर्ज़ा साहब को बुला ला। किसी हकीम के यहाँ से दवा लावे। दौड़, जल्दी कर।" लौंड़ी गई, तो मिर्ज़ा ने कहा—"चल, अभी आते है।" बेगम साहबा का मिज़ाज़ गरम था। इतनी ताब कहाँ कि उनके सिर में दर्द हो, और पति शतरंज खेलता रहे। चेहरा सुर्ख़ हो गया। लौंड़ी से कहा—"जाकर कह, अभी चलिए, नहीं तो वह आप ही हकीम के यहाँ चली जायँगी।" मिर्ज़ाजी बड़ी दिलचस्प बाज़ी खेल रहे थे, दो ही किश्तो में मीर साहब की बाज़ी मात हुई जाती थो। झुँझलाकर बोले—"क्या ऐसा दम लबो पर है ? ज़रा सब्र नहीं होता ?"

मीर—अरे तो जाकर सुन ही आइए न। औरतें नाज़ुक मिज़ाज होती ही हैं।

मिर्ज़ा—जी हाँ, चला क्यो न जाऊँ ! दो किश्तो मे आपकी मात होती है।

मीर—जनाब, इस भरोसे न रहिएगा। वह चाल सोची है कि आपके मुहरे धरे रहें, और मात हो जाय। पर जाइए, सुन आइए। क्यों ख़्वाहमख़्वाह उनका दिल दुखाइएगा ?

मिर्ज़ा—इसी बात पर मात ही कर के जाऊँगा ।

मीर—मैं खेलूँगा ही नहीं । आप जाकर सुन आइये ।

मिर्ज़ा—अरे यार, जाना पड़ेगा हकीम के यहाँ । सिर-दर्द ख़ाक नहीं है; मुझे परेशान करने का बहाना है ।

मीर—कुछ भी हो, उनकी ख़ातिर तो करनी ही पड़ेगी ।

मिर्ज़ा—अच्छा, एक चाल और चलूँ ।

मीर—हर्गिज नहीं, जब तक आप सुन न आवेंगे, मैं मुहरे में हाथ ही न लगाऊँगा ।

मिर्ज़ा साहब मजबूर होकर अन्दर गए, तो बेगम साहबा ने त्योरियाँ बदल कर, लेकिन कराहते हुए कहा—तुम्हें निगोड़ी शतरंज इतनी प्यारी है ! चाहे कोई मर ही जाय, पर उठने का नाम ही नहीं लेते ! नौज कोई तुम-जैसा आदमी हो !

मिर्ज़ा—क्या कहूँ, मीर साहब मानते ही न थे । बड़ी मुश्किल से पीछा छुड़ा कर आया हूँ ।

बेगम—क्या जैसे वह ख़ुद निखट्टू हैं, वैसे ही सबको समझते हैं ? उनके भी बाल-बच्चे हैं; या सबका सफाया कर डाला ?

मिर्ज़ा—बड़ा लती आदमी है । जब आ जाता है, तब मजबूर होकर मुझे भी खेलना ही पड़ता है ।

बेगम—दुतकार क्यों नहीं देते ?

मिर्ज़ा—बराबर के आदमी हैं, उम्र में, दर्जे में, मुझसे दो अंगुल ऊँचे । मुलाहिज़ा करना ही पड़ता है ।

बेगम—तो मैं ही दुतकारे देती हूँ । नाराज़ हो जायँगे, हो जायँ । कौन किसी की रोटियाँ चला देता है । रानी रूठेंगी, अपना सुहाग लेंगी । हिरिया, जा, बाहर से शतरंज उठा ला । मीर साहब से कहना, मियाँ अब न खेलेंगे; आप तशरीफ़ ले जाइए ।

मिर्ज़ा—हाँ-हाँ, कहीं ऐसा ग़ज़ब भी न करना! ज़लील करना चाहती हो क्या!—ठहर हिरिया, कहाँ जाती है।

बेगम—जाने क्यों नही देते। मेरा ही .खून पिए, जो उसे रोके। अच्छा उसे रोका; मुझे रोको, तो जानूँ।

यह कह कर बेगम साहबा झल्लाई हुई दीवानख़ाने की तरफ़ चलीं। मिर्ज़ा बेचारे का रंग उड़ गया। बीबी की मिन्नतें करने लगे—"ख़ुदा के लिए, तुम्हें हज़रत हुसेन की क़सम। मेरी ही मैयत देखे, जो उधर जाय!" लेकिन बेगम ने एक न मानी। दीवानख़ाने के द्वार तक गईं; पर एकाएक पर-पुरुष के सामने जाते हुए पाँव बँध-से गए। भीतर झाँका। संयोग से कमरा ख़ाली था। मीर साहब ने दो-एक मुहरे इधर-उधर कर दिए थे, और अपनी सफ़ाई जताने के लिए बाहर टहल रहे थे। फिर क्या था, बेगम ने अन्दर पहुँच कर बाज़ी उलट दी; मुहरे कुछ तख़्त के नीचे फेंक दिए, कुछ बाहर; और किवाड़े अंदर से बंद करके कुंडी लगा दी। मीर साहब दरवाजे पर तो थे ही, मुहरे बाहर फेंके जाते देखे, चूड़ियों की झनक भी कान में पड़ी। फिर दरवाजा बंद हुआ, तो समझ गए, बेगम साहबा बिगड़ गईं। चुपके से घर की राह ली!

मिर्ज़ा ने कहा—तुमने ग़जब किया!

बेगम—अब मीर साहब इधर आए, तो खड़े-खड़े निकलवा दूँगी। इतनी लौ ख़ुदा से लगाते, तो क्या ग़रीब हो जाते! आप तो शतरंज खेलें, और मैं यहाँ चूल्हे-चक्की की फ़िक्र में सिर खपाऊँ! ले जाते हो हकीम साहब के यहाँ कि अब भी ताम्मुल है?

मिर्ज़ा घर से निकले, तो हकीम के घर जाने के बदले मीर साहब के घर पहुँचे; और सारा वृत्तांत कहा। मीर साहब बोले—मैंने तो जब मुहरे बाहर आते देखे, तभी ताड़ गया। फ़ौरन भागा। बड़ी गुस्सेवर मालूम होती हैं। मगर आपने उन्हें यों सिर चढ़ा रक्खा है,

यह मुनासिब नहीं। उन्हें इससे क्या मतलब कि आप बाहर क्या करते हैं। घर का इन्तज़ाम करना उनका काम है; दूसरी बातों से उन्हें क्या सरोकार ?

मिर्ज़ा—ख़ैर यह तो बताइये, अब कहाँ जमाव होगा ?

मीर—इसका क्या ग़म। इतना बड़ा घर पड़ा हुआ है। बस यहीं जमे।

मिर्ज़ा—लेकिन बेग़म साहबा को कैसे मनाऊँगा ? जब घर बैठा रहता था, तब तो वह इतना बिगड़ती थीं; यहाँ बैठक होगी तो शायद ज़िंदा न छोड़ेंगी।

मीर—अजी, बकने भी दीजिए, दो-चार रोज़ में आप ही ठीक हो जायँगी। हाँ, आप इतना कीजिये कि आज से ज़रा तन जाइये।

(२)

मीर साहब की बेंगम किसी अज्ञात कारण से उनका घर से दूर रहना ही उपयुक्त समझती थीं। इसलिये वे उनके शतरंज-प्रेम की कभी आलोचना न करतीं; बल्कि कभी कभी मीर साहब को देर हो जाती, तो याद दिला देती थीं। इन कारणों से मीर साहब को भ्रम हो गया था कि मेरी स्त्री अत्यंत विनयशील और गम्भीर है, लेकिन जब दीवानख़ाने में बिसात बिछने लगी, और मीर साहब दिन भर घर में रहने लगे तो उन्हें बड़ा कष्ट होने लगा। उनकी स्वाधीनता मे बाधा पड़ गई। दिन भर दरवाज़े पर झाँकने को तरस जातीं।

उधर नौकरों में भी काना-फूसी होने लगी। अब तक दिन भर पड़े-पड़े मक्खियाँ मारा करते थे। घर में चाहे कोई आवे, चाहे कोई जाय, उनसे कुछ मतलब न था। अब आठों पहर की धौंस हो गई। कभी पान लाने का हुक्म होता, कभी मिठाई का और हुक्का तो किसी प्रेमी के हृदय की भाँति नित्य जलता ही रहता था। वे बेगम साहबा से जा-

जाकर कहते—"हुजूर, मियाँ की शतरंज तो हमारे जी का जंजाल हो गई ! दिन भर दौड़ते-दौड़ते पैरों मे छाले पड़ गये। यह भी तो कोई खेल है कि सुबह को बैठे, तो शाम ही कर दी ! घड़ी-आध-घड़ी दिल-बहलाव के लिये खेल लेना बहुत है। ख़ैर, हमें तो कोई शिकायत नहीं, हुजूर के गुलाम हैं, जो हुक्म होगा, बजा ही लावेंगे, मगर यह खेल मनहूस है। इसका खेलनेवाला कभी पनपता नहीं, घर पर कोई-न-कोई आफत जरूर आती है। यहाँ तक कि एक के पीछे महल्ले-के-महल्ले तबाह होते देखे गये हैं। सारे महल्ले मे यही चर्चा होती रहती है। हुजूर का नमक खाते हैं, अपने आक़ा की बुराई सुन-सुन कर रंज होता है। मगर क्या करें।" इस पर बेगम साहबा कहतीं—"मैं तो खुद इसको पसंद नहीं करती। पर वह किसी की सुनते ही नहीं, तो क्या किया जाय।"

महल्ले में भी दो-चार पुराने ज़माने के लोग थे, वे आपस में भाँति-भाँति के अमंगल की कल्पनाएँ करने लगे—"अब ख़ैरियत नहीं। जब हमारे रईसों का यह हाल है, तो मुल्क का ख़ुदा ही हाफ़िज़। यह बादशाहत शतरंज के हाथों तबाह होगी। आसार बुरे हैं।"

राज्य में हाहाकार मचा हुआ था। प्रजा दिन-दहाड़े लूटी जाती थी। कोई फ़रियाद सुननेवाला न था। देहातों की सारी दौलत लखनऊ मे खिची चली जाती थी, और वह वेश्याओं में, भाँड़ों मे और विलासिता के अन्य अंगों की पूर्ति मे उड़ जाती थी। अँगरेज़-कम्पनी का ऋण दिन-दिन बढ़ता जाता था। कमली दिन-दिन भीगकर भारी होती जाती थी। देश में सुव्यवस्था न होने के कारण वार्षिक कर भी न वसूल होता था। रेज़ीडेंट वार-वार चेतावनी देता था, पर यहाँ तो विलासिता के नशे में चूर थे, किसी के कानो पर जूँ न रेंगती थी।

ख़ैर, मीर साहब के दीवानख़ाने में शतरंज होते कई महीने गुज़र गए। नए-नए नक्शे हल किए जाते, नए-नए क़िले बनाये जाते, नित नई

व्यूह-रचना होती, कभी-कभी खेलते झौड़ हो जाती, तू-तू मैं-मैं तक की नौबत आ जाती। पर शीघ्र ही दोनों मित्रों में मेल हो जाता। कभी-कभी ऐसा होता कि बाजी उठा दी जाती, मिर्ज़ाजी रूठकर अपने घर चले आते, मीर साहब अपने घर में जा बैठते। पर रात-भर की निद्रा के साथ सारा मनोमालिन्य शांत हो जाता था। प्रातःकाल दोनों मित्र दीवानख़ाने में आ पहुँचते थे।

एक दिन दोनों मित्र बैठे शतरंज की दलदल में ग़ोते खा रहे थे कि इतने में घोड़े पर सवार एक बादशाही फ़ौज का अफ़सर मीर साहब का नाम पूछता हुआ आ पहुँचा। मीर साहब के होश उड़ गए! 'यह क्या बला सिर पर आई! यह तलबी किस लिये हुई! अब ख़ैरियत नहीं नज़र आती! घर के दरवाज़े बन्द कर लिये। नौकरों से बोले—"कह दो, घर में नहीं हैं।"

सवार—घर में नहीं, तो कहाँ हैं?

नौकर—यह मैं नहीं जानता। क्या काम है?

सवार—काम तुझे क्या बताऊँ? हुज़ूर मे तलबी है—शायद फ़ौज के लिये कुछ सिपाही माँगे गये हैं। जागीरदार हैं कि दिल्लगी! मोरचे पर जाना पड़ेगा तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जायगा!

नौकर—अच्छा, तो जाइये, कह दिया जायगा।

सवार—कहने की बात नहीं है। मैं कल ख़ुद आऊँगा। साथ ले जाने का हुक्म हुआ है।

सवार चला गया। मीर साहब की आत्मा काँप उठी। मिर्ज़ा से बोले—कहिए जनाब, अब क्या होगा?

मिर्ज़ा—बड़ी मुसीबत है। कहीं मेरी भी तलबी न हो।

मीर—कम्बख़्त कल फिर आने को कह गया है!

मिर्ज़ा—आफ़त है, और क्या! कहीं मोरचे पर जाना पड़ा, तो बेमौत मरे।

मीर—बस, यही एक तद्बीर है कि घर पर मिलो ही नहीं। कल से गोमती पर कहीं वीराने में नक्शा जमे। वहाँ किसे ख़बर होगी? हज़रत आकर आप लौट जायँगे।

मिर्ज़ा—वल्लाह, आपको खूब सूझी! इसके सिवा और कोई तद्बीर नहीं है।

इधर मीर साहब की बेगम उस सवार से कह रही थीं—"तुमने खूब धता बताई।" उसने जवाब दिया—"ऐसे गावदियों को तो चुटकियों पर नचाता हूँ। इनकी सारी अक्ल और हिम्मत तो शतरंज ने चर ली। अब भूल कर भी घर पर न रहेंगे।"

३

दूसरे दिन से दोनों मित्र मुँह-अँधेरे घर से निकल खड़े होते। बगल में एक छोटी-सी दरी दबाए, डिब्बे में गिलौरियाँ भरे गोमती-पार की एक पुरानी वीरान मसजिद में चले जाते, जिसे शायद नवाब आसिफ़ुद्दौला ने बनवाया था। रास्ते में तम्बाकू, चिलम और मदरिया ले लेते, और मसजिद में पहुँच, दरी बिछा, हुक्का भर कर शतरंज खेलने बैठ जाते थे। फिर उन्हें दीन-दुनिया की फ़िक्र न रहती थी। 'किश्त', 'शह' आदि दो-एक शब्दों के सिवा उनके मुँह से और कोई वाक्य नहीं निकलता था। कोई योगी भी समाधि में इतना एकाग्र न होता होगा। दोपहर को जब भूख मालूम होती, तो दोनों मित्र किसी नानबाई की दूकान पर जाकर खाना खा आते, और चिलम हुक़ा पीकर फिर संग्राम-क्षेत्र मे डट जाते। कभी-कभी तो उन्हें भोजन का भी खयाल न रहता था।

इधर दश की राजनीतिक दशा भयंकर होती जा रही थी। कम्पनी की फ़ौजें लखनऊ की तरफ बढ़ी चली आती थीं। शहर मे हलचल मची हुई थी। लोग बाल-बच्चों को ले-लेकर देहातों में भाग रहे थे। पर

हमारे दोनों खिलाड़ियों को इसकी ज़रा भी फ़िक्र न थी। वे घर से आते, तो गलियों में होकर। डर था कि कहीं किसी बादशाही मुलाज़िम की निगाह न पड़ जाय, जो बेगार में पकड़ जायँ। हज़ारों रुपये सालाना की जागीर मुफ्त में ही हज़म करना चाहते थे।

एक दिन दोनों मित्र मसजिद के खँडहर में बैठे हुए शतरंज खेल रहे थे। मीर की बाज़ी कुछ कमज़ोर थी। मिर्ज़ा साहब उन्हें किश्त-पर-किश्त दे रहे थे। इतने में कम्पनी के सैनिक आते हुए दिखाई दिए। यह गोरों की फौज थी जो लखनऊ पर अधिकार जमाने के लिये आ रही थी।

मीर साहब बोले—अँगरेज़ी फौज आ रही है, खुदा ख़ैर करे।

मिर्ज़ा—आने दीजिए, किश्त बचाइये। लो यह किश्त!

मीर—तोपख़ाना भी है। कोई पाँच हज़ार आदमी होंगे। कैसे जवान हैं। लाल बंदरों के-से मुँह हैं। सूरत देख कर ख़ौफ़ मालूम होता है।

मिर्ज़ा—जनाब, हीले न कीजिए। ये चकमे किसी और को दीजिएगा—यह किश्त!

मीर—आप भी अजीब आदमी हैं। यहाँ तो शहर पर आफत आई हुई है, और आपको किश्त की सूझी हुई है! कुछ इसकी भी ख़बर है कि शहर घिर गया, तो घर कैसे चलेंगे?

मिर्ज़ा—जब घर चलने का वक्त आवेगा, तो देखी जायगी—यह किश्त! बस, अब की शह में मात है।

फौज निकल गई। दस बजे का समय था। फिर बाज़ी बिछ गई।

मिर्ज़ा बोले—आज खाने की कैसे ठहरेगी?

मीर—अजी, आज तो रोज़ा है। क्या आपको ज़्यादा भूख मालूम होती है?

मिर्ज़ा—जी नहीं। शहर में न-जाने क्या हो रहा है।

मीर—शहर में कुछ न हो रहा होगा। लोग खाना खा-खाकर आराम से सो रहे होंगे। हुजूर नवाब साहब भी ऐशगाह में होंगे।

दोनों सज्जन फिर जो खेलने बैठे तो तीन बज गए। अब की मिर्ज़ाजी की बाज़ी कमज़ोर थी। चार का गजर बज ही रहा था कि फ़ौज की वापसी की आहट मिली। नवाब वाजिदअली शाह पकड़ लिए गए थे, और सेना उन्हें किसी अज्ञात स्थान को लिए जा रही थी। शहर में न कोई हलचल थी, न मार-काट। एक बूँद भी ख़ून नहीं गिरा था। आज तक किसी स्वाधीन देश के राजा की पराजय इतनी शांति से, इस तरह ख़ून बहे बिना न हुई होगी। यह वह अहिंसा न थी, जिस पर देवगण प्रसन्न होते हैं। यह वह कायरपन था, जिस पर बड़े-से-बड़े कायर भी आँसू बहाते हैं। अवध के विशाल देश का नवाब बंदी बना चला जाता था, और लखनऊ ऐश की नींद में मस्त था। यह राजनीतिक अधःपतन की सीमा थी।

मिर्ज़ा ने कहा—हुजूर नवाब साहब को ज़ालिमों ने क़ैद कर लिया है।

मीर—होगा, यह लीजिए शह !

मिर्ज़ा—जनाब ज़रा ठहरिए। इस वक्त इधर तबीयत नहीं लगती। बेचारे नवाब साहब इस वक्त ख़ून के आँसू रो रहे होंगे।

मीर—रोया ही चाहें, यह ऐश वहाँ कहाँ नसीब होगा—यह किश्त !

मिर्ज़ा—किसी के दिन बराबर नहीं जाते। कितनी दर्दनाक हालत है।

मीर—हाँ, सो तो है ही—यह लो फिर किश्त ! बस अब की किश्त में मात है, बच नहीं सकते।

मिर्ज़ा—खुदा की क़सम, आप बड़े बेदर्द हैं। इतना बड़ा हादसा देखकर भी आपको दुख नहीं होता। हाय, ग़रीब वाजिदअली शाह !—

मीर—पहले अपने बादशाह को तो बचाइए, फिर नवाब साहब का मातम कीजिएगा। यह किश्त और मात। लाना हाथ।

बादशाह को लिए हुए सेना सामने से निकल गई। उनके जाते ही मिर्ज़ा ने फिर बाज़ी बिछा दी। हार की चोट बुरी होती है। मीर ने कहा—"आइए, नवाब साहब के मातम में एक मरसिया कह डालें।" लेकिन मिर्ज़ाजी की राजभक्ति अपनी हार के साथ लुप्त हो चुकी थी, वह हार का बदला चुकाने के लिये अधीर हो रहे थे।

४

शाम हो गई। खँडहर में चमगादड़ों ने चीखना शुरू किया। अबाबीलें आ-आकर अपने-अपने घोसलों में चिमटीं। पर दोनों खिलाड़ी डटे थे, मानो दो ख़ून के प्यासे सूरमा आपस में लड़ रहे हों। मिर्ज़ाजी तीन बाज़ियाँ लगातार हार चुके थे, इस चौथी बाज़ी का रंग भी अच्छा न था। वह बार-बार जीतने का दृढ़ निश्चय करके सँभलकर खेलते थे, लेकिन एक-न-एक चाल ऐसी बेढब आ पड़ती थी, जिससे बाज़ी ख़राब हो जाती थी। हर बार हार के साथ प्रतिकार की भावना और भी उग्र होती जाती थी। उधर मीर साहब मारे उमंग के ग़जलें गाते थे, चुटकियाँ लेते थे, मानो कोई गुप्त धन पा गए हों। मिर्ज़ाजी सुन-सुनकर झुँझलाते और हार की झेंप मिटाने के लिये उनकी दाद देते थे। पर ज्यों-ज्यों बाज़ी कमज़ोर पड़ती थी, धैर्य हाथ से निकलता जाता था। यहाँ तक कि वह बात-बात पर झुँझलाने लगे—"जनाब; आप चाल न बदला कीजिए। यह क्या कि एक चाल चले, और फिर उसे बदल दिया। जो कुछ चलना हो एक बार चल लीजिए। यह आप मुहरे पर ही हाथ क्यों रखे रहते हैं? मुहरे को छोड़ दीजिए। जब तक आप को चाल न सूझे, मुहरा छूइए ही नहीं। आप एक-एक चाल आध-आध घंटे में चलते हैं। इसकी सनद नहीं। जिसे एक चाल चलने मे पाँच मिनट से ज्यादा लगे, उसकी मात समझी जाय। फिर आपने चाल बदली! चुपके से मुहरा वहीं रख दीजिये।"

मीर साहब का फ़रज़ी पिटता था। बोले—मैंने चाल चली ही कब थी ?

मिर्ज़ा—आप चाल चल चुके हैं। मुहरा वहीं रख दीजिए—उसी घर में।

मीर— उस घर में क्यों रक्खूं ? हाथ से मुहरा छोड़ा कब था।

मिर्ज़ा—मुहरा आप क़यामत तक न छोड़ें, तो क्या चाल ही न होगी ? फ़रज़ी पिटते देखा, तो धाँधली करने लगे !

मीर—धाँधली आप करते हैं। हार-जीत तक़दीर से होती है, धाँधली करने से कोई नहीं जीतता।

मिर्ज़ा—तो इस बाज़ी में आपकी मात हो गई।

मीर—मुझे क्यों मात होने लगी।

मिर्ज़ा—तो आप मुहरा उसी घर में रख दीजिए, जहाँ पहले रक्खा था।।

मीर—वहाँ क्यो रक्खूं ? नहीं रखता।

मिर्ज़ा—क्यों न रखिएगा ? आप को रखना होगा।

तकरार बढ़ने लगी। दोनों अपनी-अपनी टेक पर अड़े थे। न यह दबता था न वह। अप्रासंगिक बातें होने लगीं। मिर्ज़ा बोले—किसी ने ख़ानदान में शतरंज खेली होती, तब तो इसके क़ायदे जानते। वे तो हमेशा घास छीला किए, आप शतरंज क्या खेलिएगा। रियासत और ही चीज़ है। जागीर मिल जाने ही से कोई रईस नहीं हो जाता।

मीर—क्या ! घास आपके अब्बाजान छीलते होंगे ! यहाँ तो पीढ़ियों से शतरंज खेलते चले आते है।

मिर्ज़ा—अजी जाइए भी, ग़ाज़िउद्दीन हैदर के यहाँ बावर्ची का

काम करते-करते उम्र गुज़र गई, आज रईस बनने चले हैं। रईस बनना कुछ दिल्लगी नहीं।

मीर—क्यों अपने बुजुर्गों के मुँह में कालिख लगाते हो—वे ही बावर्ची का काम करते होंगे। यहाँ तो हमेशा बादशाह के दस्तरख्वान पर खाना खाते चले आए हैं।

मिर्ज़ा—अरे चल चरकटे, बहुत बढ़-बढ़ कर बातें न कर।

मीर—ज़बान सँभालिए, वर्ना बुरा होगा। मैं ऐसी बातें सुनने का आदी नहीं हूँ। यहाँ तो किसी ने आँखें दिखाईं कि उसकी आँखें निकालीं। है हौसला ?

मिर्ज़ा—आप मेरा हौसला देखना चाहते हैं, तो फिर आइए, आज दो-दो हाथ हो जाँय, इधर या उधर।

मीर—तो यहाँ तुमसे दबनेवाला कौन है ?

दोनों दोस्तों ने कमर से तलवारें निकाल लीं। नवाबी ज़माना था, सभी तलवार, पेशक़ब्ज़, कटार वग़ैरह बाँधते थे। दोनों विलासी थे पर कायर न थे। उनमें राजनीतिक भावों का अधःपतन हो गया था। बादशाहत के लिए क्यों मरें ? पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था। दोनों ने पैंतरे बदले, तलवारें चमकीं, छपाछप की आवाज़ें आईं। दोनों ज़ख़्म खाकर गिरे, और दोनों ने वहीं तड़प-तड़प कर जानें दे दीं। अपने बादशाह के लिए जिनकी आँखों से दो बूँद आँसू न निकला, उन्होंने शतरंज के वज़ीर की रक्षा में प्राण दे दिए।

अँधेरा हो चला था। बाज़ी बिछी हुई थी। दोनों बादशाह अपने-अपने सिंहासनों पर बैठे मानों इन दोनों वीरों की मृत्यु पर रो रहे थे।

चारों तरफ़ सन्नाटा छाया हुआ था। खँडहर की फूटी हुई मेहराबें, गिरी हुई दीवारें और धूलि-धूसरित मीनारें इन लाशों को देखतीं और सिर धुनती थीं।

प्रसाद और प्रेमचन्द की कहानियाँ

'गुंडा' प्रसाद की सिद्ध रचना है और 'शतरंज के खिलाड़ी' प्रेमचन्द की पहुँची हुई कहानी है। कला की दृष्टि से दोनो पूर्ण हैं। कथावस्तु, चरित्रचित्रण, कथोपकथन, वर्णन, भाषा, शैली, प्रयोजन आदि की दृष्टि से वे पूर्ण हैं। अनुभूति और कला का योग दोनों में पूरा है। हृदय की कसौटी पर भी दोनो खरी उतरती हैं। सहृदय पाठक उन्हें बार-बार पढ़कर भी अतृप्त ही रहता है। उनमें वह निरपेक्ष रमणीयता है जिससे एकान्त में अपने आप पढ़ने से भी वे उतनी ही मधुर लगती हैं जितनी किसी सुरीले और शिक्षित कण्ठ से पढ़ी जाने पर। उनमें वह शुभेच्छा और सद्भावना भी पूरी मात्रा में है जो किसी भी सहृदय में सत्वोद्रेक कर सकती है। इस प्रकार दोनों में बहुत समानता है। इतना ही नहीं, दोनो के क्षेत्र भी समान हैं। दोनों इतिहास के आधार पर चलती हैं, दोनों चरित्र-प्रधान हैं। दोनों अँग्रेजी राज्य के प्रारम्भिक युग से संबंध रखती हैं। दोनों

में दो बड़े नगरों के चित्र हैं और साथ ही दोनों में उन गिरते दिनों की एक मानसिक झाँकी है—मनुष्यत्व, वीरत्व और व्यसन की एक मर्मस्पर्शी झलक।

इतनी अधिक समता होने पर भी दोनो में विषमता भी इतनी है कि वे दो भिन्न स्कूलों की कृति कही जा सकती हैं। प्रसाद-स्कूल 'कला के लिए कला' मानता है, उसके लिए कला का मुख्य उद्देश्य आनन्दानुभव है, रसानुभूति है, इसीसे वह देश, काल, व्यक्ति, वस्तु, गति, व्यंजना, शैली और प्रयोजन आदि सब को गौण मानता है, उनकी आत्मा को—उनमें से झलकते हुए व्यङ्ग्य को सर्वस्व मानता है। इसीसे इस स्कूल का विद्यार्थी तटस्थ होकर एक किनारे बैठा रहता है, अपने ध्यान में मग्न रहता है, जब कभी किसी घटना से उसका ध्यान-भंग होता है, हृदय छू जाता है, वह लाचार होकर अपने भाव को प्रगट करता है। यही भावाभिव्यक्ति कहानी बन जाती है। प्रेमचन्द-स्कूल इससे सर्वथा भिन्न है। वह आत्मपरिष्कार और लोकसंग्रह को कहानी साहित्य का उद्देश्य मानता है। उसके अनुसार कहानी में ये तीन गुण अवश्य होने चाहिएँ—(१) आध्यात्मिक या नैतिक उपदेश, (२) अत्यन्त सरल भाषा और (३) स्वाभाविक वर्णन-शैली। इन्हीं तीन सिद्धान्तों के कारण यह स्कूल बड़ा लोकप्रिय रहा है और लोकमंगलकारी भी।

यद्यपि दोनो कहानियों मे हृदय स्पर्श करने की क्षमता है—अनुभूति की पूरी मात्रा है, तथापि दोनो मे भेद स्पष्ट है। एक में गुणों की ओर दृष्टि है, दूसरी में दोष देखकर सुधारने की सदिच्छा। एक में कला की उदारता है—दूसरी में मनोरंजन और स्वाभाविकता की सीमा है। गुंडा कहानी का कोई उपदेश नहीं है—चाहे कोई संदेश हो। उसकी भाषा प्राञ्जल हिन्दी है और शैली पूर्ण रूप

से नाटकीय। ये ही तो कलापूर्ण कहानी के लक्षण हैं। और 'शतरंज के खिलाड़ी' में तो ऊपर के तीनों सिद्धान्तों का पूर्ण निर्वाह हुआ है। नैतिक उपदेश की प्रवृत्ति तो कहीं मात्रा से अधिक प्रकट हो गई है। उदाहरण के लिए 'इस सम्प्रदाय के लोगों से दुनियाँ अब भी खाली नहीं है'। 'यह राज-नीतिक अधःपतन की सीमा है' आदि के समान वाक्य व्यंग्य को खोलकर रस का अपकर्ष कर देते हैं। हाँ, बहुत साधारण पाठकों के लिए बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है।

अन्त में सब प्रकार से देख लेने पर भी दोनों कहानी अपने-अपने ढंग की बेजोड़ चीजें हैं, नमूने की रचनाएँ हैं।

'जोग' की झाँकी

हिमालय, विन्ध्य, सह्याद्रि जैसे पहाड़, गंगा, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र जैसे नदी-नद, ऊलर-मंचर जैसे सरोवर, जिस देश में हों, उसमें अगर महान् और भीषण जल-प्रपात न हों, तो प्रकृति माता कृतार्थ कैसे हो ? दक्षिण में उत्तर-कानड़ा ज़िला और मैसूर राज्य की सरहद पर ऐसा जल-प्रपात है, जो दुनिया में सर्वप्रथम नहीं, तो सर्वश्रेष्ठ में से एक अवश्य है। अङ्गरेज़ी किताबों में उसका नाम है, 'गोरसप्पा फाल्स,' लेकिन हमारे देश का उसका नाम है 'जोग'।

लार्ड कर्ज़न जब भारत आया, तब 'जोग' का प्रपात देखने के लिए वह इतना लालायित था कि भारत आते ही उसने 'जोग' जाने की तैयारी कर दी और अपनी यात्रा से उस प्रपात की प्रतिष्ठा बढ़ाई। जिस स्थान पर खड़े होकर उसने 'जोग' के अद्भुत दृश्य का अपने नयनों से आकंठ पान किया, मैसूर राज्य ने उसका नाम 'कर्ज़न-सीट' कर दिया है।

मैसूर राज्य ने उसी स्थान के नज़दीक एक अतिथिशाला बनवा दी है, जिसके विज़िटर्स-बुक मे देश-विदेश के रसिक और प्रकृति-प्रेमी

यात्रियों ने अपने आनन्द-उद्गार लिख रखे हैं। अगर उद्गारों का एक संग्रह छपा दिया जाय, तो यह एक असाधारण प्रकृति-काव्य-संग्रह बन जाय। यह सब काव्य उच्चकोटि के हैं; पर 'जोग' का प्रत्यक्ष दर्शन उन काव्यों की अपूर्णता ही प्रमाणित करता है, और एकदम मुख से निकल पड़ता है—"एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः (इतनी बड़ी उसकी महिमा ! और वह इससे भी बड़ा !)

छोटी सी शरावती नदी के तीन नाम है—पहले उसका नाम होता है भारंगी या वराहगंगा, बीच में शरावती और जहाँ वह समुद्र से मिलती है, वहाँ उसे कहते हैं बालनदी। शरावती के प्रवाह में 'जोग' अपने प्रपात से एक रोमांचकारी दृश्य नहीं दिखाता, तब भी वह अपने सौन्दर्य से मनुष्य का मन अवश्य हरण करती। किन्तु तब वह भारत की अन्यान्य नदियों में से एक नदी रह जाती—अखिल-भारतीय विशे- नहीं पाती। इस प्रपात के कारण शरावती भारत की एक अद्वितीय नदी षता हो गई है।

जब मै 'जोग' देखने पहले पहल चला, तब महात्माजी के साथ दक्षिण की खादी-यात्रा पर था। हम 'शिमोगा-सागर' तक पहुँचे थे। सागर मे मैंने पूज्य बापूजी से कहा—"यहाँ से १५ मील पर 'गोरसप्पा' का प्रपात है। आप देखने चलें।" बापूजी ने कहा—"मै कैसे जा सकता हूँ ? मैं अगर ऐसी स्वच्छन्दता करने लगूँ तो स्वराज्य का काम कौन करेगा ?...तुम जाओ। तुम शिक्षा-शास्त्री हो। वहाँ हो आकर विद्या- र्थियो को कुछ न कुछ दे सकोगे। मेरा वहाँ जाना तो स्वच्छन्दता होगी।" मैंने कहा—"लेकिन 'गोरसप्पा' ९६० फीट की ऊँचाई से गिरता है। लार्ड कर्जन ख़ास कर इसे देखने आया था।" बापूजी ने अक्षुब्ध भाव से कहा—"आकाश का पानी इससे भी अधिक ऊँचाई से गिरता है।" एक बात में हार कर मैंने दूसरा मंसूबा बाँधा—"आप न सही तो कम से कम महादेव भाई को 'गोरसप्पा' जाने की इजाज़त दे दीजिए।"

मैं जानता था कि उस दिन महादेव भाई को बहुत काम था। बापूजी की आज्ञा बिना वे आ नहीं सकते थे। बापूजी ने यहाँ भी ठंडा सा जवाब दे दिया—"महादेव नहीं जायगा। मैं ही उसका 'गोरसप्पा' हूँ। तुम और राजा जी जाओ। अन्त में उन दोनों को छोड़ कर राजा जी, मै तथा कई मित्रगण 'जोग' का अलौकिक दृश्य देखने चल पड़े। वह दर्शन क्या था–मानों विराट् का विभूति-दर्शन।

उस प्रसंग का वर्णन मैंने गुजराती में लिखा है, और मेरे 'लोक-माता' नामक ग्रंथ में यह प्रकट भी हो चुका है। वह अद्‌भुत दृश्य देखकर एक कुतूहल तो तृप्त हुआ, लेकिन यह नदी इतनी ऊँचाई से कूदने के बाद आगे कहाँ जाती है, कैसे जाती है, कैसे दीख पड़ती है, सरित्पति के साथ उसका संगम कैसा होता है यह सब देखने की और शरावती के वक्षस्थल पर बच्चों की भाँति नौका-विहार करने की इच्छा तीव्र वेग से जागृत हुई। सत्यसंकल्प अन्तरात्मा ने उस इच्छा को आशीर्वाद दिया, और बारह बरस के बाद 'जोग' के दुबारा दर्शन का सौभाग्य मिल गया। पहली बार नदी के उद्‌गम से हम प्रपात की ओर गये थे। अब की बार नदी मुख से प्रवेश करके किश्ती मे प्रतीप सफर करते हम प्रपात की तरफ गये, और जहाँ नौका ठहर गई, वहाँ तैलवाहन (मोटर) के सहारे पहाड़ की घाटी पर चढ़कर राजा प्रपात के सिर तक पहुँच गये।

शरावती के इस अर्धचन्द्राकार दर्रे में चार प्रपात हैं। दाहिनी ओर 'राजा प्रपात' ऊपर से जो गिरता है, तो एकदम कहीं भी रुके बिना ९६० फीट की गहराई में कूद पड़ता है। सचमुच यह राजा है। उसकी जल-राशि, उसका उन्माद और उसकी हिम्मत जगत् के सम्राट् की-सी ही है। उसी की बाईं ओर महारुद्र की जैसी गर्जना करता हुआ रुद्र (Roarer) प्रपात राजा के चरणों मे आ गिरता है। रुद्र की गर्जना मीलों तक उस घाटी और उसके आस-पास की पहाड़ियों को निनादित कर

देती है। उसकी ध्वनि को न हम मेघ-गम्भीर कह सकते हैं न सागर-गम्भीर। मेघ-गर्जना आकाश-विद्रावी होते हुए भी क्षण-जीवी होता है; और सागर की सनातन घोषणा में ज्वार-भाटा का आन्दोलन होता है। रुद्र की ध्वनि अविरत, अखंड और धारावाहिक होती है। उसका नशा कुछ अजीब क़िस्म का होता है।

राजा और रुद्र दुनियाँ में कहीं भी सम्राट् की पदवी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन 'जोग' का वैभव तो वीरभद्र के अनेक रूप से आकाश में उड़ते उसके सफ़ेद जटा-जाल के कारण है। वीरभद्र का प्रपात हाथी के कुंभस्थल के सदृश एक चट्टान पर जैसे ही गिरता है कि उसमें से आतिशबाज़ी के बाण के जैसे अनगिनत फ़व्वारे फूट पड़ते हैं और वे ऊँचे-ऊँचे उड़ते ही जाते हैं। क्या यह शिव जी का तांडव नृत्य है? या सूर्य-बिम्ब के पृष्ठभाग से निकलनेवाली सर्वसंहारकारिणी किन्तु कल्पनामनोहर ज्वालाएँ हैं? या भूमि माता के वात्सल्य की स्तन्य-धार के फुहारे फूट निकले हैं? सचमुच वीरभद्र, देखनेवाली आँखों को, पागल बना देता है!

वीरभद्र (Rocket) की बाईं ओर कर्पूरगौरी, तन्वगी तथा अनुदरा पर्वतकन्या पार्वती (Lady) अपने लावण्य से हर किसी को आह्लादित करती है। इन चारों प्रपातों का मानों रक्षण करने के लिये ही बाईं और दाहिनी ओर दो बड़े-बड़े पहाड़ खड़े हुए हैं। खड़े-खड़े दूसरा और कर ही क्या सकते हैं। इसलिए प्रपातों की अखंड गर्जना को प्रतिपल प्रतिध्वनित करते रहना, उनके इन्द्र धनुओं को धारण करना और छोटी-मोटी वनस्पति को अङ्ग मे लगाए रोमांचित होना—यही उनका अखिल उद्योग-सा हो गया है।

अब की बार जब हम गये, गर्मी के दिन थे। भारंगी का जल बहुत कुछ कम हो गया था। वीरभद्र की जटाएँ भी देखने में नहीं आती थीं।

रुद्र की फलांगें भी कुछ छोटी हो गई थीं। पार्वती ने भी विरहिणी का रूप धारण कर लिया था। हमारी आशा थी कि कम से कम राजा का वैभव तो पहले जैसा होगा; किन्तु विश्वयज्ञ करने के बाद कोई सम्राट् जैसा अकिंचन हो जाता है और उसी से अपना वैभव व्यक्त करता है, वैसी ही दशा हमारे इस राजा प्रपात की हो गई थी।

उस दफे जब हम 'जोग' देखने गए थे, तब पहले मैसूर-बाजू पर गए; और वहाँ की अतिथि-शाला में ठहरे थे। इस वार ठहरना तो था नहीं; इसलिए उत्तर-बाजू से दर्शन के लिए हम प्रस्थित हुए और जहाँ से राजा की धारा गिरती थी, दौड़ते-दौड़ते वहाँ जा पहुँचे। कड़ी धूप और ठंढी फुहार दोनों के बीच हमारी जो स्थिति हुई, उसका वर्णन क्या किया जाय? हम राजा के मुकुट तक पहुँच गये थे। गरम गरम पत्थरों के ऊपर सोकर वहाँ से हमने नीचे की घाटी में झाँका, तो कभी ख़्वाब में भी नहीं आया था कि ऐसा दृश्य हमने कहीं देखा। ऊपर से राजा की धारा जो गिरती थी, वह नीचे ज़मीन तक पहुँचती ही न थी। ऊपर हम देखते थे कि मस्त हाथी की सूँड़ जैसी एक बड़ी जलधारा गिर रही है। नीचे गिरते गिरते शतधा विदीर्ण होकर उसकी सहस्र धाराएँ बन गईं। कुछ और नीचे जाते ही उन धाराओं के बड़े-बड़े जल-बिन्दु बनकर मौक्तिक-माला की शोभा धारण करने लगे। ये मौक्तिक भी चूर्ण होकर मोटे-मोटे कण हो गए। अब तो इन्होंने सीधा नीचे जाना छोड़कर कुछ स्वच्छन्द विहार शुरू कर दिया। कण भी भिन्न होकर शीकर पुञ्ज में परिणत हो गए और बादलों के जैसे विचरने लगे। लेकिन इतने से ही प्रकृति-माता को सन्तोष नहीं हुआ। इन बादलों का भी धुआँ बन गया; और आते हुए पवन के साथ उड़-उड़ कर ये सारी हवा को शीतल बनाने लगे। आश्चर्य तो यह था कि इतनी बड़ी जलधारा की एक छोटी बूंद भी ज़मीन तक नहीं पहुँचती थी। नीचे की ज़मीन गरम और ऊपर की हवा ठंडी—ऐसी स्थिति देख

मुझे तो राजाओं के दान का स्मरण हो आया। प्रजा को दुष्काल-पीड़ित देख कर राजा जब उदार हाथों से धन वितरण करता है, तब उसके जय-जयकार से दिशायें निनादित हो उठती हैं, किन्तु प्रजा के—गरीब जनता के—मुँह तक अनाज का एक कण तक नहीं पहुँचता !

किन्तु इन्द्रधनुओं की शोभा तो अलकेश्वर के मन में भी ईर्ष्या पैदा करनेवाली थी। लेकिन ये इन्द्रधनु भी स्थायी नहीं थे। पवन की लहरें जैसे दिशा बदलती थीं, सीकर-पुंज भी उसी भाँति अपना स्थान बदल देते थे, और ये इन्द्रधनु—पार्वती के साथ जैसे शंकर नाचे—इधर-से-उधर दौड़ते फिरते थे, क्षण में क्षीण हो जाते थे और क्षण में मयासुर के प्रासाद की शोभा धारण करते थे। क्रम के साथ उसका फल जैसे आता ही है, वैसे ही हरएक धनुष के साथ उसका प्रतिधनु अपना वर्णक्रम उलट कर उपस्थित रहता ही था। उसने अपना स्थान बदल दिया तो इन सुरधनुओं ने भी तुरन्त अपना स्थान बदल दिया। सुरधनु का यह खेल हम बहुत देर तक देखते रहे। जितना अधिक देखते थे, देखने की प्यास उतनी ही बढ़ती जाती थी। हम घंटे-दो-घंटे के ही मेहमान हैं। हम जानते थे कि हमारा पुण्य क्षीण हो रहा है, और हम थोड़े ही समय में मर्त्यलोक मे वापस जानेवाले है। स्वर्ग के लोभी देवता जिस विषाद के साथ स्वर्ग-सुख का अनुभव करते है, पराक्रमी पुरुष अपने यौवन के उत्तरार्द्ध में अपने संकल्प की पूर्ति के लिये जैसा अधीर हो उठता है, वैसे ही हमलोग उस गन्धर्व-नगरी का आँख कान नाक और सारी त्वचा से सेवन करने लगे और साथ ही अपनी कल्पना द्वारा उस आनंद को शतगुणित भी करते रहे।

हमारे साथ दो-तीन लड़कियाँ भी थीं। रात को उनके लिये हमने एक अलग किश्ती मँगाई थी। हम पुरुषो की दो किश्तियाँ दोनों वाजू से चल रही थीं। लड़कियों की किश्ती बीच मे थी। जब ये लड़कियाँ

गाने लगीं, तब शान्त प्रकृति माता का अञ्चल लहरा उठा। चन्द्रमा ऊपर से हँसता था। नारियल और सुपारी के वृक्ष-पुंज अपना ऊँचा सिर नज़दीक ला-लाकर संगीत के आलापों का पान कर रहे थे। दूसरे दिन उन आलापों का स्मरण कर वे किस मस्ती से झूम उठते थे! चन्द्रमा अस्त हुआ। अनन्त तारिकाएँ आस-पास की पहाड़ियों को ताकने लगीं और बालाओं का गीत शान्त होकर अनन्त शान्ति में विलीन हो गया। सुबह उठते ही अपनी किश्ती से उन्होंने पुकार-पुकार कर हमें जगाया। यह जलविहार सात्विक शान्तिमय एवं प्रसन्न यौवन-मय था। किन्तु प्रपात का दर्शन तो अद्‌भुत भीषण चमत्कारी था। उन बालाओं के मुँह पर अब प्रातःकालवाली वह प्रसन्नता नहीं थी। ऐसा अद्‌भुत दृश्य कैसे सम्भव हो सका! क्या सचमुच हम पृथ्वी पर है या स्वप्नसृष्टि में विहार कर रहे हैं—ऐसा विस्मय उनके मुख पर स्पष्ट दीख पड़ता था। वे एक-दूसरे की आँखों में देख-देख कर अपना विस्मय बढ़ा रही थीं, और उनका वह विस्मय देखकर हमें ऐसा अभिमान होता था, मानो हमी इस काव्यमय सृष्टि के जनक हों।

वर्षों से चर्चा चली आ रही है कि गोरसप्पा के प्रपात से बिजली पैदा की जाय या नहीं। अगर शरावती के पानी को एक बाजू लेकर बड़े-बड़े नल के द्वारा, ऊपर से नीचे छोड़ा जाय और उसकी सहायता से बिजली पैदा की जाय, तो सारे मैसूर राज्य में सस्ती से सस्ती बिजली मिलने लग जाय। उत्तर और दक्षिण कानड़ा को भी उसी से सहायता पहुँचाई जा सके। साथ ही लोगों का बड़ा लाभ भी हो। किन्तु ऐसा करने से यह अद्भुत रम्य प्राकृतिक दृश्य हमेशा के लिये नष्ट हो जायगा। अभी तक यह निश्चित नहीं हो पाया है कि इन दोनों में से कौन-सी चीज़ वांछनीय है? हजारों लाखों लोगों को पेटभर खाना मिल सकेगा; सैकड़ों महत्वाकांक्षी नवयुवकों को अपनी योग्यता सिद्ध

करने का मौका मिल सकेगा और हजारों जानवरों का दुःख दूर हो सकेगा, साथ ही एक जगह इस तरह का कल-कारखाना सफलता-पूर्वक चल जायगा, तो भारत के सारे प्रपातों से ऐसा ही काम लिया जायगा, और इस तरह देश को एक महान् से महान् अलौकिक शक्ति प्राप्त हो जायगी। तो क्या केवल एक अद्भुत रम्य दृश्य के लोभ से हम लाखों लोगों का दुःख दूर न करें? कला के शौक की भी तो एक मर्यादा होनी चाहिये। अपनी रानी को हँसाने के लिये अपनी राजधानी जलानेवाले बादशाह नीरो में और हमारी इस कला-भक्ति में तत्वतः कौन-सा फ़र्क है?

इसके जवाब में जो कुछ कहा जाता है, उसका उल्लेख करने के पहले एक छोटा-सा विषयान्तर यहाँ जरूरी है। यूरोप में जब महायुद्ध शुरू हुआ और वहाँ के लाखों नवयुवक तोप और बन्दूकों के चारा बन गये, तब साहित्यशिरोमणि रोमाँ-रोलाँ की भूत-दया द्रवित हो उठी, और उन्होंने घायलों की सेवा के लिए कुछ थोड़ा-सा प्रबन्ध भी किया। लेकिन जब उभयपक्ष के शत्रुओं ने एक दूसरे की कला-पूर्ण इमारतों पर बम की वर्षा शुरू कर दी, तब तो रोमाँ-रोलाँ की कलात्मा पुण्य प्रकोप से भभक उठी, और उन्होंने अपनी आवाज़ बुलन्द करके सारे यूरोप से अपील की—ऐ कमबख्तो! एक दूसरे को मारते हो, मारो; मिट जाना चाहते हो, मिट जाओ; किन्तु ये कलाकृतियाँ हैं। कम-से-कम इनका नाश तो न करो। यूरोप की आत्मा ने रोमाँ-रोलाँ की यह आर्ष वाणी सुन ली, और वे कलाकृतियों के नाश करने से बाज़ भी आए।

तो क्या सचमुच ही कलाकृतियाँ मनुष्य की आत्मा की द्योतक या प्रेरक है? या उच्च अभिरुचि से आच्छादित विलासिता की ही साधन-सामग्रियाँ है? कला का जिसे सच्चा ख़याल है, वह तुरन्त कह उठेगा कि कला और विलासिता के बीच वही अन्तर होता है, जो आसमान

या जमीन के बीच है। कलाकृतियों के द्वारा जो निरतिशय आनन्द मनुष्य को होता है; यह सच ही सोती हुई आत्मा को जागरित कर देता है। करोड़ों वोल्ट बिजली पैदा करके लाखों लोगों को खिलाने-पिलाने की व्यवस्था करना कोई बुरी बात नहीं है; किन्तु कला के द्वारा जो आनन्द और संस्कारिता मानव को मिलती है, वह तो आत्मा का ही खाद्य है।

और यहाँ (जोग) तो मनुष्य-कृत कोई कला-कृति है नहीं। यह तो कलाकारों को भी भव्यता एवं रम्यता की एक साथ ही दीक्षा देनेवाली प्रकृति-माता की विलक्षण विभूति है। इसे बिगाड़ने के पहले हजारों दफे सोचना चाहिये। 'जोग' का प्रपात केवल इसी युग की सम्पत्ति नहीं है। हमारे अनेक ऋषि-पूर्वजों ने इसके सामने बैठकर भगवान् का ध्यान किया होगा और हमारे वंशजों के वंशज भी इसे देख कर अपने जीवन के अज्ञात एवं सुप्त पहलू का साक्षात्कार करेंगे।

उपयोगितावाद की शरण लेकर 'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्' वाले पंडित-मूर्ख हम न बनें। इस प्रपात को आबाद रख कर अगर इससे कुछ लाभ उठाया जाय, तो अवश्य उठावें। मानव-बुद्धि के लिए यह बात असम्भव तो नहीं होनी चाहिए, किन्तु इस जोग-तांडव के दर्शन से मनुष्यजाति को वंचित करने का धर्मतः अधिकार तो किसी को नहीं है। मन्दिरों में हम मूर्ति की स्थापना करते हैं। क़ुदरत ने भी उसी भगवान् की यह ऐसी भव्य-विभूतियाँ हमारे सामने खड़ी कर दी हैं। यहाँ केवल दर्शन, ध्यान और उपासना के लिए ही आना चाहिए और अगर हृदय में कुछ संबल हो तो तदाकार बन जाना चाहिए।

'जोग' की झाँकी

प्रकृति की अद्भुत विभूति के साक्षात्कार से जिस सभ्रम का उदय होता है उससे कुछ दर्शकों की अन्तर्वृत्तियाँ तो इतना सहम जाती हैं कि वे मूक होकर देखते ही रह जाते है, आगे या पीछे उनसे कुछ कहते नहीं बनता। कुछ ऐसे होते हैं जो दृश्य का पहले तो 'आकण्ठ पान' करते हैं और पीछे अवकाश से समुदित सस्कार को ऐसी भावप्रधान भाषा में व्यक्त करते हैं जो दृश्य की चमत्कारिणी एक विराट् मूर्ति तो सामने लाती है, पर एक-एक ब्यौरे का ऐसा पता नहीं देती कि पाठक की आँखों में वह चित्र झूलने लगे जिसकी एक-एक रेखा के अवस्थान, परिप्रेक्षा, प्रतियोग और वर्णभेद अंकन की सजीवता का दम भर रहे हों। कुछ ऐसे भी होते हैं जिनमें दृश्य की साङ्गोपाङ्ग समष्टि को सामने खड़ा कर देने की तो क्षमता होती है, किन्तु अद्भुत दृश्य के साथ अपनी भावुकता की मन्त्रणा से, वे अपना ऐसा तादात्म्य कर लेते है कि उनका द्रष्टृत्व बहुत कुछ आच्छादित हो जाता है। अर्थात् उनकी सी अवस्था में द्रष्टा दृश्य की दृष्टि से देखता है अपनी दृष्टि से नहीं। पर कुछ, और कुछ ही, ऐसे विशिष्ट दर्शक देखने में आते हैं जो दृश्य के विष्वक् सौन्दर्य की वास्तविक चर्वणा करते हुए भी अपने परिच्छेदक व्यक्तित्व को दृश्य की मोहिनी अनुभूति में घुल नहीं जाने देते, किन्तु अपनी उस दिव्य दृष्टि से प्रकृति के विराट् वैभव का साक्षात्कार करते और अपनी अनुपम कला से औरों को उसका रसास्वाद कराते हैं।

जोग की झाँकी दिलानेवाला सचमुच वैसा ही विशिष्ट दर्शक है। उसका यह प्रपात-वर्णन वर्णन होकर भी उत्कृष्ट श्रेणी का निबन्ध है। प्रज्ञा और भावुकता का ऐसा सुन्दर सहयोग कदाचित् ही देखने को मिलता है। उसकी उपमाये कालाश्रित होती हुई भी तात्कालिक-सी जान पड़ती है। संस्कृत-साहित्य का परिपक्व ज्ञान अलग ही बोल रहा है। गाँधीजी का प्रसंग वैसा ही कटुसरस है जैसा शर्बत में मिर्च का स्वाद। उसमें—दृश्य की मनोरमता स्वतःसिद्ध तथ्य नहीं है द्रष्टा की दृष्टि पर ही वह बहुत कुछ आश्रित रहती है—इस दार्शनिक तत्त्व की व्यञ्जना बड़े अच्छे ढंग से की गई है।

यद्यपि विहार-योजना और उपभोगसामग्री प्रपात और सरिता की अतुल रमणीयता की माँग पूरा-पूरा पूरी कर रही थी, तथापि वह 'जलविहार' सात्त्विक शान्तिमय एवं प्रसन्न यौवनमय था। क्योंकि वासना के पङ्क से मलिन न होकर वह निष्काम था, उसके वर्धमान उत्तरोत्तर उत्कर्ष का कोई अपकर्षक नहीं था, वह व्यक्ति-सम्बन्ध के कारण परिच्छिन्न न होकर अपरिच्छिन्न था, सरस था।

विशुद्ध कला के मार्मिक पारखी लेखक ने कला के पैरों में से उपयोगिता की बेड़ियाँ कटवा देने की जो ज़बरदस्त वकालत की है वह उसका पक्षपात नहीं सूचित करता, बल्कि कला और उपयोगिता की कबसे उलझी गाँठ को सुगमता से सुलझाने का एक नया रास्ता बतलाता है।

भाषा भावानुरूप होकर भी सरल है। वक्रता लाने का प्रयत्न नहीं किया गया है। कहीं-कहीं सरलता लाने की जो बोलती चेष्टा है उसने भाषासौष्ठव को बिगाड़ा नहीं बनाया ही है। लेखक की प्रगतिशीलता और राजनीतिक चेतना इस प्रपात-वर्णन में भी अनुपस्थित नहीं है।

फूलवालों की आखिरी सैर

पिछले जाड़े में मिर्ज़ा रौशनबख़्त परलोक सिधार गए। सन् १८४३ की पैमाइश थी। दिल्ली के अन्तिम सम्राट् बहादुर शाह के चहेते बेटे शाहरुख ने एक डोमनी को घर मे डाल दिया था। रौशत मिर्ज़ा उसके ही पेट से थे।

सच पूछो तो अब दिल्ली का नाम ही नाम है। वह दिल्ली तो अब सपनापुरी हो गई, जहाँ कभी भारत के सिरताजों ने कंचन लुटाया था। अगर ईंट, पत्थर और गारे के ढेरो का नाम दिल्ली है, तो वह अब भी मौजूद है। पर, अगर दिल्ली हमारे वैभव और गौरव का स्मृतिस्तम्भ और हिन्दू-मुसलिम का मिलन-मन्दिर थी, तो अब वह मिट चुकी। इतिहास के कुछ अस्त-व्यस्त पन्ने और कुछ चलचलाव की तैयारी करनेवाले बूढ़े, उस 'दिल्ली' की यादगार है। मिर्ज़ा रौशनबख़्त उस टिमटिमाते हुए दीपक के दाग थे, जो बहादुर शाह के साथ ठंढा हो गया। इसमे शक नही कि जब उन्होने होश सँभाला, तो मुगल राजवंश के सूरज का तेज ढल चुका था; तो भी उन्होने वे दिन देखे थे, जब हिन्दुस्तान वेजान न हुआ था; और उसकी आत्मा 'दिल्ली' मे वसती थी।

मुझे मिर्ज़ा साहब से मिलने का सौभाग्य कई वार प्राप्त हुआ।

शाम को कुदसिया बाग के खँडहरों में टहला करते थे। ८७-८८ वर्ष की अवस्था थी, भौंएँ तक सफेद हो गई थीं; मगर पुरानी हड्डियाँ थीं। बाल बाँका न हुआ था। हाथ में जामुनी लाठी लिए, चौगोसिया टोपी पहने, दो वन्दी अँगरखा उठाये, मजे में चल-फिर लेते थे।

दिल्ली की उतरती कला का चित्र मिर्ज़ा साहब के दिल पर खुदा हुआ था। मैं सलाम करके चुपचाप उनके पास जा बैठता। किसी सुननेवाले की देर थी, फिर मिर्ज़ा किसके रोके रुकते। किसी भी विषय पर बातचीत आरम्भ हो वे उसे खींचकर बहादुर शाह और किले तक ले जाते और वहीं खतम करते थे। शेर-शायरी का चर्चा छिड़ा, और उन्होंने 'जफर' की कसक-कहानी सुनाकर खुद रोना और दूसरों को रुलाना शुरू किया। संगीत का नाम आया तो उन्होंने तानरस खाँ के गाने और मिर्ज़ा काले के सितार की तारीफ के पुल बाँधे; गरज़ दिल्ली क्या थी, बूढ़े मिर्ज़ा के लिए गुणों की खान थी, जहाँ फरिश्ते बसते थे और जिसका हर मकान तिलस्म से कम न था।

एक दिन मिर्ज़ा साहब को मैंने बहुत उदास पाया। बहुत जब्त करने पर भी, धुँधली आँखे आँसुओं का भेद न छिपा सकीं। मैंने पूछा तो पहले तो उन्होंने उड़ाना चाहा, फिर कहा—"मियाँ, आज आगा मिर्ज़ा कुछ लोगों के साथ, 'फूलवालों की सैर' के लिए राजासाहब से चन्दा माँगने गए थे। मुझे मालूम हुआ तो दिल पर गहरी चोट लगी। आज हम ऐसे हो गये कि मामूली रईसों के आगे हाथ फैलाते फिरें!"

मैं सन्नाटे में आ गया; मिर्ज़ा साहब भी ठंडी साँस भरकर चुप हो रहे—मगर कब तक? पान की डिबिया से एक बीड़ा निकाल कर मुंह में रख लिया, और कहा—"मियाँ, 'फूलवालों की सैर' का तुमने बड़ा नाम सुना होगा। अब उसमें क्या धरा है; हाँ, उसके भी कोई दिन थे। आज मैं तुम्हें गदर के दो साल पहलेवाली सैर का हाल सुनाता

हूँ। अब हम भी कमर कसे बैठे है, मालूम नहीं कब कूच का परवाना आ जाय। फिर यह बातें सुनानेवाला शायद ही कोई मिले,

ज़माना बड़े शौक से सुन रहा था,
हमीं सो गये दास्तां कहते-कहते।"

मिर्ज़ा साहब अब इस संसार मे नहीं है, तो भी उनकी भर्राई हुई आवाज़ मेरे कानो मे गूँज रही है और वह शब्द-चित्र आँखो के आगे है। आज यह धरोहर पाठकों की भेट करता हूँ।

बहादुरशाह और उनके बाप मे बड़ी नोक-झोंक रहती थी। दोनो एक दूसरे की आँख मे खटकते थे। अकबर शाह ने बड़े यत्न किये कि उनके चहेते बेटे मिर्ज़ा जहाँगीर, उनके बाद गद्दी के वारिस हों, और बहादुरशाह यों ही रह जाँय, मगर एजेण्ट मि० स्टीन ने उनकी एक न चलने दी। न्याय का दामन हाथ से न जाने दिया। मिर्ज़ा जहाँगीर बड़े मुँहफट और ठेठ उजबक थे। स्टीन साहब की अड़ंगा नीति से आग बबूला हो गये, और भरे दरबार में उन्हें "लूल्ह है बे!" कहकर तमंचा चला दिया। एजेण्ट ने उन्हें बँधवा कर इलाहाबाद भिजवा दिया। इस पर मिर्ज़ा की माँ मुमताजुन्निसा बेगम ने कुतुब साहब की दरगाह मे एक मानता मानी कि अगर मेरा बेटा वापस आ गया तो चादर और फूलों की छपरखट चढ़ाऊँगी। उनकी कामना पूरी हुई, मिर्ज़ा जहाँगीर बन्धन-मुक्त होकर लौट आये। बेगम ने मानता की चादर कुतुब भिजवाई, बड़े ठाट-ठस्से रहे। दिल्लीवाले एक तो ऐसे ही रँगीले ठहरे, इसी बहाने मेला रच लिया। महरौली में हिन्दू-मुसलमानों की ऐसी रेल-पेल हुई कि कभी देखी न सुनी। फूलो की मसहरी के साथ लोगो ने एक ऐसा मनभावन फूलों का पंखा भी रख दिया, जो बादशाह को बहुत सुहाया। तब से यह दस्तूर हो गया कि भादो चढ़े मुसलमान दरगाह पर और हिन्दू योगमाया के मन्दिर पर फूलों का पंखा चढ़ाते थे। देखने में

तो यह एक तमाशा था, पर वास्तव में हिन्दू-मुसलिम एकता की यह भी एक सीढ़ी थी। मेले-ठेले के बहाने हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे से मिलते, हँसते-खेलते और दुख-दर्द मे शरीक होते। एक मन्दिर के आगे शीश नवाता, तो दूसरा दरगाह के आगे झुकता। अकबर ने सांस्कृतिक एकता का जो सोता बहाया था, और अबुलफ़ज़ल सरमद व दाराशिकोह ने जिसे अपने खून से पनपाया था, उसकी एक लहर अब भी बह रही थी। 'फूलवालों की सैर' इसी का दिग्दर्शन था।

जब बहादुर शाह सिंहासन पर विराजे, तो हिन्दू-मुसलमानों का नाता और भी मजबूत हुआ। अभागे सम्राट् के शरीर में अकबर और दारा की आत्मा प्रकाशमान थी। बहादुर शाह की माँ किसी रजपूत की लड़की थी, जिसका नाम 'लाल बाई' था। इसीलिए दोनों जातियाँ, उसकी दोनों आँखे थीं। होली और दिवाली में लाल किले में वैसी ही चहल-पहल रहती थी, जैसे ईद और शबेरात में। 'फूलवालों की सैर' उस पावन प्रेम का मधुर सम्मिलन था; इसीलिए किसी त्योहार में ऐसे ठाट न रहते थे। आज हम उसी सैर का अन्तिम दृश्य देखेंगे।

सन् १८५५ का सावन न भूलेगा। मेह ऐसा बरसा कि जल-थल एक हो गये। या तो बरसता ही न था, और जो बरसा तो ऐसा कि जल-प्रलय की याद ताजी हो गई। फिर भादों आया। फुहार थी या रूई के गालें, मतवाले बादल हाथियों जैसे झूमते थे। इन्हीं दिनों 'सैर' की तारीख का ढिंढोरा शहर में पिटा। दिल्लीवालों के दिल की कली खिली। तैयारियाँ तो महीनों से हो रही थीं; अब लोगों ने जोड़े तोड़े का हिसाब ठीक किया।

इधर लाल किले की चहल-पहल का ठिकाना न था। पूर्णिमा को पंखा चढ़ेगा; आज एकादशी थी। कम-से-कम तीन दिन पहले किलेवाले निकले तो मजा आये। फिर शहर वाले आ जायँगे तो रंग मे भंग हो जायगा।

बहादुरशाह तसबीह खाने में बैठे थे कि राजदुलारियों और शाहजादों ने आकर घेर लिया। नजराने गुजारे, और दबी आवाज में पौ फटते कूच की अनुमति माँगी। बादशाह ने हँसते-हँसते हामी भर दी। हाँ, कहने की देर थी; फिर तो आमोद की नदी ऐसी उमड़ी कि कुछ न पूछिए। इधर चूड़ीवालियों ने रातो रात कलाइयों को सँवारा, उधर रंगरेजियों ने दुपट्टे रँग दिये, कढ़ाइयाँ चढ़ गईं, मालिनों ने गजरे बनाये। अन्ना ने कामिनी मूरतों को सिंगारदान के आगे बिठलाया। बाँदियों ने पोर-पोर मेंहदी रचाई। किसी शाहजादी ने बाँदी को झिड़क कर कहा—"आग लगे। मेरे हाथ में चूर डाल दिये। लो बुआ, देखना मेरे हाथ तो कच्चे लहू हो गये।"

दूसरी ने मुँह बिचका कर कहा—"बाजी! जरा इनकी बातें सुनो। हाथ बीर बहूटी हो गये, फिर भी इन्हें चैन नहीं।"

तीन का गजरा बजा होगा कि सवारी का बिगुल बजा। लाहोरी दरवाजे के आगे पालकियाँ, डोलियाँ, सुखपाल और रथ मोतीमहल के आगे आ खड़े हुए। अब इस महल का निशान तक बाकी नहीं; गदर के बाद नींव तक खुद गई। हाँ, तो तुरकिनों और गुजरनों ने रास्ते बन्द कर दिये। बेगमें और राजकुमारियाँ सवार हुईं। अब यह समाँ है कि हर सवारी के साथ हबशिनों और तुरकिनो के झुण्ड मोटे-मोटे होंठ, लाल लाल दीदे, सातों हथियार बाँधे, सिर पर आड़े मुँड़ासे घोड़ों पर सवार रवाना हुईं। सबसे पीछे अरदाबेगनियो की पलटनें मशाले और पनशाखे लिये, यामिनी मे दामिनी की जोति जगाती हुई साथ-साथ है। बेगमों का हाल है कि गेदई, धानी, सुरमई या गुलनारी जोड़ा भारी दाम का पहने, आबेरवाँ या शबनम के दुपट्टे, जिनपर मोतियो या सलमे-सितारे की लोई टकी हुई। जीनतमहल के सुखपाल के साथ गुजरने मोरछल और चँवर लिये अदब से "निगाह

रूबरू हजरत बादशाह बेगम सलामत" कहती दौड़ रही हैं। हर डोली या पालकी के साथ "अल्लाह अमान" का शोर उठता है।

अभी ऊषा ने अरुणकुमार के बंधन खोले ही होंगे कि दीवाने-खास से बादशाह की सवारी निकली। बहादुरशाह खुद हवादार में सवार हैं। दो चोबदार छत्र और सूरजमुखी लिये दौड़ रहे हैं। पीछे युवराज और दो तीन चहेते राजकुमार तामजाम और तख्तरवाँ पर बैठे हैं। दिल्ली दरवाजे तक सिपाहियों के परे नंगी तलवारें लिये खड़े हैं। अब जुलूस का नकशा ऐसा रहा कि सबके आगे निशान का हाथी, उस पर शाही झंडा, फिर नक्कारे का ऊँट और तुर्क सवारों की पल्टन, रिसाले के बाद रौशनचौकी, फिर राजकुमारों के घोड़े पीछे बादशाह का हवादार और फौज का परा। बाद मे किले के नौकर-चाकर और मशालची।

बाजारों और सड़कों पर आधी रात से लोगों के ठठ के ठठ जमा थे। पनवाड़ियों ने तोरन बाँधकर छिड़काव कर दिया था। महरौली तक हरकारों की डाक बैठी हुई थी। घोड़ों पर गंगा-जमनी साज, पुट्ठों पर पाखरें, पाँव में झाँझन, सिर पर सुनहरी कॅलगी पड़ी हुई—"हटो! बचो! महाबली बादशाह सलामत" की आवाज लगाते हैं। इधर खासबरदार, शोरे की सुराहियाँ लिए कहार पंखा, आफ़ताबी संभाले, साथ-साथ दौड़ रहे हैं। सोने की थालियों मे रुपये भरे हुए हैं, जिन्हें बादशाह मुट्ठियाँ भर-भर कर लुटाते हैं, यहाँ तक कि कंगाल मालामाल हो गए। दोनों तरफ से स्त्रियाँ आशीष देती है, तो बादशाह हिंदुओ को हाथ जोड़कर और मुसलमानों को झुककर जवाब देते हैं।

जुलूस हुमायूँ के मक़बरे और निज़ामउद्दीन औलिया होते हुए झरना पहुँचा।

झरना का ज़िक्र करो, तो दिल में टीस-सी उठती है। यह भी महरौली का एक टुकड़ा था। चारो तरफ शाही इमारतें; उधर अमराई, इधर झरने में जैसे अमृत छलक रहा है। फ़ौवारे चल रहे है, हरियाली

ऐसी छाई है कि जैसे आकाश की नीलिमा प्रकृति ने चुरा ली हो। अब तो झरना सूख गया; सूखे ठुंड रह गये, महल खँडहर हो गये। जहाँ कभी श्यामा और पपीहे बसते थे, अब उल्लुओं का बसेरा है।

सवारियों का ठहरना था कि राजकुमारियाँ झपाझप उतर पड़ीं। हरी बनातें पड़ी हैं और बछरा पलटन के नन्हें-नन्हें सिपाही अंदर पहरा दे रहे हैं। इधर मालिनें फूलो के कंठे गूँथ रही है, बगीचा मधुमालती और मौलश्री की सुगन्ध से महक रहा है। उधर ऊदे-ऊदे बादल उमड़ उमड़ कर आते है। बुलबुलों की चहक, कोयलों की कूक और मयूरों की झनकार—फिर अलबेली राजकुमारियाँ कब चुप बैठती ? अमराई में डाल-डाल पर रेशमी झूले पड़ गये। उधर पेंगे बढ़ीं, इधर पेड़ों के नीचे अलाव बना कर पकवान बनने शुरू हुए। बाँदियो ने अन्दरसों और फुलकियों के मजे दिखाये; वहाँ शाहजादियों ने पैर जोड़कर ऐसे लम्बे लम्बे झोके भरे कि बिरहियो के हृदय की धड़कन भी बंद हो जाये। बहादुरशाह भी एक ही रसिक थे। कहा—"दिलदार खानम और टेढ़मुँही खानम को बुला लाओ !" वह बेचारियाँ पानी मे शराबोर कपड़े निचोड़ती, कनियाती-कतराती आ पहुँचीं। उस समय इन्होने संगीत मे बड़ा नाम निकाला था। समय-काल को खूब पहचानती थीं। मत्त मयूरो की तरफ देखकर ऐसा मलार अलापा कि प्रकृति संगीतमय हो गई। फिर शाहजादियो ने अपनी रसीली ताने मिलाईं, तो गजब ही हो गया—

"झूला किन डारो रे अमरियाँ—झूला किन डारो रे अमरियाँ
रैन अँधेरी, ताल किनारे, मोर झँकारे, बादर कारे,
बरसन लागी बुँदियाँ, फुइयाँ फुइयाँ।
दो सखी झूले दो ही झुलाएँ, चार मिल गइयाँ भूल भूलइयाँ
झूला किन डारो।"

पत्तो-पत्तो से, कन-कन से "झूला किन डारो" की आवाज़ आने लगी।

झूला बंद हुआ तो शाहज़ादियाँ अमराई पर टूट पड़ीं। अब यह हाल है कि कुछ खाती हैं, कुछ फेंकती हैं, किसी को काँटा चुभा, कोई धम से नीचे आ पड़ी। अन्नाएँ बिलबिलाते हुए पीछे हैं, कहती हैं—"मैं वारी! कीड़े-मकोड़ों का डर है, कहीं चोटीवाला न छिपा हो। नहीं तो इस बुढ़ौती में उलटे उस्तरे से यह सफेद चोंड़ा मुड़जाये"! मगर यहाँ अठखेलियों, ठठोलियों से किसे फुरसत है। कोई कहती है. 'बुआ! क्या! लकाझक सुनहरी जोड़ा निकाला है, काली गोट से कलेजी फेफड़ा किया है! अलमबरदार की क़सम! वह डुपट्टा सदके का है।' किसी अनेली को हमजोलियाँ नक्कू बना रही हैं। कहीं गुठलियों की फेकाफेंक हो रही है। थोड़ी देर में कपड़ों की रंगत बदल गई।

शाम हुई तो धमाधम झरने में कूद पड़ीं। कोई डुबकी खाती हैं तो कोई तैरती हैं। पानी किसी के कमर भर है, तो किसी के गले-गले। कोई कीचड़ में लथपथ है, तो कोई कलाबाज़ियाँ खाती है। फिर सबने बाहर निकल कर जोड़े बदले, बनाव सिंगार किया।

इतने में सूर्यास्त की तोप दगी, रात के खाने की पुकार हुई दस्तर खान के चारों ओर मक्खियों से बचने के लिये बारीक जाली का परदा तान दिया गया। बीच में चंदन-चौकी बिछी, जिसपर बहादुर विराजे। अहलू-पहलू शाहजादियाँ और बेगमें बैठीं, आमने सामने शाहजादे बैठे। गुलाबपाशों से केसर और केवड़े की लपट उठ रही है। बावरचीखाने की चौधराइन बैठी सोने चाँदी के थालों की मुहरें तोड़ सब पकवानो को निहार रही है। सबकी आँखें नीची हैं क्या मजाल जो पलकें उभरें! बादशाह कभी अपने सामने से किसी राजकुमार को 'अलश' देते, तो वह सहमा सहमा आगे आता; और मुजरा करता। किसी राजकुमारी को हिस्सा मिलता, तो वह लजाई चितवनों को दाएँ-बाएँ फेंकती आदाब बजा लाती। पकवानों के नाम कहूँ, तो

घंटे बीत जायँ। पुलाव कई किस्म के थे—इरानी, नूरमहली, नरगिसी, मोती और जाने क्या-क्या। रोटियों में हवाई चपातियों से लेकर नान-तुनक और नान-गुलजार तक की भरमार है, आमों और कढ़ावचढ़ों से ही सब सेर हो चुके थे, अब पेट में जगह कहाँ थी, चुप मुँह झुठ-लाकर उठ गये।

अब रात की बहार कुछ न पूछो। शम्सी तालाब के किनारे लाल-लाल कँवल जगमगा रहे हैं। पेड़ पौधों में कुमकुमे जुगनू जैसे जगर मगर कर रहे हैं, वह देखो, रोशनचौकी का गश्त इस ठाट से निकला है, जैसे तानाशाह की बारात हो। कहीं तानरसखाँ अलाप ले रहे है, तो कहीं 'बुलबुलहजारदास्ताँ' की चहक दिल में चुटकी लेती है, इधर कुछ ढीठ राजकुमारियाँ चन्दन की नौकाओं पर बैठी पानी में उतरीं तो मालूम होने लगा कि वरुणकुमारियाँ जलक्रीड़ा कर रही हैं। कहीं कहानी हो रही है, तो कहीं आँखमिचौनी या पहेलियाँ बूझी जा रही है। सारांश यह कि दो दिन इसी राग-रंग में काटे। दूसरे दिन शाम को कनकव्वे लड़े। जान पड़ता था, इन्द्रधनुष के टुकड़े हवा में उड़ रहे हैं। कोई कलेजाजली उड़ाता है, तो कोई कलचढ़ी, दोपन्नी या तुक्कल। किसी की पतंग ठुमकियाँ भरती है, कोई हत्थे पर से उखड़ गई, कोई चकरा रही है। इसके बाद तालाब पर तैराकों का मेला लगा। कोई कुरसी बनाये तैरता है, तो कोई पलथी मारे हुक्का गुड़गुड़ाता है। किसी ने जोगिया आसन मारा, तो कोई मेढ़क बना मल्लाही तैरता है। ऐसे ऐसे कमाल दिखाये कि बादशाह भी फड़क उठे, और जी खोलकर रुपया लुटाया।

तीसरा दिन सैर का आया। दो दिन पहले से ही दिल्ली खाली होने लगी थी, और आज तो वहाँ कोई मरदुवा देखने में न आता था। अजमेरी दरवाजे से लेकर कुतुबसाहिब तक दाएँ वाएँ दूकानें लग गईं, और ऐसी भीड़ हुई कि खावे से खावा छिले। रईसों की पाल-

कियाँ, जवानों के घोड़े और नरतकियों के रथों ने अजीव तमाशा दिखाया! रथों पर सुनहरी कलस, कलावत्तू के डोरे और ज़रदोज़ी के फूल, जिनमें नागौरी पासे फँदे हुए, घोड़े गंगाजमनी गहने-पहने, गुँधी हुई अयालें बिदकाते, रेशमी बागडोर के साथ टाप मिलाते चले जाते है। और महरौली के बाजार का हाल न पूछो। दूकानें दुलहन वनी हुई है। गमलों में गेंदा, सूरजमुखी और मदनमस्त पड़े मँहक रहे हैं। हिंदुओं ने कदली-खम्भों के शामियाने तान दिये हैं। एक तो दिल्ली के दूकानदार आवाज़ा लगाने में यों ही उस्ताद होते हैं, और आज तो उन्होने आसमान सिर पर उठा रखा है। कोई ककड़ी की तारीफ मे कहता है,—"लैला की पसलियाँ है, मजनू की उँगलियाँ हैं।" कोई जामुन को दिखला कर कहता है,—"काले भौंराले नून के बताशे हैं जी!" एक वेर वाले ने तो सितम ढा रखा है, कहता है—"प्यारी लाडो ने तोड़े है वेर! घूँघटवाली ने तोड़े हैं वेर!"

तीसरे पहर पलटनों ने पहरावंदी कर दी। बजार में हल्ला हुआ कि वादशाह फातिहा को दरगाह जाते है। इतने में तोपखाने ने सलामी उतारनी शुरू की, शाही जुलूस निकला। आगे आगे निशान के दोनों हाथी सूँड़ से लोगों को सलाम करते जाते हैं। कारचोबी की झूल गंगा-जमुनी सेहरा जगमगा रहा है। पीछे कई हाथियों पर मुगल सम्राटो की विजय-पताकाएँ लहरा रही है। बाद मे ऊँटों पर नौवत बज रही है। घुड़सवार दो दो की कतार बनाए नंगी तलवारे लिए चले जा रहे है। वहादुरशाह जरवफ्त की मसनद पर हवादार मे सवार है, अंदर पंखा भी खिच रहा है। बादशाह मोतियों का कंठा और हीरे व माणिक की माला गले मे डाले हैं, हीरे के भुजबंद, नौरत्नों की सुमरन, चौरासी मणियों का मुकुट सूरज की आँखों को चौंधिया रहा है। सवारी के पीछे सैकड़ों खवास, नक़ीव और चोबदार एक-सी वरदी पहने, 'हटो-वचो' की आवाज़ लगाते चले आते हैं। बाद में राजा

रईसों की सवारी बड़े आनबान के साथ चली आती है। यह जुलूस बाजारों में होता हुआ दरगाह पहुँचा, और वहाँ से फिर 'झरना' लौट आया, जहाँ सब लोग पंखे का तमाशा देखने के लिए शाही महलों मे बैठ गये।

झुटपुटे के समय शाही पंखा निकला। यह सोने का बना हुआ है, नीचे सच्चे मोतियों की झालर है, ऊपर सोने का मोर है, जिसकी दुम में रंग विरंगे जवाहिरात जड़े हुए हैं। ऊपर फूलों की चादर है, और सामने फूलों की छड़ियाँ हैं। आगे शहनाई बजती है। साथ ही भिश्ती ताल मिला कर इस ढब से कटोरे बजाते है कि जलतरंग का धोखा होता है। आतिशबाज़ी छूट रही है, और केवड़ा जल व गुलाब जल का छिड़काव ऐसी बहुतायत से हो रहा है, जैसे गुलशन जुलूस पर साया करते हवा मे उड़ा जाता हो।

इतने मे शहरवालों के पंखे आने शुरू हुए। आगे-आगे ढोलताले-वाले, पीछे सुनहरे फरेरे लहरा रहे है, जिनके सिर पर अबरक के दीपक जगमगा रहे है। पीछे पुलिस के जवान, छाती फुलाए चले जाते हैं। इनके पीछे नौबतखाना और अखाड़ों के पट्ठे हैं। बाँके तिरछे जवान, मछलियाँ फड़काते, डंड निकालते, गदका-फरी और तलवार व बिनवट के हाथ दिखलाते जा रहे है। अब पीछे आँखे डालो तो भाँति भाँति के बाजे वायु-तरंगो को अपने इशारो पर नचा रहे हैं। उधर कटोरों की छन-छन के जवाब मे डंडवाले खट-खटाखट की गत मिला रहे है। पीछे नर्तकियो के झुंड तख्तेरवाँ पर खड़े नाच रहे है। आखिर मे फौजी सिपाहियो ने घेरा डाल दिया है, मगर सैलानियों की ऐसी अटूट भीड़ है कि थाली सिर-ही-सिर चली जाय। सभी निराली सजधज बनाए, ठेलम ठेला करते टूटे पड़ते है। दूकानो और छज्जो पर ऐसी भीड़ कि मकानो की चूल ढीली पड़ गई है। चारो ओर से फूलों

की लपट उठती है, जिधर देखिए फूलों के वारह आभरन महक रहे हैं। सबके पीछे फूलों का अनोखा पंखा देख कर यह गुमान होता है। कुसुमवेल की बारात निकली हो। सारे बाजार में ऐसा प्रकाश जगमगा रहा है, जैसे सोने की लंका जल रही हो। प्रकाश, संगी, सौंदर्य—इन तीनों के मेल ने ऐसी त्रिवेणी बहाई है कि इन्द्रलोक पर भी ओस पड़ जाय।

किसी रसिक को देखकर बाजेवाले एक घड़ी खड़े होकर अपना कमाल दिखलाते हैं, तो वह मुट्ठियाँ भर-भरकर इनाम देता है। इस प्रकार जुलूस धीरे-धीरे शाही दरवाजे के आगे आ खड़ा हुआ। बेगमों और राजकुमारियों के लिये चिकें पड़ गईं। बादशाह बारहदरी मे आकर बैठ गये। अब हर कोई जान तोड़कर अपने करतब दिखाने लगा। मिर्जा गौहर के शागिर्दों ने सितार पर 'दरबारी' की ऐसी गत बजाई कि समाँ बँध गया, हर तरफ से 'वाह वाह' की आवाज़ आने लगी। बादशाह ने मोती की माला उतारकर दे दी। कटोरेवालों ने ऐसी मुबारकबाद बजाई कि सब लोग लोट गये; वह भी अशरफियों के तोड़े पाकर निहाल हो गये। अखाड़ेवालों ने भी ऐसे हुनर दिखाये कि सब दंग हो गये। एक लठैत पर चारों तरफ से पत्थर पड़ रहे हैं, मगर उसने लकड़ी से ऐसा चच्चर बनाया कि सब टकराकर उचट पड़ते हैं। कोई रेशमी रूमालों को तलवार की काट से टुकड़े टुकड़े कर देता है। किसी को दुशाला मिला, तो किसी को सुनहले रुपहले कड़े। इतने में पंखा सामने आया तो शहर के रईसों ने मुजरा किया। सबको इत्र-पान मिला, गुलाब छिड़का गया। युवराज ने पुष्पहार पहन कर सबको बिदा किया। पंखा आगे बढ़ा, तो राजघराने के लोग साथ साथ हो गये। मुसलमानो का पंखा दरगाह गया, हिन्दुओं का पंखा योगमायाजी के मंदिर पहुँचा। आधे राजकुमार इसके साथ आधे उसके साथ। बादशाह

किसी के साथ न गए, क्योंकि दरगाह जाते तो हिंदू बुरा मानते, मंदिर जाते तो मुसलमान बिगड़ते। मुसलमानों ने हठ की तो बादशाह ने साफ कह दिया, "अमां! यह कैसे होगा! तुम्हारे हिन्दू भाई यही कहेंगे कि मुसलमान था, मुसलमानों के पंखे मे शरीक हुआ। हमें गैर समझा। ना, अमाँ, ना, जैसा एक के साथ करना वैसा दूसरो के साथ करना। आतिशबाज़ी मे हिंदू-मुसलमान दोनों आते हैं तो हम भी चले चलेंगे।"

आधी रात तक दोनो पंखे चढ़ा कर हिंदू-मुसलमान सीधे शम्सी तालाब पहुँचे। थोड़ी देर में बादशाह आये और राजा रईसों के साथ महताबी में जुलूस किया। सैलानी तालाब को घेर कर बैठ गए। पानी मे सैकड़ों बजरे और डोंगे पहले से तैर रहे थे। अब शाही आतिशबाज और शहर के आतिशबाज आमने सामने आ खड़े हुए, और जल-युद्ध आरम्भ हो गया।

थोड़ी देर में आकाश पर रंग बिरंगे तारे झिलमिलाने लगे। वायु-मंडल में सैकड़ों चाँद और सूरज तैरने लगे। हवाइयाँ, लट्टू, छल्ले और बान इस जोर से उड़ते थे कि कान सुन्न हो गए। इधर पानी मे बारूद के जहाज छूटे। उनमें अनार, महताबियाँ और छछून्दर उड़ते, तो अनूठा दृश्य दिखाई देता था। इस चमक-दमक और धूएँ के बादलों को देखकर दावानल का संदेह होता था। फिर दोनों एक दूसरे से सट गये, और अपनी अपनी कारीगरी दिखाई। ऐसे ऐसे अनार छूटे, जैसे हरे पेड़ो में आग लगी हो, और वह जल-जल कर हवा मे कूदते और फिर गिर पड़ते हों। नसरी ऐसी छोड़ी कि सौ सौ वार मरकर उठे, और रह रहकर साँस ले। दो वजे तक यही सिलसिला रहा, तव कहीं मनमाना इनाम पाकर सव लोग प्रभात वेला अपने-अपने ठिकाने लौटे।

जब आँखें खोलीं तो मेला बिछुड़ चुका था। फूल वालों की सैर का अन्त हो गया था।

× × × ×

वह दिल्ली क्या हुई; वह धनवैभव, वह भाई चारा, वह सहानुभूति, वह समवेदना कहाँ गई; वह हँसते हुए मुखड़े, वह प्रेम की उमङ्गें, वह हर्ष की तरंगें कहाँ है ?

फूलवालों की सैर अब भी होती है, दूकानें अब भी लगती हैं, लोगों का जमाव अब भी होता है। भादों की बौछार अब भी आती है। काले बादल अब भी गुदगुदी करते हैं, अमराई में कोयल की कूक से अब भी दिल में हूक उठती है। मगर अब वह प्रेरणा, वह भावना कहाँ है, जिसने फूलवालों की सैर को सच्ची राष्ट्रीयता की झाँकी बना दिया था ? वह फूल कहाँ हैं, जो हिंदू-मुसलमानों को एक माला में गूँथ देते थे ? वह बिजन कहाँ है, जो भारत-माता के जख़मी दिल को ठंडा करता था ? वह 'झरना' कहाँ है, जो भारत की सांस्कृतिक एकता का सोता था ? वह 'ज़फर' कहाँ है, जिसकी छत्रछाया ने राष्ट्रीयता का पौधा खिलते-खिलते हठात् मुरझा गया।

वह फूल मुरझा गये, वह गलहार क्षत-विक्षत हो गया, वह सोता सूख गया, वह 'ज़फर' अनन्त निद्रा में लीन है।

अरे बेख़बर 'फूलों की चादर' क्यों चढ़ाता है,
तमन्ना फूटकर रोई थी जिसपर यह वो तुरबत है !

फूलवालों की आखिरी सैर

अख्तरहुसैन रायपुरी की यह रचना सफल निबंध है। सफल निबंध शुद्ध साहित्य के भीतर आता है। निबंध में साहित्यसुलभ भावों की रमणीयता और बरबस मन को लुभानेवाली भाषा की लुनाई दोनों हैं। इसमें चुभन इतनी अधिक है कि 'समझदार' के दिल पर गहरी चोट लगती है। भाषा में ऐसा जादू है कि अतीत का चित्र सा खिंच जाता है।

सफल साहित्यिक निबंध भी दो प्रकार का होता है एक काव्यमय और दूसरा आलोचनामय। काव्यमय निबंध ही अच्छा निबंध है। ऐसे निबन्ध का यह पहला लक्षण है कि उसमें ऐसी विविध और बारीक जानकारी की बातें रहें जिनसे हृदय का कुतूहल भी शान्त हो और आनन्द की अनुभूति भी हो। जिस प्रकार दो मित्रों की स्नेहभरी बातचीत में किसी निर्दिष्ट विषय का अभाव रहने पर भी ज्ञातव्य बातों की बहुलता रहती है, असंबद्धता में भी एक संबंध सूत्र चला करता है और उल्लास उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है; उसी प्रकार काव्यमय

निबन्ध में ज्ञातव्यों की विविधता के साथ रमणीयता रहनी ही चाहिए। कहानी में जो स्थान घटना का है निबन्ध मे वही स्थान जानकारी के विस्तार का है। इस निबन्ध में यह गुण पर्याप्त मात्रा में है। यह मज़ेदार बातों की 'खान' है, इसकी हर एक बात तिलस्म से कम नहीं है।

अच्छे निबन्ध का दूसरा गुण है शैली और भाषा की रोचकता। सौम्य और समर्थ शैली के बिना निबन्ध प्रभावक हो ही नही सकता। प्रस्तुत निबन्ध की शैली में इसीलिये इतना प्रभाव है, क्योंकि वह बड़ी अनुरूप, सरल, सौम्य और प्रवाहमय है। सब बातें सीधे हृदय तक पहुँच जाती है। भाषा की नफ़ासत भी वैसी ही है जैसा उसका दिलकश मज़मून। ऐसी शैली और भाषा पर मुग्ध होकर ही आलोचक कह बैठते हैं—रीतिरात्मा काव्यस्य। शब्द एव काव्यम्। शैली ही साहित्य की आत्मा है। भाषा ही साहित्य है।

बातों की लड़ियाँ ऐसी गुथी हुई हैं कि उनके बीच के अलंकार-उत्प्रेक्षाएँ और उपमाएँ—शाही जमाने के इलाक़ेबन्दों की याद दिलाते हैं। कहीं-कहीं तो भाषा ऐसी संगीतमय है कि उससे अर्थ की प्रतिध्वनि निकलती है। प्रसंग और रस की ढाल पर उतरती हुई भाषा सहृदय पाठक को मस्त कर देती है। उसमें बनाव सिगार काफी है पर बनावट तनिक भी नही।

वर्णनीय में और वर्णनशैली मे ऐसा चमत्कार है कि आँखों के आगे खिंच गये चित्र पर आँखें तरस की दो बूँदें बिना ढाले मुँदती ही नहीं। मुँदती भी हैं तो बहुत देर तक उन्हीं बीते दिनों की कहानी कानों मे गूँजा करती है।

निबन्ध की तीसरी विशेषता है व्यंग्य और विनोद की देन। निबन्ध में विनोदशीलता तो पर्याप्त है ही, आदि से अंत तक एक छिपा हुआ व्यंग्य भी है।

भारत के मुसलमानों पर, साम्प्रदायिकता पर, और दिल्ली की उतरती हुई दशा पर। मिर्ज़ा के चित्रण में व्यग्य की रेखा साफ साफ देख पड़ती है।

निबन्ध का चौथा गुण है आत्मीय राग। निबन्ध में लेखक की आत्मीयता और निजी छाप होनी चाहिए। इस निबध को पढ़ने से ऐसा मालूम पड़ता है मानो हम रायपुरी जी से हिल-मिलकर बातें कर रहे है। वे हमसे दूर नहीं है, हमारे पास ही बैठे हैं। यही आत्मीयता का गुण तो इस निबन्ध का आकर्षण है।

निबन्ध की पाँचवी और सबसे बड़ी विशेषता है प्रभाव की गम्भीरता। निबन्ध मे ऐसा प्रभाव होना चाहिए कि वह सामयिक न होकर चिरस्थायी हो। इस निबन्ध में यह गुण भी है। यह जब कभी पढ़ा जायगा तब इसकी अभिनवता और रमणीयता ज्यो की त्यों बनी रहेगी। इसमें मानव हृदय का चित्र है, कला के शृङ्गार का वह इतिहास है जो देश और काल के परे की चीज़ है। अतीत सौभाग्य की स्मृति वर्तमान अभाव की अनुभूति को इतना तीव्र कर देती है कि करुण हृदय को बिना रुलाये नहीं छोड़ती।

इस निबन्ध के विशेष अध्ययन के लिए इसकी तुलना दूसरे निबन्ध से करनी चाहिए। 'वे दिन कहाँ' में जो मार्मिक टीस है वही इस निबन्ध का स्थायी भाव है, वही सहृदयों को लोट-पोट कर देता है। अन्य बातें रीति, भाषा, वृत्ति, अलंकार आदि भी सबके सब रसानुरूप है। यही निबन्ध की पूर्णता का रहस्य है।

कलाजगत् और वस्तुजगत्

[१]

जब हम 'भारतवर्ष' नहीं, बल्कि 'भारतमाता' कहते हैं, तब इसमें हमारा क्या दृष्टिकोण रहता है? हम मानचित्र उठाकर देखते है तो नदियों समुद्रों, पर्वतों और प्रदेशों का सीमा-विस्तार देख पड़ता है, कहीं कोई मूर्ति नहीं, यह तो एक नकशा है। किन्तु बाहर (वस्तुजगत् में) जो नकशा है, वही हमारे भीतर मातृभूमि की एक जीवित प्रतिमा भी रच देता है और हम गा उठते हैं—

नीलांबर प्रावार हरित पट पर सुंदर है;
सूर्य चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारा-मण्डल है;
बंदी विविध विहंग, शेष-फन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की।
हे मातृभूमि! तू सत्य ही, सगुण मूर्ति सर्वेश की॥

इस प्रकार जब हम मातृभूमि की वंदना करते हैं तब घोर रियलिस्ट

राजनीतिक होते हुए भी भावप्रवण हो जाते हैं, वस्तुजगत् से काव्यजगत् में चले आते है। यही वस्तुजगत् और काव्यजगत् का पार्थक्य ज्ञात हो जाता है। मनुष्य जब जड़ की नहीं, बल्कि सजीवता की उपासना करता है तब वह कवि हो जाता है। हम स्वयं जड़ नहीं, एक जीवित प्राणी हैं; इसीलिए हम वस्तुजगत् को अपनी ही तरह एक व्यक्तित्व देकर देखने के आदी हैं। केवल हाड़-मांस का शरीर ही मनुष्य नहीं है। शरीर तो एक शव है, मनुष्य का एक नश्वर आकार; जैसे देश का नक़शा। उस आकार-प्रकार में मनुष्य की जो आत्मचेतना है, वही उसे जीवित प्राणी बनाती है, वही मातृभूमि को भी भारतमाता के रूप में उपस्थित कर देती है। उसी चेतना के कारण वस्तुजगत् रूप-रंग, रस-गंध और ध्वनिमय है। जड़-सृष्टि (वस्तुजगत्) मे चेतना का अधिकाधिक सरस विकास ही कविता है। कवि जब कहता है—

'धूलि की ढेरी मे अनजान
छिपे हैं मेरे मधुमय गान।'

तब मानो वह पार्थिव जगत् (वस्तुजगत्) मे उसी आत्मचेतना का, शरीर में आत्मा की भाँति आभास पाता है। इस प्रकार कविता, पार्थिव धूलिकणों (लौकिक क्षणों) में अलौकिक चेतना की किरणद्युति है, वास्तविकता के बहिर्मुख पर अन्तर्मुख का 'आनन आप उजास' है।

[२]

कविता का भी अपना एक विज्ञान है। वह केवल कपोल-कल्पना नहीं, बल्कि उसका भी वैज्ञानिक आधार है। हम देखते हैं कि कुम्हार के सामने वास्तविकता (पार्थिवता) की मिट्टी का एक ढेर लगा रहता है, इसे ही वह न जाने कितने आवर्त्तों से एक मंगलघट बना देता है। इस नये रूप में मूल वास्तविकता क्या से क्या हो जाती है। इसी प्रकार वस्तुजगत् को कलाजगत् में परिणत करने के लिये हमारे मन के

भीतर भी न जाने कितने आवर्त्त चलते है—कुम्हार के घूमते हुए चाक से भी अधिक तीव्र गति से। हम आँखों से जिन प्रत्यक्ष दृश्यों को देखते है, उन्हें देखने के लिये, मन को कितनी फेरियाँ देकर आँखो तक पहुँचाना पड़ता है यह वैज्ञानिक जानते हैं। ऐसी ही क्रिया कविता मे भी एक मनोवैज्ञानिक 'रोटेशन' है। कवि को अपनी कला की मूर्ति अंकित करने के लिये, मनोविज्ञान से भी आगे जाकर एक और सूक्ष्मतम विज्ञान की शरण लेनी पड़ती है, वह है भावविज्ञान। साहित्य का रस-शास्त्र वही भावविज्ञान है। काव्य को जब हम अलौकिक कहते हैं, तब हमारा अभिप्राय यह रहता है कि उसमे कवि केवल दृश्य (वस्तु) जगत् का दिग्दर्शक न रहकर कुछ आंतरिक क्षणों का रस-सिद्ध साधक भी रहता है।

[२]

वृक्ष में कोई फूल गुलाब की भाँति अकेला खिलता है, कोई अपनी डाल में गुच्छ बनाकर। छायावाद के वर्तमान कवि अपने-अपने काव्य में एकान्तभाव से एकाकी खिले है, समुदाय को लेकर नहीं। छायावाद और वस्तुवाद अथवा भावजगत् और दृश्यजगत् की कविता विश्व-रंगमंच के अव्यक्त (स्वगत) और व्यक्त (लोकगत) कथन के समान है। इसे हम सवजेक्टिव और आवजेक्टिव भी कह लें। स्वगत में आत्म-लीन किंवा अपने मे खोये हुए क्षणों का उद्‌गार रहता है। सभी के जीवन में ऐसे एकाकी क्षण भी आते हैं, अतएव वे एकान्त उद्‌गार भी कहीं न कहीं, किसी न किसी क्षण, सहृदयों के संवेदन वन जाते है।

कवि जव अपनी चेतना मे वस्तुजगत् को ग्रहण करता है तव वह विचारप्रधान हो जाता है, जब कल्पनाजगत् को स्पर्श करता है तब रसप्रधान। एक मे वह मनोवैज्ञानिक रहता है, दूसरे में भावुक। प्रबंधकाव्य में दोनों का सहयोग रहता है।

कवि वस्तुजगत् में तभी आता है जब वह समुदाय की मनोधारा में अवगाहन करना चाहता है। समुदाय के संगम पर खड़ा होकर वह स्वगत विचार भी करता है और समूहगत भी। किन्तु उसका स्वगत भी समूह की ओर ही प्रवाहित रहता है, यथा, गुप्तजी के 'द्वापर' में। वस्तुजगत् प्रायः प्रबन्धकाव्यों का क्षेत्र है। प्रबन्धकाव्य के मनोविज्ञान में वह भावुकक्षण भी सम्मिलित रहता है, जहाँ व्यक्तिसमूह की विचारधारा से नहीं, बल्कि अपने ही रसस्रोत से अनुरंजित रहता है। दूसरे शब्दों में, वह कल्पना से उर्मिल रहता है। वस्तुजगत् और कल्पनाजगत् का यह संयोग गुप्तजी के 'साकेत' में है, जहाँ वे समूह के कवि के साथ ही छायावाद के भी कलाधर हैं।

हाँ तो, वर्तमान छायावादी अपने भाववृन्त में आत्म-व्यंजक है, गुप्तजी इत्यादि विश्वव्यंजक। दोनों का कविकर्म अलौकिक है—एक लोकोत्तर चित्र प्रदान करता है, दूसरा लोकोत्तर चरित्र। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में शोभन कलाकार हैं। किन्तु छायावाद की कला में भी लोकव्यंजना संभव है, जैसे पंतजी की इधर की रचनाओं में। अंतर सामाजिक दृष्टिकोण के प्रसार का है। द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि गुप्तजी मध्ययुग के उन आदर्शों के कवि हैं जो जनता में एक अभ्यासपूर्ण विश्वास बन गये हैं; किन्तु पंत आदर्शों की जनशोषक रूढ़ियों को तोड़कर उस समाज के कवि हैं, जहाँ नवमानव का त्राण है। छायावाद की नवीन लोकव्यंजक कला भी भविष्य में कैसा सुविकास पायेगी, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता, तथापि इसका भी विकास तो होगा ही। अभी तो वह अपने रूखे-सूखे प्रयास में है।

[४]

भीतर की अपेक्षा, मनुष्य बाह्य प्रभावों को अधिक शीघ्रता से ग्रहण करता है, जैसे जलवायु और प्रकाश को। यह प्रभाव प्राकृतिक

है। किन्तु भीतर से जो ग्रहण किया जाता है वह मार्मिक होता है, प्राकृतिक जगत् के प्रभावबोध से भी अधिक स्पंदनशील। छायावाद की कल्पना मिथ्या नहीं, वह तो अनुभूति को, स्पंदन को, अभीष्ट तक पहुँचाने में एक पोएटिक आकलन है—किसी रस को हृदयंगम कराने में जब वस्तुजगत् का कोई मापदंड सहायक नहीं होता, तभी वहाँ कल्पना अग्रसर होती है।

जो वस्तुजगत् के सुख-दुख की तीव्रता से भौगोलिक शीतोष्ण की भाँति अभ्यस्त है, वे छायावाद मे भी उसी तीव्रता द्वारा सुख-दुख से अवगत होना चाहते है और निष्फल होने पर उसे मिथ्या कह देते हैं। सचमुच अबतक छायावाद ने वस्तुजगत् को व्यावहारिक जीवन के लिए ही छोड़ दिया है। व्यावहारिक जीवन को जिस रस की आवश्यकता है, केवल उसे ही लेकर उसने अपने काव्य को सुस्निग्ध कर लिया। उसने कपास के बजाय रेशम दिया। उसे हृदयंगम करने के लिए वैसी ही स्निग्ध विदग्धता अपेक्षित है। किंतु इसके पूर्व ?—

आः, आज तो मनुष्य अपने निपीड़न में बाहर-भीतर दोनों ही जगह स्पंदनशून्य हो गया है। आज भी जिनकी चेतना शेष है, वे अपनी स्वल्पता में, अपनी सम्पन्नता के स्वास्थ्य में अनेकों के वंचित सुख को सूचित करते है।

[५]

देश का एक विचारक-समुदाय वह है जो काव्य को अतिवास्तविकता (उपयोगिता) के ही दृष्टिकोण से देखना चाहता है। उसकी उपयोगिता के जगत् मे मनुष्य केवल उदरंभरि ही न हो जाय, नवीन जागृति के कवियों को इसका ध्यान रखना होगा।

ध्यान रखना होगा कि रोटी का टुकड़ा यदि पेट के लिए उपयोगी है तो जीवन का गान हृदय के लिए। जो कुछ शरीर की पूर्ति करे वही पूर्ति करे वही उपयोगिता नहीं है। आज के संक्रान्ति-काल में यदि

इसे ही उपयोगिता मानते है तो इसके मानी यह हैं कि जीवन का वाद्य-यंत्र कहीं टूट गया है और बिना नवीन निर्माण हुए उससे कोई सुरीला स्वर नहीं निकाला जा सकता। किंतु नवीन निर्माण में लक्ष्य हमारा सुरीले स्वर का ही रहेगा, चाहे स्वरलिपियाँ (अब तक की रूढ़ नियम-नीतियाँ) बदल जाँय। शरीर ही जीवन नहीं है, शरीर के आधार से हम जो चरितार्थ करते है वही जीवन है। भावकाव्य उसी जीवन को ग्रहण करता है।

उपयोगिता की पूर्ति व्यावहारिक कार्यों मे है, उसका क्षेत्र औद्योगिक है। उद्योग और भावयोग दोनों अपने-अपने स्थान पर समीचीन है, इन दोनो का तुलनात्मक विभाजन कर एक को आवश्यक और दूसरे को व्यर्थ नही कहा जा सकता। आवश्यकता पड़ने पर भावयोग की सीमा मे उद्योग, शांतिनिकेतन मे श्रीनिकेतन की भाँति, शोभित हो सकता है।

मनुष्य के भीतर जो भावयोग (काव्य) है, वही उद्योग को भी सहज कर देता है। यदि गान न रहे, यदि काव्य न रहे तो मनुष्य का श्रम अथवा जीवन की वास्तविकताएँ कितनी विकराल हो जायँ, यह खेत जोतता हुआ किसान और सड़क कूटता हुआ मजदूर भी बतला सकता है।

काव्य यदि उद्योग को सहज कर देता है तो अभाव में भी एक भाव बरसा देता है, वहाँ अकिंचन कृषकवधू कहती है—

टूटि खाट पर टपकर टटिओ टूटि।
पिय कै बाँह उसिसवाँ सुख कै लूटि॥

जो झोंपड़ी मे रहता है, उसके लिए वही सब कुछ नहीं है। वह न केवल किसान है, न केवल मजदूर, न अन्य श्रमजीवी, वह तो कोमल स्पन्दनो का प्राणी भी है। झोपड़ी का किसान भी केवल गाय-बैल की तरह आहार ग्रहण कर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, वह कभी-कभी अपनी

तान भी छेड़ता है, उसके भी कुछ स्वप्न रहते हैं। वह क्या गाता है, क्या गुनगुनाता है, इसके उदाहरण हमारे साहित्य के 'ग्रामगीत' हैं, जिनमें छायावाद और रहस्यवाद का अभाव नहीं। उन गीतों मे तो हमारे चिरमूक गाय-बैल भी अपने हृदय के भाव कहते हैं, स्वयं मूक रहकर उन्होंने किसानों को अपनी भाषा दे दी है। मनुष्येतर जीवजगत् ने यही भाषा उन रहस्यवादी तपस्वियों को भी दे दी थी, जिन्होंने अपने आश्रम में खग-मृग इत्यादि को अपना पारिवारिक बना लिया था। जैसे परिवार के लोग उपयोगिता के नाम पर ही एक नहीं है, बल्कि 'अनेक' से 'एक' होने के कारण परस्पर पूरक हैं, उसी प्रकार हमारा पालित जीवजगत् भी। किंतु भारत के लिए जो कुछ स्वाभाविक एवं पारिवारिक है, वह पश्चिम के लिए व्यापारिक है। हाँ, व्यापारिक जगत् ने आज जीवन में जो विषमता उत्पन्न कर दी है यदि हम उसकी ओर आँख मूँद लेते हैं तो आज का शेष गान भी गाने को न रह जायगा। हम गान की रचना तो करें किन्तु आसन्न समस्या की ओर से उदासीन भी न हों।

[६]

संसार में अगणित वास्तविकताएँ हैं, भारत ने सभी वास्तविकताओं को शोभन नहीं माना। जिन वास्तविकताओं से मानव जीवन को सुरस मिला, उसने उन्हीं की चाशनी में अपने स्वभाव को ढाला। वह ढली हुई स्वाभाविकता ही हमारे जीवन की कला है। हम यों क्यों न कहें कि वास्तविकता जब स्वाभाविकता बनती है तभी वह कला हो जाती है। वास्तविकता और स्वाभाविकता में उतना ही अन्तर है, जितना पश्चिम और भारत में अथवा व्यापारी और गृहस्थ में, व्यापारी और गृहस्थ की संकलन-बुद्धि में विज्ञान और काव्य का अन्तर है। विदेशी व्यापारिक जगत् ने अपने रूखे-सूखे विज्ञान की दूकान में वास्तविकता की इतनी

ढेरी लगा दी है कि वह अपने ही बोझ से आप दबा जा रहा है। भारत ने जब अपनी स्वाभाविकता को अपनी कला बनाया तब उसने मानो वास्तविकता को कवित्व का मनोयोग दिया अथवा विज्ञान को सौन्दर्य प्रदान किया। विज्ञान में जो कुछ सत्य और शिव है उसे उसने सौंदर्य द्वारा मनोरम बना लिया। इस प्रकार उसने वैज्ञानिक वास्त विकता को रूपांतरित कर साहित्यिक स्वाभाविकता को जन्म दिया।

जीवन की इसी स्वाभाविकता को सूचित करने के लिए हमारे यहाँ भित्तिचित्र कला का जन्म हुआ था। उन चित्रों में एक विशेष भारतीय दृष्टिकोण निहित है, वह यह कि कला हमारे चारों ओर के भावमय जीवन से रूप-रंग ग्रहण करती रही है। घर के भीतर रहनेवाले अपने शरीर के भीतर (हृदय में) जो कुछ थे, उसीका प्रकाशन इन भित्तिचित्रों से हुआ। गृह को देखकर जिस प्रकार हम गृहपति को जानते थे उसी प्रकार इन भित्तिचित्रों द्वारा देह के भीतर रहनेवाले देही को जानते थे; देह के न रहने पर भी देही अपने परिचय के लिए जीवित रहता था। हमारे चारों ओर का जीवन जिस संस्कृति या स्वभाव के साँचे मे ढला हुआ था, उसीके अनुरूप हमारी चित्रकला का रूप-रंग था। जिस प्रकार उन पौराणिक दीवालों पर विविध वर्ण-व्यंजक तूलिका दौड़ती रही, उसी प्रकार हमारे गृह जीवन मे भी एक कला घूमती रहती थी। भारत का जीवन वास्तविकता की भित्ति पर एक काव्य (स्व-भाव) रहा है, मानो पृथ्वी पर हरियाली। उसकी 'स्वाभाविकता' में वास्तविकता, कविता के लिए आधार थी, आधेय या आराध्य नहीं। इस प्रकार भारत अपने जीवन में एक फ्रेस्को आर्ट का आर्टिस्ट रहा है।

व्यक्ति के मूर्त्त जीवन मे एक अमूर्त्त कवित्व भी अगोचर है। और सच तो यह है कि वह अमूर्त्त कवित्व ही हमारे मूर्त्त जीवन का प्राण है, विकास है; उसीसे हम वास्तविकताओं की मिट्टी मे भी एक जीवित

प्रतिमा हैं। अन्यथा, जीवन हाड़-माँस की ठठरियों के दुस्सह भार के सिवा क्या रह जाय? कला के बिना वास्तविकता मृत है, जीवित वास्तविकता ही मानवीय स्वाभाविकता है। काव्य, संगीत, चित्र तथा अन्याय कलाएँ हमारे जीवन-पोषण मनोरागों के साहित्यिक स्वरूप हैं, जिन्हें एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी, पूर्वजों की वसीयत के रूप में पाती चली जाती है। इसीलिए कला की उपेक्षा कर, साहित्य को, जीवन को, एकमात्र शुष्क वास्तविकता पर ही केन्द्रीभूत कर देना भावयोग का लक्ष्य नहीं हो सकता, उद्योग का हो सकता है। उद्योग ने आवश्यकता से अधिक वास्तविकता पर ध्यान दिया। (लौहयन्त्रों की भरमार इसका उदाहरण है।) अपने व्यावहारिक जीवन में जब हम कला को मूर्त्त करते हैं तब हमारा उद्योग भी केवल उद्योग न रह कर, भावयोग की एक कला हो जाता है। यन्त्रों की कला नहीं, बल्कि मानवीय श्रम की कला, जीवन की तन्मयता की कला, स्वाभाविक कला।

हाँ, आज का हमारा कला-प्रेम बहुत कुछ अस्वाभाविक हो गया है। केवल इसीलिए नहीं कि हम वास्तविकता पर आवश्यकता से अधिक ध्यान देने लगे है, बल्कि इसलिए भी कि कला हमारे लिए रूढ़ हो गई है। युग की हलचलों में जहाँ कला का बहिष्करण तथा वास्तविकता का नवीकरण (समाजवाद) मध्ययुग तथा आधुनिक युग की विभीषिकाओं द्वारा उत्पन्न परिस्थितियो की खिन्नता को सूचित करता है, वहाँ नव चैतन्य-युग के प्रश्नों से आँख मूँद कर कला के संरक्षण का ढोंग भी एक फैशन-सा लगता है। आज आर्टगैलरियों की कला मुट्ठीभर सम्पन्न व्यक्तियों के लिए एक ललित कौतुक जुटाती है। प्रदर्शनकारी उसे प्रदर्शित करते है, देखनेवाले देखते है और कला विद्युद्दीपो मे ज्वलन्त हँसी हँसकर रह जाती है। वह 'दर्शन' नहीं, प्रदर्शन की वस्तु हो गई है। आज हमें प्रदर्शन को तो छोड़ना है, साथ ही नवीन वस्तु-

जगत् की वास्तविकता (अभाव-जगत्) को चिर-कुरूप भी नहीं हो जाने देना है।

कला द्वारा इस वस्तुजगत् मे भी भाव-जगत् उसी प्रकार शोभित होगा जिस प्रकार ईंट-मिट्टी के मकान के सामने स्वास्थ्यकर उद्यान। भाव-जगत्, वस्तुजगत् का स्वास्थ्य है। वस्तुजगत् यह शरीर है तो भाव-जगत् उसका जीवन।

[७]

मध्ययुग से लेकर आज के अवशेष-मध्यकाल तक हम ऐश्वर्य और सौन्दर्य की रंगीनी की उपासना करते आए हैं। जीवन की यह फैन्सी दिशा राजा-रईसों द्वारा परिचालित रही है। जिस प्रकार उनके शासन हमारे राजनीतिक नियम थे, उसी प्रकार उनकी रुचियाँ और प्रवृत्तियाँ भी हमारी पसन्द बन गई थीं। संसार दोज़ख बना हुआ था और उसी के मूर्छित स्वप्न-लोक में वैभव के स्तम्भों पर एक जन्नत बसी हुई थी। राजा-रईसों ने महलों में बैठकर स्वर्ग को प्रत्यक्ष पाया, साधारण लोगों ने झोपड़ों में कलप कर महलों का स्वप्न देखा। रईसी जीवन के इसी मॉडल में हमारा अब तक का जीवन ट्रेड होता आया, फलतः कला ने भी वही रंगत ली। इसके विरुद्ध हमारा असन्तोष तब जगा जब हमने होली के कच्चे रंग की रंगीन स्वप्नो को फू होते देखा।

आज की विवर्ण परिस्थितियो मे फैशन ने कला को बला बना रखा है—यहाँ आह भी ग्रामोफ़ोन में भी भरी जाती है। यह हृदयहीन मनोरञ्जकता, यह संवेदन-हीन कला-प्रियता, मध्ययुग के स्वभाव विशेष को एक नुमाइश दिखाकर विस्मृति के अन्धकार मे विलीन हो जायगी।

आज कला के सामने वस्तुजगत् ही नहीं है, बल्कि दोनो के बीच एक गहन-गर्त्त, अभाव-जगत् के रूप मे प्रकट हो गया है। वस्तुजगत का जो दैन्य, भाव-जगत् के इन्द्रजाल को अपनी रंगीन छत बना कर

आत्मविस्मृत था, आज वही इस इन्द्रधनुषी आकाश को लुप्त होते देख कर अपने अभाव-गह्वर में चीत्कार कर उठा है। देख रहा है कि कितनी गहरी खन्दक में वह जीवन-शून्य होकर पड़ा हुआ था। कला को, साहित्य को, समाज को, राजनीति को, आज सबको अभाव-जगत् में भाव-जगत् लाने के लिए सहयोग करना है। वस्तुजगत् की मांसलता में ही भाव-जगत् की कला-प्रतिमा रूपवान् (साकार) होगी। निरी वास्तविकता को प्रमुख बना देने के लिए नहीं, बल्कि भाव-जगत् को पुनर्जन्म देने के लिए नहीं, बल्कि भावजगत् को पुनर्जन्म देने के लिए, जीवन के विषम संगीत को सम पर लाने के लिए, यदि हम अभाव-जगत् को नव-जीवन दे सकें, वस्तुजगत् को परिपूर्ण मनुष्य-समाज का स्वर दे सकें तो हमारा भावजगत् (कला का मनोलोक) सचमुच ही स्वर्गीय हो जाय।

आज के अभाव-जगत् में भी हमारे कल्पक कलाकार चिर अपेक्षित रहेंगे, किंतु उनसे निवेदन यह होगा कि सदियों की जो चेतना कुण्ठित होकर आत्मलिप्सु हो गई है, उसमें आत्मनिरीक्षण का संस्कार उत्पन्न करे। आज हमारे कलाजगत् को वर्ड्सवर्थ जैसी आत्माएँ चाहिए।

कलाजगत् और वस्तुजगत्

लिखने की एक कला होती है। जिसे इस कला का अभ्यास हो गया है उसका लिखा हुआ सभी कुछ मनोरम होता है—साहित्य के सम्मेलन मे स्थान पाता है। प्रस्तुत रचना यद्यपि है तो आलोचना, विचार से रँगा हुआ सामयिक लेख पर भाषा और शैली के चमत्कार ने उसमें साहित्य के प्राण भर दिए है। वस्तु और कला का सम्बन्ध स्थिर करने में लेखक ने ऐसी सरस भाषा और लोकप्रिय व्यास शैली का प्रयोग किया है कि प्रत्येक साहित्यिक पाठक उसे पढ़कर सुखी होता है। लेख का प्रारम्भ ही ऐसा साहित्यिक और नाटकीय है कि पाठक का मन तुरन्त उस विषय की ओर खिंच जाता है। फिर धीरे-धीरे एक-एक बात सामने आती है। लेखक ने प्रत्येक बात को नाप तौल कर प्रकरणो की सख्या-सी गिना दी है।

इस निबंध का दूसरा गुण यह है कि उसके सुलझे विचार लेखक के मननशील अनुभव का परिचय देते है। ये विचार सूखे और तर्कप्रसूत नहीं, बल्कि ऐसे हरे और भावप्रसूत है कि उन्हें पढ़ने से आलोचना का नहीं, रचना का आभास मिलता है।

किन्तु लेखक ने अपनी भाषा को 'अन्तःसलिला सरस्वती' बनाने के फेर मे कहीं-कहीं भाव-प्रवाह से जो हाथ धो डाला है वह उसकी कलाजगत् की अतिभक्ति का सूचक है। लेखक के लिए जैसे अभ्यास की आवश्यकता होती है वैसे ही 'श्रुत' की भी।

दो बातें

मैंने 'बोलचाल' नाम की एक पुस्तक लिखी है। बाल से लेकर तलवे तक जितने अंग हैं, उन सब अंगों के कुल मुहाविरों पर, इसमें पैंतीस सौ से कुछ अधिक चौपदे हैं। अंगों के मुहाविरों के अलावा और भी बहुत से मुहाविरे काम पड़ने पर इसमें आ गये हैं। चौपदे बिल्कुल बोलचाल के रंग मे ढले हैं, नमक-मिर्च लगने पर बात चटपटी हो जाती है, गढ़ी और सीधी-सादी बातें भी एक सी नहीं होतीं, चौपदे और बोलचाल की भाषा में कुछ भेद है तो इतना ही।

कोई दिन था कि हम कुछ थे, कुछ नहीं, बहुत कुछ थे। देवता हमारा मुँह जोहते थे, स्वर्ग में हमारी धूम थी, और धरती हमारे उधारने से ही उधरती थी। हम आसमान में उड़ते, समुद्र को छानते, जंगलों को खँगालते, और पहाड़ों को हिला देते थे। दुनिया में हमारे नामलेवा थे। देस-देस में हमारी धाक थी, दिशायें हमारी जोत से जगमगाती थीं और आसमान के तारे हमें आँख फाड़-फाड़ कर देखते थे। हम अन्धकार में उजाला करते थे, बन्द आँखों को खोलते थे,

सोतों को जगाते थे और उकठे काठ को भी हरा बना देते थे। सूरमापन हम पर निछावर होता था, दिलेरी हमारे बाँट में पड़ी थी, बहादुरी हम पर दम भरती थी, और आन-बान हमारा बाना था। हम बेजान में जान डालते थे, सूखी नसों में लहू भरते थे, बिगड़ों को बनाते थे, गिरों को उठाते थे, बे जड़ों की जड़ जमाते थे, और भूलों को राह पर लगाते थे। बड़े-बड़े अठकपाली हमारे सामने अपना अठकपालीपन भूल जाते थे, हमारा तेवर बदलते ही बेतरह आँख बदलनेवाले राजा-महाराजाओं का रंग बदल जाता था, और दुनियाँ में हवा बाँधनेवालों के चेहरों पर हवाइयाँ उड़ने लगती थीं। आज ये बातें मुँह पर नहीं लाई जा सकतीं, अब हमारा रंग इतना बिगड़ गया है कि हम पहचाने भी नहीं जा सकते। हमी लोगों में ऐसे लोग हैं जो यह जानते ही नहीं कि हम क्या और कौन थे और अब क्या हो गये। इसमें न किसी का जादू काम कर रहा है और न किसी का टोना, न दैव हमारे पीछे पड़ा है, न बुरा भाग, जो कुछ हम भोग रहे हैं वे हमारी करतूतों के फल है, और आज भी वे हमे रसातल ले जा रही हैं।

आज दिन हमारे सिरधरों का ही सिर नहीं फिर गया है, आगे चलनेवाले भी आग लगा रहे हैं, भगवा पहनने वाले भी भाँग खाये बैठे है। जिनको वीर होने का दावा है, वे भाइयों की मूँछें उखाड़ कर मूँछ मरोड़ रहे है, दूसरों का घर मूस कर अपना घर भर रहे हैं, औरों के लहू से हाथ रँग कर अपना हाथ गरम कर रहे है, सगों का पेट काट कर अपना पेट पाल रहे हैं, और बेबसों के घर को जलाकर अपने घर मे घी के दीये बाल रहे हैं। पूँजीवालों का पेट दिन दिन मोटा हो रहा है पर किसी सटे पेटवाले को देखते ही उनकी आँख पर पट्टी बँध जाती है। संडे मुसंडे डंडे के बल माल भले ही चाब ले पर भूख से जिनकी आँखें नाच रही है, उनको वे कानी कौड़ी भी देने के रवादार नहीं। जो हमारा मुँह देखकर जीते है, हम उन्हीं को निगल

रहे हैं, और जो हमारे भरोसे पाँव फैलाकर सोते है हम उन्हीं को आँख बन्द करके लूट रहे हैं। हमी में डूब कर पानी पीनेवाले हैं, आँख में उँगली करनेवाले है, खड़े बाल निगलने वाले है, आग लगा कर पानी को दौड़नेवाले है, रँगे सियार है, भीगी बिल्ली हैं, और काठ के उल्लू हैं।

आज हमारे घरों में फूट पाँव तोड़ कर बैठी है, बैर अकड़ा खड़ा हुआ है, अनबन की बन आई है, और रगड़े-झगड़े गुलछर्रे उड़ा रहे है। हम से लम्बी-लम्बी बातें सुन लो, लम्बी डगें भरने की कहानियाँ कहलवा लो, लेकिन लम्बी तान कर सोना ही हमें पसन्द है। आँख होते हमे सूझता नहीं, कान होते हम सुनते नही, हाथ होते हम बेहाथ है, और पाँव होते बेपाँव। समझ चल बसी, विचारों का दिवाला निकल गया, आस पर ओस पड़ गई, सूझ को पाला मार गया, मगर कान पर जूँ तक नहीं रेंगती। बेटियाँ बिक रही है, माँ-बहनें लुट रही है, जोरू पिस रही है, मगर हमे दाँत पीसना नही आता। दूसरे धूल मे फूल उगाते है, हमें फूल में भी धूल ही हाथ आती है। लोग काँटों में फूल चुनते है, हम काँटों में उलझ-उलझ मरते है। आबरू उतर गई, पतपाती चला गया, बड़ाई धूल में मिल गई, मगर हम धूल फाँकने ही मे मस्त है।

हम आसमान के तारे तोड़ना चाहते हैं, मगर काम आँखो के तारे भी नहीं देते। हम पर लगा कर उड़ना चाहते हैं, मगर उठाने से पाँव भी नही उठते। हम पालसी पर पालिश करके उसके रंग को छिपाना चाहते है, पर हमारी यह पालसी हमारे बने हुए रंग को भी बदरंग कर देती है। हम राग अलापते है मेल-जोल का, पर न जाने कहाँ का खटराग पेट में भरा पड़ा है। हम जाति-जाति को मिलाते चलते हैं, मगर ताब अछूतों से आँख मिलाने की भी नहीं। हम जाति-हित की तानें सुनाने के लिये सामनें आते हैं, मगर ताने दे-दे कलेजा

छलनी बना देते हैं। हम कुल हिन्दू जाति को एक रंग में रँगना चाहते हैं मगर जाति जाति के अपनी डफली और अपने अपने राग ने रही सही एकता को भी धता बता दिया है। हम चाहते हैं देश को उठाना, पर आप मुँह के बल गिर पड़ते हैं। हमें देश की दशा सुधारने की धुन है, पर आप सुधारने पर भी नहीं सुधरते। हम चाहते है जाति की कसर निकालना, मगर हमारे जी की कसर निकाले भी नहीं निकलती। हम जाति को ऊँचे उठाना चाहते हैं, पर हमारी आँख ऊँची होती ही नहीं। हम चाहते है जाति को जिलाना, मगर हमें मर मिटना आता ही नहीं।

हिन्दू जाति अपनी भूलभुलैया मे बेतरह फँसी है, इससे हमारा जी दुखी है, हमारा कलेजा चोट खा रहा है, दिल में फफोले पड़ रहे है। हमने 'बोलचाल' में दिल के फफोले फोड़े हैं, वे उसमें चौपदे की सूरत में फूटे हैं। उसमे वे बिखरे हुए है, इस पुस्तक में एक जगह जमा किये गये हैं; उसके छपने में अभी देर है, इधर देर की ताब नहीं। हमे जल्दी इसलिये है कि जितना ही जल्द हिन्दुओं की आँखें खुलें, उतना ही अच्छा। उनका जी दुखाना, उन्हें कोसना, उन्हें बनाना, उन्हें खिझाना, उनकी उमंगों को मिटियामेट करना पसन्द नही, अपने हाथ से अपने पाँव मे कुल्हाड़ी कौन मारेगा; अपनी उँगलियों से अपनी आँखों को कौन कुचालेगा। मगर अपनी बुराइयों, कमजोरियों, भूलचूकों, ऐबों, लापरवाइयो और नासमझियो पर आँख डालनी ही पड़ेगी; बिना इसके निबाह नहीं। दवा कड़वी होती है, मगर उसको पीते हैं, फेंक नहीं देते। हमारे चौपदे कुछ कड़वे होवे, मगर वे हितजल के गडुवे है। अगर उनमे से किसी एक के पढ़ने से भी जाति के कान खड़े हुए और उसकी आँखें खुली, हमारे माई के लाल सच्चे लाल बने, तो मेरे मुँह की लाली रह जावेगी और मैं समझूँगा कि मैंने वामन होकर भी चाँद को छू लिया।

—

ध्रुवस्वामिनी

द्वितीय अंक

(शकदुर्ग के भीतर सुनहले कामवाले खंभों पर एक दालान, बीच में छोटी-छोटी सीढ़ियाँ, उसी के सामने काश्मीरी कुराई का सुन्दर लकड़ी का सिंहासन। बीच के दो खम्भे खुले हुए हैं, उनके दोनों ओर मोटे-मोटे चित्र बने हुए तिब्बती ढंग के रेशमी पर्दे पड़े हैं। सामने बीच में थोड़ा-सा आँगन की तरह, जिसके दोनों ओर क्यारियाँ, उनमें दो-चार पौधे और लताएँ फूलों से लदी दिखलाई पड़ती हैं।)

कोमा—(धीरे-धीरे पौधों को देखती हुई प्रवेश करके) इन्हें सींचना पड़ता है, नहीं तो इनकी रुखाई और मलिनता सौंदर्य्य पर आवरण डाल देती है। (देखकर) आज तो इनके पत्ते धुले हुए भी नहीं है। इनमें फूल जैसे मुकुलित होकर ही रह गये हैं। खिलखिलाकर हँसने का मानों इन्हें बल नहीं। (सोचकर) ठीक इधर कई दिनों से महाराज अपने सन्धि-विग्रह में लगे हुए हैं और मैं भी यहाँ नहीं आई, तो फिर इनकी चिन्ता कौन करता? उस दिन मैंने यहाँ दो मञ्च और भी रख देने

के लिए कह दिया था; पर सुनता कौन है ? सब जैसे रक्त के प्यासे ! प्राण लेने और देने में पागल ! वसन्त का उदास और अलस पवन आता है, चला जाता है। कोई उस स्पर्श से परिचित नहीं। ऐसा तो वास्तविक नहीं है ? (सीढ़ी पर बैठ कर सोचने लगती है) प्रणय ! प्रेम ! जब सामने से आते हुए तीव्र आलोक की तरह आँखों में प्रकाश-पुञ्ज उड़ेल देता है, तब सामने की सब वस्तुएँ और भी अस्पष्ट हो जाती हैं। अपनी ओर से कोई भी प्रकाश की किरण नहीं। तब वही केवल वही ! हो पागलपन, भूल हो, दुःख मिले। प्रेम करने की एक ऋतु होती है। उसमें चूकना, उसमें सोच समझ कर चलना दोनों बराबर हैं। सुना है दोनों ही संसार के चतुरों की दृष्टि में मूर्ख बनते हैं तब कोमा ! तू किसे अच्छा समझती है ?

(गाती है)

यौवन तेरी चंचल छाया।
इसमें बैठ घूँट भर पी लूँ जो रस तू है लाया।
मेरे प्याले में मद बनकर कब तू छली समाया।
जीवन वंशी के छिद्रों में स्वर बन कर लहराया।
पलभर रुकनेवाले ! कह तू पथिक ! कहाँ से आया ?

(चुप होकर आँखें बन्द किये तन्मय होकर बैठी रह जाती है)

(शकराज का प्रवेश। हाथ में एक लम्बी तलवार लिये हुए चिंतित भाव से आकर इस तरह खड़ा होता है जिससे कोमा को नहीं देखता।)

शकराज—खिंगल अभी नहीं आया, क्या वह बन्दी तो नहीं कर लिया गया ? नहीं, यदि वे अन्धे नहीं हैं तो उन्हें अपने सिर पर खड़ी विपत्ति दिखाई देनी चाहिए। (सोचकर) विपत्ति ! केवल उन्हीं पर तो नहीं है, हम लोगों को भी रक्त की नदी बहानी पड़ेगी। चित्त बड़ा चंचल हो रहा है, तो बैठ जाऊँ ? इस एकान्त में अपने बिखरे हुए

मन को सँभाल लूँ ? (इधर-उधर देखता है, कोमा आहट पाकर उठ खड़ी होती है। उसे देखकर) अरे, कोमा ! कोमा !

कोमा—हाँ महाराज ! क्या आज्ञा है ?

शकराज—(उसे स्निग्धभाव से देखकर) आज्ञा नहीं, कोमा ! तुम्हें आज्ञा न दूँगा। तुम रूठी हुई सी क्यों बोल रही हो ?

कोमा—रूठने का सुहाग मुझे मिला कब ?

शकराज—आज-कल मै जैसी भीपण परिस्थिति में हूँ, उसमें अन्य-मनस्क होना स्वाभाविक है, तुम्हें यह न भूल जाना चाहिए।

कोमा—तो क्या आपकी दुश्चिताओं में मेरा भाग नहीं। मुझे उससे अलग रखने से क्या वह परिस्थिति कुछ सरल हो रही है।

शकराज—तुम्हारे हृदय को उन दुर्भावनाओं में डाल कर मै व्यथित नहीं करना चाहता। मेरे सामने जीवन-मरण का प्रश्न है।

कोमा—प्रश्न स्वयं किसी के सामने नहीं आते। मैं तो समझती हूँ कि मनुष्य उन्हें जीवन के लिये उपयोगी समझता है। मकड़ी की तरह लटकने के लिये अपने-आप ही जाला बुनता है। जीवन का प्राथमिक प्रसन्न उल्लास मनुष्य के भविष्य मे मंगल और सौभाग्य को आमन्त्रित करता है। उससे उदासीन न होना चाहिए महाराज !

शकराज—सौभाग्य और दुर्भाग्य मनुष्य की दुर्बलता के भय हैं। मैं तो पुरुपार्थ को ही सबका नियामक समझता हूँ। पुरुषार्थ ही सौभाग्य को खींच लाता है, मै इस युद्ध के लिये उत्सुक नही था कोमा, मैं ही दिग्वि-जय के लिये नहीं निकला था।

कोमा—संसार के नियम के अनुसार आप अपने से महान् के सम्मुख थोड़ा सा विनीत बनकर इस उपद्रव से अलग रह सकते थे।

शकराज—यही तो मुझसे नहीं हो सकता।

कोमा—अभावमयी लघुता मे मनुष्य अपने को महत्वपूर्ण दिखाने का अभिनय न करे तो क्या अच्छा नहीं है ?

शकराज—(चिढ़कर) यह शिक्षा अभी रहने दो कोमा, मैं किसी से बड़ा नहीं हूँ तो छोटा भी नहीं बनना चाहता। तुम अभी तक पाषाणी प्रतिमा की तरह वहीं खड़ी हो, मेरे पास आओ।

कोमा—पाषाणी ! हा, राजा ! पाषाण के भीतर भी कितने मधुर स्रोत बहते रहते हैं; उनमें मदिरा नहीं, शीतल जल की धारा बहती है। प्यासों की तृप्ति—

शकराज—किन्तु मुझे तो इस समय स्फूर्ति के लिये एक प्याला मदिरा ही चाहिए।

कोमा—(स्थिर दृष्टि से देखती हुई) मैं ले आती हूँ। आप बैठिए। (कोमा एक छोटा सा मंच रख देती है और चली जाती है। शकराज मञ्च पर बैठ जाता है। खिंगल का प्रवेश)

शकराज—कहो जी, क्या समाचार है ?

खिंगल—महाराज ! मैंने उन्हें अच्छी तरह समझा दिया कि हम लोगों का अवरोध दृढ़ है। उन्हें दो में से एक करना ही होगा। या तो अपने प्राण दें अन्यथा मेरे सन्धि नियमों को स्वीकार करें।

शकराज—(उत्सुकता से) तो वे समझ गये ?

खिंगल—दूसरा उपाय ही क्या था ? यह छोकड़ा रामगुप्त, समुद्र-गुप्त, की तरह दिग्विजय करने निकला था। उसे इन बीहड़ पहाड़ी घाटियों का परिचय नहीं मिला था। किन्तु सब बातों को समझ कर वह आपके नियमों को मानने के लिये बाध्य हुआ।

शकराज—(प्रसन्नता से उठकर उसके दोनों हाथ पकड़ लेता है) एं, तुम सच कहते हो ? मुझे तो आशा नहीं। क्या मेरा दूसरा प्रस्ताव भी रामगुप्त ने मान लिया ?

(स्वर्ण के कलश मे मदिरा लेकर कोमा चुपके से आकर पीछे खड़ी हो जाती है)

खिंगल—हाँ, महाराज ! उसने माँगे हुए सब उपहारों को देना

स्वीकार किया और ध्रुवस्वामिनी भी आपकी सेवा में शीघ्र ही उपस्थित होती है। (कोमा चौंक उठती है और शकराज प्रसन्नता से खिंगल के हाथों को झकझोरने लगता है।)

शकराज—खिंगल ! तुमने कितना सुन्दर समाचार सुनाया ! आज देव-पुत्रों की स्वर्गीय आत्मायें प्रसन्न होंगी। उनकी पराजयों का प्रतिशोध है। हम लोग गुप्तों की दृष्टि में जंगली, बर्बर और असभ्य हैं, तो फिर मेरी प्रतिहिंसा भी बर्बरता के ही अनुकूल होगी। हाँ, मैंने अपने शूर-सामन्तों के लिये भी स्त्रियाँ माँगी थीं।

खिंगल—वे भी साथ ही आवेंगी।

शकराज—तो फिर सोने की झाँझवाले नाच का प्रबन्ध करो। इस विजय का उत्सव मनाया जाय। और मेरे सामन्तों को भी शीघ्र बुला लाओ।

(खिंगल का प्रस्थान। शकराज अपनी प्रसन्नता मे उद्विग्न-सा इधर-उधर टहलने लगता है। और कोमा अपना कलश लिये हुए धीरे-धीरे सिंहासन के पास जाकर खड़ी हो जाती है। चार सामन्तों का प्रवेश। दूसरी ओर से नर्तकियों का दल आता है। शकराज उनकी ओर ही देखता हुआ सिंहासन पर बैठ जाता है। सामन्त लोग उसके पैरों के नीचे सीढ़ियों पर बैठते है। नर्तकियाँ नाचती हुई गाती है।)

गाना

अस्ताचल पर युवती सन्ध्या की
खुली अलक घुँघराली है।
लो, मानिक मदिरा की धारा
अब बहने लगी निराली है।
भर ली पहाड़ियों ने अपनी
झीलों की रत्नमयी प्याली।

झुक चली चूमने वल्लरियों
से लिपटी तरु की डाली है।
यह लगा पिघलने मानिनियों का
हृदय प्रणय मृदु रोष भरा।
वे हँसती हुई दुलारभरी
मधु लहर उठाने वाली हैं।
भरने निकले हैं प्यार भरे,
जोड़े कुंजों की झुरमुट से।
इस मधुर अँधेरी में अब तक,
क्या इनकी प्याली खाली है?
भर उठीं प्यालियाँ, सुमनों ने,
सौरभ मकरन्द मिलाया है।
कामिनियों ने अनुराग भरे,
अधरों से उन्हें लगाया है।
वसुधा मदमाती हुई उधर
आकाश लगा देखो झुकने।
सब झूम रहे अपने सुख में
तूने क्यो बाधा डाली है?

एक सामन्त—श्रीमान! इतनी बड़ी विजय के अवसर पर इस सूखे उत्सव से संतोष नही होता, जब कि कलश सामने भरा हुआ रखा है।

शकराज—ठीक है, इन लोगों को केवल कहकर ही नहीं; प्यालियाँ भर कर भी देनी चाहिएँ।

(सब पीते है और नर्तकियाँ एक-एक को सानुरोध पान कराती हैं।)

दूसरा सामन्त—श्रीमान की आज्ञा मानने के अतिरिक्त दूसरी

गति नहीं। उन्होंने समझ से काम लिया ; नहीं तो हम लोगों को इस रात की कालिमा में रक्त की लाली मिलानी पड़ती।

तृतीय सामन्त—क्यों, बकबक करते हो ? चुपचाप इस विना परिश्रम की विजय का आनन्द लो। लड़ना पड़ता तो सारी हेकड़ी भूल जाती।

दूसरा सामन्त—(क्रोध से लड़खड़ाता हुआ उठता है) हमसे ?

तीसरा—हाँ जी तुमसे !

दूसरा सामन्त—तो फिर आओ तुम्हीं से निपट लें। (सब परस्पर लड़ने की चेष्टा कर रहे हैं। शकराज खिंगल को संकेत करता है। वह उन लोगों को वाहर लिवा जाता है। तूर्यनाद)

शकराज—रात्रि के आगमन की सूचना हो गई। दुर्ग का द्वार अब शीघ्र ही वन्द होगा। अब तो हृदय अधीर हो रहा है खिंगल !

(खिंगल का पुनः प्रवेश)

खिंगल—दुर्ग-तोरण में शिविकायें आ गई हैं।

शकराज—(गर्व से) तब विलम्ब क्यों ? उन्हें अभी ले आओ।

खिंगल—(सविनय) किन्तु रानी की एक प्रार्थना है।

शकराज—क्या ?

खिंगल—वह पहले केवल श्रीमान् से ही सीधे भेंट करना चाहती हैं। उनकी मर्यादा........

शकराज—(ठठाकर हँसते हुए) क्या कहा—मर्यादा ! भाग्य ने झुकने के लिए जिन्हें विवश कर दिया है उन लोगों के मन में मर्यादा का ध्यान और भी अधिक रहता है। यह उनकी दयनीय दशा है।

खिंगल—वह श्रीमान् की रानी होने आ रही हैं।

शकराज—(हँसकर) अच्छा, तुम मध्यस्थ हो न ? तुम्हारी बात मानकर मैं उससे एकान्त में ही भेंट करूँगा। जाओ।

(खिंगल का प्रस्थान)

कोमा—महाराज ! मुझे क्या आज्ञा है ?

शकराज—(चौंककर) अरे, तुम अभी यहीं खड़ी हो ? मैं तो जैसे भूल ही गया था। मेरा हृदय चंचल हो रहा है। मेरे समीप आओ कोमा।

कोमा—नई रानी के आगमन की प्रसन्नता से ?

शकराज—(सँभलकर) नई रानी का आना क्या तुम्हें अच्छा नहीं लगा कोमा ?

कोमा—(निर्विकार भाव से) संसार में बहुत सी बातें बिना अच्छी हुए भी अच्छी लगती ही हैं, और बहुत सी अच्छी बातें बुरी मालूम पड़ती हैं।

शकराज—(झुँझलाकर) तुम तो आचार्य मिहिरदेव की तरह दार्शनिकों की-सी बातें कर रही हो !

कोमा—वे मेरे पिता-तुल्य हैं, उन्हीं की शिक्षा में मैं पली हूँ। हाँ ठीक है, जो बातें राजा को अच्छी लगे वे ही मुझे भी रुचनी चाहिएँ।

शकराज—(अव्यवस्थित होकर) अच्छा, तुम इतनी अनुभूतिमयी हो, यह मैं आज जान सका।

कोमा—राजा, तुम्हारी स्नेह-सूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर अलापों ने जिस दिन मन के नीरस और नीरव शून्य में संगीत की, वसन्त और मकरन्द की सृष्टि की थी, उसी दिन से मैं अनुभूतिमयी बन गई हूँ। क्या वह मेरा भ्रम था ? कह दो—कह दो कि वह तेरी भूल थी। (उत्तेजित कोमा सिर उठाकर राजा की आँखों से आँख मिलाती है।)

शकराज—(संकोच से) नही कोमा, वह भ्रम नहीं था। मै सचमुच तुम्हें प्यार करता हूँ।

कोमा—(उसी तरह) तब भी यह बात ?

शकराज—(सशंक) कौन सी बात ?

कोमा—वही जो आज होने जा रही है ! मेरे राजा ! आज तुम एक स्त्री को अपने पति से विच्छिन्न कराकर अपने गर्व की तृप्ति के लिये कैसा अनर्थ कर रहे हो ?

शकराज—(हँसकर बात उड़ाते हुए) पागल कोमा ! वह मेरा राजनीति का प्रतिशोध है।

कोमा—(दृढ़ता से) किन्तु, राजनीति का प्रतिशोध, क्या एक नारी को कुचले विना पूरा नहीं हो सकता ?

शकराज—जो विपय न समझ में आवे उस पर विवाद न करो।

कोमा—(खिन्न होकर) मैं क्यों न करूँ ? (ठहर कर) किन्तु नहीं, मुझे विवाद करने का अधिकार नहीं। यह मैं समझ गई। (वह दुखी होकर जाना चाहती है कि दूसरी ओर से मिहिरदेव का प्रवेश)

शकराज—(संभ्रम से खड़ा होकर) धर्मपूज्य ! मैं वन्दना करता हूँ।

मिहिरदेव—कल्याण हो ! (कोमा के सिर पर हाथ रखकर) वेटी ! मै तो तुझको ही देखने चला आया। तू उदास क्यों है ? (शकराज की ओर गूढ़ दृष्टि से देखने लगता है)

शकराज—आचार्य ! रामगुप्त का दर्प दलन करने के लिये मैंने ध्रुवस्वामिनी को उपहार में भेजने की आज्ञा उसे दी थी। आज रामगुप्त की रानी मेरे दुर्ग में आई है। कोमा को इसमे आपत्ति है।

मिहिरदेव (गंभीरता से) ऐसे काम में तो आपत्ति होनी ही चाहिए राजा ! स्त्री का सम्मान नष्ट करके तुम जो भयानक अपराध करोगे, उसका फल क्या अच्छा होगा ? और भी, यह अपनी भावी पत्नी के प्रति तुम्हारा अत्याचार होगा।

शकराज—(क्षोभ से) भावी पत्नी ?

मिहिरदेव—अरे क्या तुम इस क्षणिक सफलता से प्रमत्त हो जाओगे ? क्या तुमने अपने आचार्य की प्रतिपालिता कुमारी के साथ स्नेह का सम्बन्ध नहीं स्थापित किया है ? क्या इसमें भी सन्देह है ? राजा ! स्त्रियों का स्नेह-विश्वास भङ्ग कर देना कोमल तन्तु को तोड़ने से भी सहज है; परन्तु सावधान होकर उसके परिणाम को भी सोच लो ।

शकराज—मैं समझता हूँ कि आप मेरे राजनीतिक कामों में हस्त-क्षेप न करें तो अच्छा हो ।

मिहिरदेव—राजनीति ? राजनीति ही मनुष्यों के लिए सब कुछ नहीं है । राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो, जिसका विश्व-मानव के साथ व्यापक सम्बन्ध है । राजनीति की साधारण छल-नाओं से सफलता प्राप्त करके क्षण भर के लिए तुम अपने को चतुर समझ लेने की भूल कर सकते हो; परन्तु इस भीषण संसार में एक प्रेम करनेवाले हृदय को खो देना, सबसे बड़ी हानि है । शकराज ! दो प्यार करनेवाले हृदयों के बीच मे स्वर्गीय ज्योति का निवास है ।

शकराज—बस, बहुत हो चुका ! आपके महत्त्व की भी एक सीमा होगी । अब आप यहाँ से नही जाते है तो मै ही चला जाता हूँ । (प्रस्थान)

मिहिरदेव—चल कोमा । हम लोगो को लताओं, वृक्षों और चट्टानो से छाया और सहानुभूति मिलेगी । इस दुर्ग से बाहर चल ।

कोमा—(गद्‌गद कण्ठ से) पिताजी ! (खड़ी रह जाती है)

मिहिरदेव—बेटी ! हृदय को सँभाल । कष्ट सहन के लिये प्रस्तुत हो जा । प्रतारणा मे बड़ा मोह होता है । उसे छोड़ने का मन नही करता । कोमा ! छल का बहिरंग सुन्दर होता है—विनीत और आकर्षण भी; पर दुखदायी और हृदय को बेधने के लिए । इस बन्धन को तोड़ डाल ।

कोमा—(सकरुण) तोड़ डालूँ पिताजी ! मैंने जिसे अपने आसुओं से सीचा, वही दुलारभरी वल्लरी, मेरे आँख बन्द करके चलने मे मेरे ही पैरो से उलझ गई है । दे दूँ एक झटका—उसकी हरी-हरी

पत्तियाँ कुचल जायँ और वह छिन्न होकर धूल में लोटने लगे ? ना ऐसी कठोर आज्ञा न दो ।

मिहिरदेव—(निश्वास लेकर आकाश को देखते हुए) यहाँ तेरी भलाई होती, तो मैं चलने के लिए न कहता । हम लोग अखरोट की छाया में बैठेंगे, झरनों के किनारे दाख के कुञ्जों में विश्राम करेंगे । जब नीले आकाश में मेघों के टुकड़े मानसरोवर जानेवाले हंसों का अभिनय करेंगे, तब तू अपनी तकली पर ऊन कातती हुई कहानी कहेगी और मैं सुनूँगा ।

कोमा—तो चलूँ ? (एक बार चारों ओर देखकर) एक घड़ी के लिए मुझे······

मिहिरदेव—(ऊब कर आकाश की ओर देखता हुआ) तू नहीं मानती ? वह देख, नील-लोहित रंग का धूमकेतु अविचल भाव से इस दुर्ग की ओर कैसा भयानक संकेत कर रहा है !

कोमा—(उधर देखते हुए) तब भी एक क्षण मुझे······

मिहिरदेव—पागल लड़की ! अच्छा, मैं फिर आऊँगा । तू सोच ले, विचार कर ले । (जाता है)

कोमा—जाना ही होगा ? तब यह मन की उलझन क्यों अमङ्गल का अभिशाप, अपनी क्रूर हँसी से इस दुर्ग को कँपा देगा, और सुख के स्वप्न विलीन हो जायँगे । मेरे यहाँ रहने से उन्हें अपने भावों को छिपाने के लिये बनावटी व्यवहार करना होगा; पग पग पर अपमानित होकर मेरा हृदय उसे सह न सकेगा । तो चलूँ ? यही ठीक है । पिताजी ! ठहरिए, मै आती हूँ ।

शकराज—(प्रवेश करके) कोमा !

कोमा—जाती हूँ ! राजा !

शकराज—कहाँ ? आचार्य के पास ? मालूम होता है कि वे दुखी होकर चले गये हैं ।

कोमा—धूमकेतु को दिखा कर उन्होंने मुझसे कहा कि तुम्हारे दुर्ग में रहने से अमङ्गल होगा।

शकराज—(भयभीत होकर उसे देखता हुआ) ओह भयावनी पूँछ वाला धूमकेतु ! आकाश का अच्छृङ्खल पर्यटक ! नक्षत्र लोक का अभिशाप ! कोमा ! आचार्य को बुलाओ। वे जैसा आदेश देंगे वैसा ही मैं करूँगा ? इस अमङ्गल की शान्ति होनी चाहिए।

कोमा—वे बहुत चिढ़ गये है। अब उनको प्रसन्न करना सहज नहीं है। वे मुझे अपने साथ लिवा जाने को मेरी प्रतीक्षा करते होंगे।

शकराज—कोमा ! तुम कहाँ जाओगी ?

कोमा—पिताजी के साथ।

शकराज—मेरा प्यार ! मेरा स्नेह सब भुला दोगी ? इस अमंगल की शान्ति करने के लिये आचार्य को न समझाओगी !

कोमा—(खिन्न होकर) प्रेम का नाम न लो। वह एक पीड़ा थी जो छूट गई। उसकी कसक भी धीरे-धीरे दूर हो जायगी। राजा, मैं तुम्हें प्यार नहीं करती। मैं तो दर्प से दीप्त तुम्हारी महत्वमयी पुरुषमूर्ति की पुजारिन थी, जिसमें पृथ्वी पर अपने पैरों से खड़े रहने की दृढ़ता थी। इस स्वार्थ-मलिन कलुष से भरी मूर्ति से मेरा परिचय नहीं। अपने तेज की अग्नि मे जो सब कुछ भस्म कर सकती हो, उस दृढ़ता का, आकाश के नक्षत्र कुछ बना-बिगाड़ नही सकते। तुम आशंका-मात्र से दुर्बल, कम्पित और भयभीत हो !

शकराज—(धूमकेतु को बार बार देखता हुआ) भयानक ! कोमा, मुझे बचाओ !

कोमा—जाती हूँ ! महाराज ! पिताजी मेरी प्रतीक्षा करते होंगे। (जाती है। शकराज अपने सिहासन पर हताश होकर बैठ जाता है।)

प्रहरी—(प्रवेश करके) महाराज ! ध्रुवस्वामिनी ने पूछा है कि एकांत हो तो आऊँ।

शकराज—हाँ, कह दो कि यहाँ एकान्त है। और देखो यहाँ दूसरा कोई न आने पावे।

(प्रहरी जाता है। शकराज चंचल होकर टहलने लगता है। धूम-केतु की ओर दृष्टि जाती है तो भयभीत होकर बैठ जाता है)

शकराज—तो इसका कोई उपाय नहीं ? न जाने क्यों मेरा हृदय घबरा रहा है। कोमा को समझा-बुझाकर ले आना चाहिये। (सोच-कर) किन्तु इधर ध्रुवस्वामिनी जो आ रही है ! तो भी देखूँ यदि कोमा प्रसन्न हो जाय......। (जाता है)

(स्त्री-वेश में चन्द्रगुप्त आगे पीछे ध्रुवस्वामिनी स्वर्णखचित उत्तरीय मे सब अंग छिपाये हुए आती है। केवल खुले हुए मुँह पर प्रसन्न चेष्टा दिखलाई देती है।)

चन्द्रगुप्त—तुम आज कितनी प्रसन्न हो।

ध्रुवस्वामिनी—और तुम क्या नहीं ?

चन्द्रगुप्त—मेरे जीवन-निशीथ का ध्रुव नक्षत्र इस घोर अन्धकार मे अपनी स्थिर उज्ज्वलता से चमक रहा है। आज महोत्सव है न ?

ध्रुवस्वामिनी—लौट जाओ, इस तुच्छ नारी जीवन के लिये इतने महान् उत्सर्ग की आवश्यकता नहीं।

चन्द्रगुप्त—देवि ! यह तुम्हारा क्षणिक मोह है। मेरी परीक्षा न लो। मेरे शरीर ने चाहे जो रूप धारण किया हो; किन्तु हृदय निश्छल है !

ध्रुवस्वामिनी—अपनी कामना की वस्तु न पाकर यह आत्महत्या जैसा प्रसंग तो नहीं है ?

चन्द्रगुप्त—तीखे वचनों से मर्माहत करके भी आज कोई मुझे इस

मृत्यु-पथ से विमुख नही कर सकता। मैं केवल अपना कर्तव्य करूँ इसी में मुझे सुख है।

(ध्रुवस्वामिनी संकेत करती है। शकराज का प्रवेश। दोनों चुप हो जाते हैं। वह दोनों को चकित होकर देखता है।)

शकराज—मैं किसको रानी समझूँ ? रूप का ऐसा तीव्र आलोक ! नही, मैंने कभी नहीं देखा था। इसमें कौन ध्रुवस्वामिनी है ?

ध्रुवस्वामिनी—यह मैं आ गई हूँ।

चन्द्रगुप्त—(हँसकर) शकराज को तुम धोखा नहीं दे सकती हो। ध्रुवदेवी कौन है ? यह एक अन्धा भी बता सकता है।

ध्रुवस्वामिनी—(आश्चर्य से) चन्द्रे ! तुमको क्या हो गया है ? यहाँ आने पर तुम्हारी इच्छा रानी बनने की हो गई है ? या मुझे शकराज से बचा लेने के लिए यह तुम्हारी स्वामिभक्ति है।

(शकराज चकित होकर दोनों की ओर देखता है।)

चन्द्रगुप्त—कौन जाने तुम्हीं ऐसा कर रही हो ?

ध्रुवस्वामिनी—चन्द्रे ! तुम मुझे दोनों ओर से नष्ट न करो। यहाँ से लौट जाने पर भी क्या मैं गुप्तकुल के अन्तःपुर में रहने पाऊँगी ?

चन्द्रगुप्त—चन्द्रे कहकर मुझको पुकारने से तुम्हारा क्या तात्पर्य है ? यह अच्छा झगड़ा तुमने फैलाया। इसीलिये मैंने एकान्त में मिलने की प्रार्थना की थी।

ध्रुवस्वामिनी—तो क्या मै यहाँ भी छली जाऊँगी ?

शकराज—ठहरो, (दोनों को ध्यान से देखता हुआ) क्या चिन्ता है यदि मैं दोनों को ही रानी समझ लूँ।

ध्रुवदेवी—ऐं.........

चन्द्रगुप्त—हैं.........

शकराज—क्यों इसमें क्या बुरी बात है ?

चन्द्रगुप्त—जी नहीं, यह नहीं हो सकता। ध्रुवस्वामिनी कौन है पहले इसका निर्णय होना चाहिए।

ध्रुवस्वामिनी—(क्रोध से) चन्द्रे! मेरे भाग्य के आकाश में, धूमकेतु सी अपनी गति बन्द करो।

शकराज—(धूमकेतु की ओर देखकर भयभीत-सा) ओह, भयानक! (व्यग्रभाव से टहलने लगता है)

चन्द्रगुप्त—(शकराज की पीठ पर हाथ रखकर) सुनिए—

ध्रुवस्वामिनी—चन्द्रे !

चन्द्रगुप्त—इस धमकी से तो कोई लाभ नहीं।

ध्रुवस्वामिनी—तो फिर मेरा और तुम्हारा जीवन-मरण साथ ही होगा।

चन्द्रगुप्त—तो डरता कौन है? (दोनों ही शीघ्र कटार निकाल लेते हैं।)

शकराज—(घबराकर) हैं, यह क्या? तुम लोग यह क्या कर रही हो? ठहरो, आचार्य ने ठीक कहा है—आज शुभ मुहूर्त नहीं। मैं कल विश्वसनीय व्यक्ति को बुला कर इसका निश्चय कर लूँगा। आज तुम लोग विश्राम करो।

ध्रुवस्वामिनी—नहीं इसका निश्चय तो आज ही होना चाहिए।

शकराज—(बीच में खड़ा होकर) मैं कहता हूँ न।

चन्द्रगुप्त—वाह रे कहनेवाले!

(ध्रुवस्वामिनी मानो चन्द्रगुप्त के आक्रमण से भयभीत होकर पीछे हटती है और तूर्यनाद करती है। शकराज आश्चर्य से उसे सुनता हुआ सहसा घूमकर चन्द्रगुप्त का हाथ पकड़ लेता है। ध्रुवस्वामिनी झटके से चन्द्रगुप्त का उत्तरीय खींच लेती है और चन्द्रगुप्त हाथ छुड़ा कर शकराज को घेर लेता है।)

शकराज—(चकित-सा) ऐं, यह तुम कौन प्रवंचक !

चन्द्रगुप्त—मैं हूँ चन्द्रगुप्त, तुम्हारा काल ! मैं अकेला आया हूँ; तुम्हारी वीरता की परीक्षा लेने ! सावधान !

(शकराज भी कटार निकाल कर युद्ध के लिए अग्रसर होता है। युद्ध और शकराज की मृत्यु। बाहर दुर्ग में कोलाहल। 'ध्रुवस्वामिनी की जय' का हल्ला मचाते हुए रक्ताक्त कलेवर सामन्त कुमारों का प्रवेश। ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त को घेर कर समवेत स्वर से ध्रुवस्वामिनी की जय हो।)

पटाक्षेप

—

ध्रुवस्वामिनी

'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद का सफल नाटक है। नाटक का अर्थ है अभिनय और पाठ्य सामग्री का उचित योग। रंगमंच और रसानंद का मणिकाचन-संयोग। यद्यपि रंगमंच वाले प्रायः बड़े नाटककारों पर अविश्वास का प्रस्ताव पास करते रहते हैं तथापि नाटक का इतिहास कहता है कि बड़े और अमर कलाकार कभी लकीर के फकीर नहीं होते, वे रंगमंच से कामचलाऊ सुलह करके ऐसा नाट्य साहित्य रचते हैं जिसके आध्यात्मिक रहस्य, मानवीय अनुभव और रूप-सौन्दर्य युग-युग और देश-देश में गूँजा करते हैं। भारत के रस-वादियों ने भी यही माना है कि रस हीं नाटक का प्राण है। बिना रस का अभिनय केवल मनोरंजन है। पश्चिमी आलोचक चेकव ने भी यही कहा है कि जिन कर्त्ताओं को हम अमर कहते है, जिनकी कलाकृतियाँ हमें मस्त कर देती हैं, उन सबमें एक सामान्य और बहुत बड़ा गुण मिलता है। वे किसी दूसरे लोक में पहुँच कर, आपको भी उसका अलौकिक अनुभव

कराते हैं। प्रसाद ऐसे ही पहुँचे हुए कर्ता है। उस लोक में पहुँचना-पहुँचाना तो उनका सदा का अभ्यास है। अपने सभी नाटकों में उन्होंने रस का ध्यान रखा है, रंग का नहीं। पर, 'राग रसोइयाँ पागरी बनत बनत बनि जाय।' कभी-कभी ऐसे नाटक भी बन जाते है जिनमें रस ही नही अभिनय भी पूर्ण मात्रा मे रहता है। ध्रुवस्वामिनी इस अद्‌भुत योग का सर्वोत्तम उदाहरण है।

अभिनय और अनुभूति के साथ ही नाट्य-साहित्य के तत्त्वो का भी विचार होता है। कथावस्तु, चरित्र, संवाद, भाषा, प्रयोजन आदि। ऐसा विचार करते समय यह ध्यान में रखना अच्छा होता है कि गद्य के दो बड़े रूप उपन्यास और नाटक एक से होते हैं। उनमें भेद केवल श्रव्य और दृश्य का होता है। जहाँ उपन्यास में पूरी कहानी श्रव्य होती है, नाटक में श्रव्य, दृश्य और सूच्य आदि का पँचमेल रहता है। जहाँ उपन्यास में वर्णन के लिए पूरी-पूरी छूट रहती है, नाटक मे मितव्यय की प्रशंसा होती है।

ध्रुवस्वामिनी में कोई प्रयोजन तो स्पष्ट नही है पर सच्ची ऐतिहासिक वस्तु में कवि ने ऐसी प्राणप्रतिष्ठा की है उसमें इस युग की समस्या और उसका उत्तर (हल) प्रतिबिम्बित है।

सफल नाटक के अनेक अंक आत्मपर्यवसित होते हैं। ध्रुवस्वामिनी का दूसरा अक ऐसा ही है। वही एक अक एकाकी नाटक के समान पूर्ण हो गया है। बिना थोड़ा इतिहास जाने अथवा तीव्र कल्पना से काम लिए ऐसा कलापूर्ण एकाकी समझ में नही आता।

अभिनन्दनपत्र

श्रीमान् आचार्य बाबू श्यामसुन्दर दास जी
भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय।

श्रीमन्,

आज इस विश्वविद्यालय के छात्रगण तथा हिन्दी-विभाग के अध्यापक श्रद्धा और सत्कार, स्नेह और सौमनस्य, संभ्रम और सम्मान के दो-चार कुसुम लेकर आपकी अर्चना करने के लिए आपके सम्मुख उपस्थित हैं। इस समय हमारे हृदय जिन भावों से आन्दोलित हो उठे हैं उन्हें व्यञ्जित करने में शब्द-शक्ति कुण्ठित-सी दिखाई देती है। ऐसी अवस्था मे आपके उन गुणो की चर्चा, जो समय-समय पर हमें पुलकित और प्रमोदित, उद्यत और उत्साहित करते रहे हैं, यदि हमसे पूर्ण रूप मे न हो सके तो कोई आश्चर्य नहीं।

हिन्दी भाषा और साहित्य के वर्तमान विकास की इस परितोषक

अवस्था के साथ आपकी तपस्या, आपकी साधना, आपकी विद्वत्ता, आपकी दक्षता और आपकी तत्परता का ऐसा अखण्ड सम्बन्ध स्थापित हो गया है कि इस युग की उत्कृष्ट साहित्य-रचना का इतिहास आपकी उद्यमशीलता का इतिहास है। आपने ग्रन्थों की ही नहीं ग्रन्थकारों की रचना की है। आपने धूल में लोटते और चक्की में पिसते यथार्थ रत्नों को राजमुकुट में स्थान दिलाया है। आपके उद्देश्य, आपकी योजना तथा आपके आदर्श सदा उत्कर्षोन्मुख ही होते हैं। हमसे चाहे आपका यथार्थ गुणानुवाद न बन पड़े, पर हमारे हृदय सर्वदा आपके प्रति कृतज्ञता के भाव से परिपूर्ण रहेंगे इसमें कोई सन्देह नहीं।

आप ऐसे पुरुषरत्न को इतने दिनों तक अपने बीच प्रधान आचार्य और कार्य-प्रवर्त्तक के रूप में देख-देख हम अपना कितना गौरव समझते आ रहे थे, कितने गर्व का अनुभव करते आ रहे थे। अतः इस विशेष कार्यक्षेत्र से आपके अलग होने पर जो दुःख हमें हो रहा है वह एक-दो दिन का नहीं, अपनी जो गौरव-हानि हम समझ रहे हैं वह कभी पूरी होनेवाली नहीं! आप हमें छोड़कर जा रहे हैं पर जो उज्ज्वल स्मृति छोड़े जा रहे हैं वह निरन्तर हमारा पथ-प्रदर्शन करती रहेगी, हममें शक्ति और साहस का संचार करती रहेगी। इस विश्व-विद्यालय के भीतर तथा अन्यत्र भी हिन्दी के मान और प्रतिष्ठा के लिए आपने जो कुछ किया है वह चिरस्मरणीय रहेगा।

इस अवसर पर रह-रहकर यह भी मन में उठता है कि आप हमसे अलग कहाँ हो रहे हैं। आपका हमारा सम्बन्ध इस विद्यालय तक ही परिमित नहीं है। वह कहीं अधिक विस्तृत और चिरस्थायी है।

अन्त में हम ईश्वर से यही प्रार्थना करते है कि आप शतायु होकर इसी प्रकार हिन्दी के अभ्युदय का प्रयत्न करते रहें और हम आपकी सौम्य मूर्ति को अपने मनोमन्दिर मे सदा प्रेमासन पर प्रतिष्ठित रखें।

अभिनन्दन पत्र

पत्र, प्रशंसापत्र, अभिनन्दन पत्र आदि की रचना सामयिक और कामचलाऊ मानी जाती है पर प्रस्तुत उदाहरण एक अपवाद है। भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से। हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग की यह वस्तु अनेक विद्यार्थियों और साधकों को कर्मपथ-प्रदर्शन करेगी। इतना ही नहीं, मार्मिक पाठकों को इन पक्तियों में मर्म की बाते भी मिलेंगी। स्तुति, प्रशंसा, आशंसा अथवा अभिनन्दन मे यदि किसी विशिष्ट और अभ्यस्त साधक की वाणी रहती है तो उसके एक-एक वाक्य और एक-एक शब्द मे विचार और भाव का समुद्र लहराता रहता है।

———

रामचरितमानस के सिद्धान्त, साधन और साध्य

रामचरितमानस के अनुसार सगुण राम और निर्गुण ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं। अवतीर्ण राम और परात्पर ब्रह्म राम दोनों एक है। इन दोनों की एकता केवल व्यावहारिक—कामचलाऊ नहीं, पारमार्थिक—सच्ची है। इनमें भेदबुद्धि रखनेवाले या ऐसा कहने-सुननेवाले के सम्बन्ध मे गोस्वामी जी के क्या उद्गार हैं देखिये—

कहहि सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाषंडी हरि पद विमुख जानहि झूठ न साच॥

अग्य अकोबिद अंध अभागी। काई विषम मुकुर मन लागी॥
लंपट कपटी कुटिल विसेषी। सपनेहुँ संत सभा नहि देखी॥
कहहिं ते बेद असंमत बानी। जिन्हके सूझ लाभु नहि हानी॥
मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहि किमि दीना॥
जिन्ह के अगुन न सगुन विवेका। जल्पहि कल्पित वचन अनेका॥
हरिमाया बस जगत भ्रमाहीं। तिन्हहि कहत कछु अघटित नाहीं॥
बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहि बोलहिं वचन विचारे॥
जिन्ह कृत महामोह मद पाना। तिन्हकर कहा करिअ नहि काना॥

रघुकुलमणि श्रीराम सहजप्रकाश सच्चिदानन्द प्रसिद्धपुरुष प्रकट परावरनाथ परेश पुराण व्यापक ब्रह्म हैं। जो सबका प्रकाशन अनादि मायाधीश है, उसमें और अवधपति राम में उसी प्रकार कोई भेद नहीं जिस प्रकार तरल जल और घनीभूत हिमोपल में कोई भेद नहीं।

परमानन्द भगवान् श्रीराम के इस जीवलोक में अवतीर्ण होने का प्रयोजन सुरञ्जन, सज्जन-सुखदान तो है ही; प्रधान कारण उपासकों और भक्तों का वह अनन्य प्रेम और वह अनपायिनी भक्ति है जो भगवान् को साक्षात् लोचनगोचर होने के लिए विवश कर देती है।

यदि गोस्वामी जी की साधना, अनुभूति, प्रतिभा, कला और विश्वतोमुखी विद्वत्ता अवतीर्ण राम के रूप, गुण, शील स्वभाव को इस प्रकार हमारी श्रद्धा, अनुराग, स्नेह, प्रेम, सौहार्द, आशंसा, ममता, स्पृहा, रुचि, उत्कण्ठा का पूर्ण पात्र न बना सकती तो उनका यह–'सीयराममय सब जग जानी'—अद्वैतवाद अथवा उनकी यह प्रत्यभिज्ञा कभी हमारे गले के नीचे न उतरती। धन्य हैं तुलसीदास! जिन्होने व्यक्ताव्यक्त की ऐसी अनूठी एकता का हमें अनुभवसाक्षिक ज्ञान कराया।

अवतीर्ण श्रीराम का परम्पराप्राप्त चरित भी सामान्य नहीं, गूढ़ है। पण्डित मुनि तो उससे विरति की शिक्षा लेते हैं; पर हरि विमुख धर्मरतिशून्य विमूढ़ जन उसे देख-सुन कर मोह में पड़ जाते हैं। इसी हेतु उसका यथावत् प्रतिबिम्ब पड़ने के लिए तुलसी ने पहले ही अपने मन के आईने को श्रीगुरुचरण-सरोज-रज से साफ कर लिया था।

श्रीराम की व्यापक परब्रह्मता के विचार से यह चरित गूढ़ होने पर भी परिच्छिन्न—नपा-तुला—है, किसी व्यक्ति-विशेष का-सा प्रतीत होता है। इसीलिए गोस्वामी जी तत्काल इसका समाधान करते हैं—

हरि अनंत हरि कथा अनंता। कहहि सुनहिं बहुबिधि सब संता॥
रामचन्द्र के चरित सुहाए। कलप कोटि लगि जाहिं न गाए॥

रामचरित की इसी अनन्तता और अगेयता से हहरकर तुलसी ने उसके मानस=हृदय=सार=रहस्य को ही ग्रहण किया। मानस सरोवर का रूपक तो है ही, मानस का अर्थ रहस्य भी समझना चाहिए। उमा ने हर्षित होकर शंकर से कहा था—

हरिचरितमानस तुम्ह गावा। सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा॥

यह रामचरित का मानस श्रवण, कीर्तन, मनन आदि का विषय है, अनुकरण का विषय नहीं। अतः रामचरितमानस भक्तिप्रधान ग्रन्थ है, चरित-प्रधान नहीं। यह दूसरी बात है जो हम कवि के कृतित्व की सजीवता से पुलकित होकर चरित के अंश-अंश को आँखों के सामने घटित होते देखते हैं। गोस्वामीजी ने राम से अधिक जो राम-नाम की महिमा गाई है, वह भी इसकी भक्तिप्रधानता, मानस-विषयता का ही पोषक है।

यों तो गोस्वामीजी की समन्वय-बुद्धि सभी दार्शनिक सिद्धान्तो में अविरोध देखती, सभी को यथास्थान महत्त्व देती और सभी पक्षों का समर्थन करती है; पर उनके प्रधान के अनुरोध तथा ग्रन्थ के उपक्रम और उपसंहार के विचार से द्वैतसिद्धान्त और भक्तिपक्ष ही में उसका पर्यवसान प्रतीत होता है। यद्यपि द्वैतवाद में माया का कोई स्थान नहीं है और गोस्वामीजी ने माया को चर्चा की है, अतः द्वैतवाद से स्पष्टतः इनकी विमति जान पड़ सकती है, तथापि थोड़ा विचार करने से इनकी स्वतन्त्र दार्शनिकता का पता चल जाता है। ये 'सीयराम' और 'सब जग' में भेद डालकर उपासक को भ्रान्त करनेवाली अविद्या को माया समझते हैं; अद्वैतवादियों के समान जीव-ब्रह्म अथवा आत्मानात्म की अभिमत एकता पर आवरण डालकर भेदबुद्धि उत्पन्न करनेवाली अविद्या को नहीं। इनके मत मे उपास्य और उपासक की पृथक् सत्ता तो रहेगी ही। देखिये, ये स्पष्टतः क्या कहते हैं—

मायासंभव भ्रम सब न व्यापिहहि तोहिं।
जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोंहि ॥
सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत।
मै सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥
सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि ॥
बारि मथे घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह **सिद्धांत** अपेल ॥

निज **सिद्धांत** सुनावउँ तोही। सुनि मन धरु सब तजि भजु मोही ॥
श्रुति **सिद्धांत** इहइ उरगारी। राम भजिअ सब काज बिसारी ॥

इतना ही नहीं, भेद का इन्होंने स्पष्ट उल्लेख भी किया है—

ताते उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ **भेद भगति** मन लायो ॥
सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं ॥

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान ॥
राकापति षोड़स उअहिं तारा गन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रवि राति न जाइ ॥

ऐसेहि बिनु हरि भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा ॥
हरिसेवकहिं न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि विद्या ॥
ताते नास न होइ दास कर। **भेद भगति** बढ़इ बिंहगवर ॥

इसके अतिरिक्त अद्वैतवादियों के परम अभिमत ज्ञानमार्ग की विशद विवेचना करते जब प्रसङ्गात् दोनों की तुलना की है तो भक्ति-मार्ग को स्वतंत्र और ज्ञान-विज्ञान को भक्ति के अधीन माना है—

जाते वेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई ॥
सो स्वतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना ॥

इस भेद-भक्ति के साधनों का निर्देश भगवान् रामचन्द्र ने श्रीमुख से किया है—

भगति के **साधन** कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज-निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल मन विषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहिं कँह जानइ दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक शरीरा। गद-गद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मै ताके॥

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहि निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा विश्राम॥

और भी मानस में प्रसङ्ग-प्रसङ्ग पर भक्ति की महिमा, स्वरूप, साधना, तारतम्य आदि का विस्तृत वर्णन है।

ज्ञानदीपक और **भक्तिमणि** की तुलना भी स्पष्टतः भक्ति की अभिमत प्रधानता और उपादेयता की ओर संकेत करती है।

भक्ति और ज्ञान के साध्य फलो में ग्रन्थकार ने भेद दिखलाया है। ज्ञान का फल मोक्ष कहा गया है—

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना। **ग्यान मोच्छप्रद** बेद बखाना॥

पर रामचरितमानस के कथन-श्रवण से उत्पन्न भक्ति का फल मन का विश्राम है। यथा—

रामचरितमानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ **विश्रामा**॥
(उपक्रम)

बिनु विश्वास भगति नहि बिनु द्रवहिं न रामु।
रामकृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह **विश्राम**॥
(अभ्यास)

जाकी कृपा लवलेस ते मतिमन्द तुलसीदास हूँ।
पायउ परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥
(उपसंहार)

मन का विश्राम साधारण वस्तु नहीं, बहुत बड़ी बात है। विनय-पत्रिका में बाबाजी बड़े मार्मिक ढंग से कहते हैं—

मन कबहूँ विश्राम न मान्यो।
निसि दिन भ्रमत बिसारि सरज सुख जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो॥
जदपि विषय सँग सह्यो दुसह दुख विषम जाल अरुजान्यो।
तदपि न मूढ़ तजत ममता बस जानत हूँ नहिं जान्यो॥
जन्म अनेक किए नानाविधि कर्म कीच चित सान्यो।
होइ न बिमल विवेक नीर बिनु बेद पुरान बखान्यो॥
निज हित नाथ पिता गुरु हरि सों हरषि हृदय नहिं आन्यो।
तुलसीदास कब तृषा जाइ सर खनतहिं जनम सिरान्यो॥

कदाचित् यह शंका किसी के मन में उठे कि भक्ति से तो मुक्ति मिलती नहीं, ज्ञान से मुक्ति मिलती है। अतः जन्म-मरण के दुःखों से दग्ध मुमुक्षु प्राणी के लिए सिवा ज्ञानमार्ग के और कहीं ठिकाना नहीं है, इसलिए गोस्वामीजी इसके लिए भी अवकाश नहीं छोड़ते। वे पहले ही कह चुके हैं कि सगुणोपासक मुक्ति की परवा नहीं करते, वे उसे चाहते नहीं। पर—

राम भगति सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥

और—

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोच्छसुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई॥
अस विचारि हरिभगत सयाने। मुक्ति निरादर भक्ति लुभाने॥

हिन्दी की गद्यशैली

जानकार कहते है कि कविता का एक नाम है कहना। सचमुच कहना ही कविता है चाहे वह पद्य में हो, गद्य में हो अथवा मिली-जुली गद्य-पद्य की चम्पू शैली में। इस कहने में सहभाव (शब्द और अर्थ का योग, नाम और रूप का साथ) रहता है, इससे इसे साहित्य कहते हैं और इसीसे निर्णयवादी आलोचकों ने कहा है कि साहित्य के सह-भाव को परखने के लिये कहने का ढंग देखना चाहिये। कहने की रीति, कहने के गुण-दोष, कहने के लक्षण-अलंकार आदि भाषा के ढंग की जाँच से ही कही बात का रंग मालूम होता है। इस बात में सभी सयाने एक मत है। इससे साहित्यलोचन मे शैली का बड़ा ऊँचा स्थान है और इसी से शैली की व्याख्या भी बड़ी ऊँची होती है। शैली का छोटा-सा सीधा अर्थ है भाषा की रीति-नीति। इस अर्थ में शैली साहित्य का एक तत्व है; पर शैली का जब बड़ा अर्थ लिया जाता है तब शैली में कर्त्ता की आत्मा दिखाई पड़ती है और शैली के भीतर अनुभूति को छोड़कर सभी कुछ आ जाता है। इसी अर्थ में कुछ लोग शैली को

काव्य की आत्मा और साहित्य का सद्भाव तक मान लेते हैं। क्योंकि अनुभूति तो हृदय की बात होती है। सामने आनेवाली तो वही पद-रचना है जिसे हम चाहें शैली कहें, भाषा कहें, रीति कहें, टेकनिक कहें अथवा काव्यपुरुष का शरीर। व्यवहार में काम इसीसे चलता है. इसी को लेकर साधक और भावक मिलने की कोशिश करते हैं। दो हृदयों को मिलानेवाली कला भी यही है। इसी के अभ्यास से साधना करनेवाले कवि और भावना करनेवाले आलोचक अपनी अपनी रचना करते हैं और इसी की जानकारी से पाठक रचना का सच्चा रस लेते हैं।

शैली की सत्ता और महत्ता सभी मानते हैं पर उसका संबंध स्थिर करने में कुछ विवाद हो जाता है। एक पक्ष कहता है कि साहित्य में अनुभूति प्रधान होती है अतः अनुभूति को परखना और उसके प्रभावों का वर्णन करना हमारा पहला काम है और शैली को देखना पीछे की बात है। दूसरा पक्ष कहता है, आत्मा तो भीतर छिपी रहती है, उसके देखने का ढोंग करके सामने की कला को क्यो ठुकराते हो। उस आत्मानुभूति का क्या ठिकाना, उसके तो उतने ही नाम-रूप हैं जितने अनुभव करनेवाले। इससे सोच-समझ कर बुद्धि से काम करो। साहित्य के शब्द और अर्थवाले शरीर की रचना और बनावट देखो, सौन्दर्य आँको और मूल्य-निर्धारण करो। इस प्रकार दो वाद खड़े हो जाते हैं—एक है रसवाद और दूसरा है रीतिवाद। नई भाषा में एक प्रभाववाद है और दूसरा निर्णयवाद। इन दोनों से भिन्न एक निष्पक्ष-वाद है जिसमें दोनों पक्ष एक हो जाते हैं। इसके अनुसार छोटे-बड़े का भेद नहीं होता। भाव और भाषा, सत्य और शैली, अनुभूति और कला, हृदय और बुद्धि—दोनों में बराबरी का नाता रहता है। जिसमें दोनों का उचित योग रहता है वही साहित्य सच्चा और सफल होता है। जिस प्रकार मानव जीवन में आत्मा और शरीर का संपर्क रहता है,

कोई छोटे-बड़े का भाव नहीं, उसी प्रकार साहित्य-रचना में रस और रीति का अभिन्न सम्बन्ध है, कोई चढ़ा उपरी का भाव नहीं।

शैली साहित्य का शरीर है। उसे समझने के लिये आत्मा को बिना भुलाये अंगी के सभी अंगों को देखना चाहिये। इस परिचय को और भी घनिष्ट करने के लिये यह भी देखना चाहिये कि साहित्य का यह व्यक्ति किस 'जाति' का है और उस जाति का नाम-रूप के भेदानुसार साहित्य संसार में क्या स्थान है। साहित्य संसार बहुत बड़ा है। यों तो सभी लिखी पढ़ी वस्तु साहित्य में आ जाती है, पर विचार के अनुसार साहित्य के तीन मुख्य भेद होते हैं। ज्ञान शक्ति और प्रयोग ज्ञान का साहित्य उपयोगी होता है, गणित, विज्ञान, इतिहास आदि इसी के भीतर आते है। शक्ति का साहित्य हृदय की शक्ति बढ़ाता है, इससे वह उपयोगी नहीं कहा जाता। आचार्य इसी 'शक्ति' को जीवन का सर्वस्व मानते हैं और शक्ति के साहित्य को सच्चा साहित्य। इससे साहित्य-मीमांसा में ज्ञान का साहित्य प्रवेश ही नहीं पाता, वहाँ केवल काव्य, नाटक आदि वे ही कृतियाँ आती है जिनमें ऐसी शक्ति हो कि वे अपने भाव और भाव-अभिव्यक्त करने के ढंग के कारण सभी नरनारियों को रुच सकें और जिनका प्रधान लक्ष्य हो अपनी अभिव्यंजना-शैली के द्वारा सौन्दर्य और आनन्द का अनुभव कराना। इस शुद्ध साहित्य के कुछ सगोतिया भी हैं जो साहित्य संसार में कार्य की दृष्टि से अच्छा स्थान पा जाते हैं। भेद करने के लिए हम उन्हें प्रयुक्त साहित्य का नाम दे देते हैं। रूप में तो कोई भेद होता नहीं। जिस साहित्य का निर्माण किसी प्रयोजन से होता है, जिसमें कोई आध्यात्मिक अथवा नैतिक उपदेश रहता है, जिसमे लोकसंग्रह और लोकमंगल का सिद्धान्त स्पष्ट रहता है, वह प्रयुक्त साहित्य कहलाता है, और जिसका निर्माण हृदय की अकारण प्रेरणा से होता है, किसी प्रयोजन विशेष से नहीं, जिसमे कोई स्पष्ट उपदेश, मत अथवा सिद्धांत

नहीं रहता, वह शुद्ध साहित्य कहलाता है। दोनों की रूपरचना एक सी होती है। दोनों को साहित्य की मीमांसा में स्थान मिलता है। दोनों से लोक-रुचि का रंजन होता है। दोनों में ही सद्भावना रहती है, ज्ञान का आलोक रहता है। दोनों में भेद है तो केवल एक—वह है सत्त्वोद्रेक, रस-प्रतीति या आनन्दानुभूति का। शुद्ध साहित्य अपने आप में पूर्ण होता है—उसमें जो आनन्द मिलता है वह प्रयुक्त साहित्य में कहाँ? इसी से आनंदवादी, रसवादी, कलावादी, और सौंदर्यवादी साहित्यालोचक प्रयुक्त साहित्य को सच्चा और ऊँचा साहित्य नहीं मानते। पर व्यवहार में प्रयुक्त साहित्य का बोलवाला रहता है। आदर्शवादी, यथार्थवादी, जीवनवादी अथवा प्रगतिशील आदि की उपाधियाँ उसे समय-समय पर उसकी सेवा के बदले मे मिला करती है। उसकी कीर्ति भी समाज में रहती ही है, कभी कभी उसका आदर इतना अधिक बढ़ जाता है कि बड़े बड़े संत, महात्मा, कवि, कर्त्ता, आचार्य और आलोचक उसी को सर्वोत्तम साहित्य मानने लगते है, वे कहने लगते हैं कि जिस साहित्य में हमारा जीवन नहीं, समाज और देश की प्रगति नहीं, आदर्श और यथार्थ का उपदेश नहीं, वह साहित्य नही है। इस प्रकार वाद विवाद बहुत दिनो से चला आ रहा है और मेल करानेवालों का मत भी हमें मालूम है कि व्यवहार में सरस नीतिवादी साहित्य का लोहा लेना चाहिए। और साहित्य के निराले लोक में कलावादी (अर्थात् शुद्ध) साहित्य का।

अर्थ की दृष्टि से इस प्रकार साहित्य की सामान्य सीमा मान लेने पर भाषारूप की दृष्टि से साहित्य के दो भेद किए जाते है १ पद्यसाहित्य और २ गद्यसाहित्य। जिस भाषा में गेयता है, तुकान्त अथवा अतुकान्त छन्दों की बाँध है, वह पद्य है और जो केवल पाठ्य है, गेय नहीं, वह गद्य है। कभी-कभी साहित्य की रचना गद्य पद्य दोनों के मिश्ररूप मे भी होती है तथापि उसे आधुनिक आलोचक गद्य की सीमा के भीतर

ही एक विशेष स्थान दे देते हैं। इन दो भेदों के भीतर अनेक रूप और प्रकार होते हैं।

पद्यसाहित्य के भीतर पाँच मुख्य रूप आते हैं–महाकाव्य, काव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, और मुक्तक। इसी प्रकार **गद्यसाहित्य** के भीतर भी मुख्य रूप पाँच ही होते हैं—कहानी, निबंध, गद्यकाव्य, उपन्यास और नाटक। कभी कभी चम्पू काव्य और आलोचना की भी गणना इन्हीं के साथ कर ली जाती है। हिन्दी साहित्य में इन सभी रूपों के उदाहरण मिलते हैं कामायनी, प्रियप्रवास, पंचवटी, पल्लव, आँसू, आदि पद्य के और रूप, जोग की झाँकी, साधना, गबन, ध्रुवस्वामिनी, यशोधरा और गोस्वामी तुलसीदास गद्य के ऐसे ही प्रसिद्ध उदाहरण हैं। इन्हें देख कर तो साहित्य रूपों के लक्षण गढ़े जा सकते हैं।

इस प्रकार साहित्य के मुख्य रूपों का परिचय हो जाने पर गद्यशैली का अध्ययन सहज हो जाता है।

यों तो शैली के साधारण अध्ययन में भाषा के समास और व्यास, भाव की धारा और तरंग, कथन की संवाद-प्रचुरता और वर्णन-प्रधानता, अभिव्यञ्जना-पद्धति की अंतर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्ति, प्रभाव की सौम्यता और उग्रता आदि सामान्य और गौण बातो का विचार होता है। सामान्य पाठकों को इन्हीं का ज्ञान आवश्यक होता है। इसी से आलोचना साहित्य में समास-शैली, व्यास-शैली, धारा-शैली, तरंग-शैली, वर्णनात्मक शैली, आत्माभिव्यञ्जक शैली, अभिव्यञ्जक शैली, प्रसन्न शैली, उग्र शैली आदि नाम प्रसिद्ध हो गए हैं। पर अध्ययन को विशेष गंभीर और तात्त्विक बनाने के लिए प्रत्येक साहित्य रूप में भाषा और व्यक्ति का तात्विक विचार करना पड़ता है। भाषा तत्त्वों का अध्ययन करने के लिए कोमला, परुषा आदि वृत्ति, वैदर्भी, प्राञ्चाली आदि रीति और अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि शक्तियों का विचार करना पर्याप्त

होता है। पर साहित्य के व्यक्ति का तात्त्विक विचार करने के लिए प्रत्येक रचना के तत्त्वों की अलग अलग आलोचना करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए कहानी का तात्त्विक विचार करते समय कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, संवाद, वर्णन, भाषा और शैली, तथा प्रयोजन—इन छः तत्त्वों की विवेचना करनी चाहिए। इसी प्रकार नाटक, उपन्यास, निबंध आदि सभी साहित्य रूपों के कुछ मुख्य तत्त्व होते हैं। उनका विचार करके ही उस रचना के गुणदोषों का निर्णय किया जाता है। और शैली की सच्ची परख तभी होती है जब हम किसी रूप के भीतरी तत्त्वों से पूर्ण परिचय पा लेते हैं। इसी से शैली का सच्चा अध्ययन और निर्णय-वादी आलोचना एक ही कोटि की चीज़ मानी जाती हैं। अतः हिन्दी गद्यशैली का अध्ययन करने के लिए हिन्दी के गद्यसाहित्य के सभी साहित्य रूपों से परिचय करना और उनके तत्त्वों की समीक्षा करना आवश्यक है। ऐसा अध्ययन करके ही विद्यार्थी गद्यशैली का सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकता है और अभ्यास से अच्छा गद्यलेखक बन सकता है।